उ० प्र० हिं० ग्र० अ० प्रकाशन-176

भारत का सांस्कृतिक इतिहास

लेखक
डॉ० राजेन्द्र पाण्डेय
पी-एच डी
प्राध्यापक, इतिहास विभाग,
केन सोसाइटीज नेहरू कॉलेज
हरदोई (उ० प्र०)

उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ

प्रस्तावना

शिक्षा आयोग (1964-66) की सस्तुतियो के आधार पर भारत सरकार ने 1968 मे शिक्षा सबधी अपनी राष्ट्रीय नीति घोषित की और 18 जनवरी 1968 को ससद् के दोनो सदनो द्वारा इस सबध मे एक सकल्प पारित किया गया। उस सकल्प के अनुपालन में भारत सरकार के शिक्षा एवं युवक सेवा मत्रालय ने भारतीय भाषाओ के माध्यम मे शिक्षण की व्यवस्था करने के लिए विश्वविद्यालयस्तरीय पाठ्य पुस्तको के निर्माण का एक व्यवस्थित कार्यक्रम निश्चित किया। उस कार्यक्रम के अतर्गत भारत सरकार की शत प्रतिशत सहायता से प्रत्येक राज्य मे एक ग्रथ अकादमी की स्थापना की गयी। इस राज्य मे भी विश्वविद्यालयस्तर की प्रामाणिक पाठ्य पुस्तके तैयार करने के लिए हिंदी ग्रथ अकादमी की स्थापना 7 जनवरी, 1970 को की गयी।

प्रामाणिक ग्रथ निर्माण की योजना के अतर्गत यह अकादमी विश्वविद्यालय-स्तरीय विदेशी भाषाओ की पाठ्य पुस्तको को हिंदी मे अनूदित करा रही है और अनेक विषयो मे मौलिक पुस्तको की भी रचना करा रही है। प्रकाशन ग्रथो में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जा रहा है।

उपर्युक्त योजना के अतर्गत वे पाडुलिपियाँ भी अकादमी द्वारा मुद्रित करायी जा रही है जो भारत सरकार की मानक ग्रथ योजना के अतर्गत इस राज्य मे स्थापित विभिन्न अभिकरणो द्वारा तैयार की गयी थी।

प्रस्तुत ग्रथ मे डॉ० राजेद्र पाडेय ने भारत का सास्कृतिक इतिहास संबधी आधुनिकतम खोजो से पाठको को अवगत कराने का प्रयास किया है। पुस्तक की पाण्डुलिपि का पुनरीक्षण प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० किरनकुमार थपल्याल, रीडर प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एव पुरातत्त्व विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ ने किया है। इस बहुमूल्य सहयोग के लिए हिंदी ग्रथ अकादमी इन महानुभावो के प्रति आभारी है।

मुझे आशा है कि यह पुस्तक विश्वविद्यालय के छात्रो के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी और इस विषय के विद्यार्थियो तथा शिक्षको द्वारा इसका स्वागत अखिल भारतीय स्तर पर किया जायगा। उच्चस्तरीय अध्ययन के लिए हिंदी मे मानक ग्रथो के अभाव की बात कही जाती रही है। आशा है कि इस योजना से इस अभाव की पूर्ति होगी और शिक्षा का माध्यम हिंदी मे परिवर्तित हो सकेगा।

हजारीप्रसाद द्विवेदी
अध्यक्ष,
शासी मंडल
उ० प्र० हिंदी ग्रंथ अकादमी

प्राक्कथन

संस्कृति सर्वोत्तम का प्रकाशन है । परंतु सर्वोत्तम मिट्टी, ईंट या पाषाण-खड के रूप मे रहकर परिमार्जित, परिष्कृत एव सस्कृत होता है, तभी वह मूर्ति शिल्प के रूप मे परिवर्तित होता है । सस्कृति सरिता का प्रवाह-मार्ग है, जो समय पर बदलता रहता है । इसीलिए सस्कृति को सामाजिक व्यवस्था के साथ मिला कर देखा जाता है । सस्कृति की स्रोतस्विनी अपने परपरित मार्ग को—सामाजिक सस्थाओ को (जो कालातर मे प्राणहीन हो जाती है) छोड कर बढती है और नये क्षेत्रो को अभिषिक्त करती है, उसके प्रश्रय से नयी सस्थाएँ विकसित और समृद्ध होती है । सस्कृति जीवन के उन समतोलो का नाम है, जो मनुष्य के अदर व्यवहार ज्ञान एव विवेक उत्पन्न करते है । सस्कृति मनुष्य के सामाजिक व्यवहारो को निश्चित करती है और मानवीय सस्थाओ को गति प्रदान करती है । सस्कृति साहित्य एवं भाषा को सवारती है और मानव जीवन के आदर्श एव सिद्धातो को प्रकाशमान करती है । सस्कृति समाज के भावनात्मक एव आदर्श विचारो मे निहित है । समतोलो को स्वीकार कर समाज सहस्त्रो वर्ष तक चलता है, तब सस्कृति महान् रूप धारण करती है । जीवन के सर्वतोन्मुखी विकास के हेतु एक अपरिहार्य साधन है, सस्कृति । इन्ही तथ्यो पर आधृत है "भारत का सास्कृतिक इतिहास" का प्रस्तुत प्रयास ।

प्रस्तुत पुस्तक कानपुर और आगरा विश्वविद्यालयो के बी० ए० पाठ्यक्रम के अनुसार लिखी गयी है । फलत विषय के आलोचनात्मक निरूपण एव सुबोध प्रस्तुति पर विशेष बल दिया गया है । उच्चस्तरीय अध्ययन के साथ-साथ मानकीय महत्त्व देने की दृष्टि से लेखक ने यथासभव मूल स्रोतो का सहारा लिया है । साथ ही छात्र-हित और उपयोगिता के विचार बिदुओ ने गौण साधनो, सहायक ग्रथों की सामग्री के उपयोग का लोभ सवरण नही होने दिया है । नितात मौलिकता के अभाव मे विद्वानों के साधुवाद से वचित रह कर कोरे अनुकरण के परीवाद म सर्वथा दूर रहने की स्थिति मेरी निरतर बनी रहे, इस दृष्टि से मै सावधान रहा हूँ । विस्तरणापेक्ष्य प्रसगो मे मौन रहते, अभीष्ट विस्तार मे मुखर होने से बचते हुए, स्नातकीय छात्रो के लिए अभीप्सित सामग्री जुटाने का प्रयत्न सरल सुगम शैली में मैंने किया है । पादटिप्पणियों मे मूलस्रोत इसलिए निर्दिष्ट है कि मेधावी एव जागरूक छात्र उनका उपयोग कर सकें और उनके हेतु ज्ञान के नव-नव क्षितिज खुलते रहे तथा उन्हे सम्यक् दिशा बोध होता रहे ।

यहाँ उल्लेखनीय यह है कि विश्वविद्यालयीय पाठ्यक्रमों को केंद्रित रखने के कारण उनमे अतमुक्त विषय को पृथक्-पृथक् अध्यायों मे विभक्त किया गया है। ऐसा करने से कही-कही विषय प्रतिपादन मे पिष्टपेषण स्वाभाविक है। पाठ्यक्रम की आवश्यकता की पूर्ति सुचारु रूप मे हो सके, इस विचार से "सूफीवाद" के संबंध मे किचिन् विस्तार से लिखा गया है। इतने पर भी कुछ ऐसे विषयो को जो मूल पुस्तक मे सविस्तर समाविष्ट होने से रह गये थे और जिनपर परीक्षाओ मे प्रश्न पूछे जाते रहे है, परिशिष्ट मे स्थान दिया गया है।

ग्रथ को सब प्रकार मे छात्रोपयोगी और उपादेय बनाने का भरसक प्रयत्न लेखक ने किया है परतु विषय की विशदता, पुस्तक के सीमित आकार तथा स्नातकीय कक्षाओ के छात्रो को ध्यान मे रखने के कारण कुछ अभाव सभव है। इस पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने के लिए विद्वानो के जो सुझाव होगे उनके आधार पर मैं आगामी सस्करण मे सशोधन करने का प्रयत्न करूँगा।

लेखक डॉ० किरण कुमार थपल्याल, रीडर, प्राचीन भारतीय इतिहास तथा पुरातत्त्व विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ का ऋणी है, जिन्होने पुस्तक के पुनरीक्षक के रूप मे लेखक को अनेक सुझाव दिये है। सल्तनत और मुगल-कालीन सस्कृति मे सबद्ध अध्यायो के हेतु जो उपक्षिप्तियाँ डॉ० सुधीद्र नाथ कानूनगो, रीडर, इतिहास विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ ने दी है उनके लिए लेखक हृदय से आभारी है। ग्रथ की पाडुलिपि का प्रस्तुत रूप तैयार करने मे जिन आत्मीयो ने आवृत्ति और व्यवस्था प्रभृत्ति मे अपने ढंग से सहायता की है, वे है डॉ० शिवबालक शुक्ल, रीडर हिंदी विभाग, श्री मोहम्मद अख्तर खान, प्राध्यापक राजनीति शास्त्र विभाग, केन-सोसायटीज़ नेहरू कालेज, हरदोई, डॉ० विनोदिनी पाडेय, प्राध्यापक, हिंदी विभाग, आर्य कन्या महाविद्यालय, हरदोई और श्री रवीन्द्र वाजपेयी, प्राध्यापक, अग्रेजी विभाग, डी० बी० एस० कालेज, कानपुर।

अत मे लेखक पुस्तक के प्रकाशक तथा साहित्य एव सस्कृति के मूर्धन्य उन्नायक डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी अध्यक्ष, शासी मडल, उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रथ अकादमी, लखनऊ तथा प० ब्रह्मदत्त दीक्षित, निदेशक, हिंदी ग्रथ अकादमी, लखनऊ के प्रति हृदय से कृतज्ञ है, जिन्होने विषय की उपयोगिता को ध्यान में रख कर ग्रथ को शीघ्र प्रकाशित करने का निर्णय लिया।

मकर सक्राति, 1976 ई० **डॉ० राजेन्द्र पांडेय**

हरदोई

विषयक्रम

परिशिष्ट

अध्याय-एक

संस्कृति

सस्कृति का अर्थ

सस्कृति शब्द 'सम्' उपसर्ग-पूर्वक 'कृ' धातु से निष्पन्न होता है। यह परिष्कृत अथवा परिमार्जित करने के भाव का सूचक है। इसी प्रकार सस्कृत (शुद्ध किया हुआ) अथवा सस्कार (शुद्ध करनेवाले कृत्य) शब्द भी निष्पन्न हुए है। संस्कृत शब्द के समान 'सस्कृति' शब्द मे भी परिमार्जन अथवा परिष्कार के अतिरिक्त शिष्टता एव सौजन्य आदि अर्थों का भी अन्तर्भाव हो जाता है।

अग्रेजी मे 'सस्कृति' शब्द का समानार्थक शब्द है 'कल्चर'।[1] 'सस्कृति' अथवा 'कल्चर' शब्द मनुष्य की सहज प्रवृत्तियो नैसर्गिक शक्तियो तथा उसके परिष्कार के द्योतक है। जीवन का चरमोत्कर्ष प्राप्त करना इस विकास का लक्ष्य है। सस्कृति के प्रभाव से ही व्यक्ति विशेष या समाज ऐसे कार्यों मे प्रवृत्त होता है जिनमे सामाजिक, साहित्यिक, कलात्मक, राजनीतिक तथा वैज्ञानिक क्षेत्रो मे उन्नति होती है।

सस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान तथा भावी जीवन का अपने मे पूर्ण विकसित रूप है। विचार और कर्म के क्षेत्रो मे जो राष्ट्र का सर्जन है वही उसकी सस्कृति है। सस्कृति मानव-जीवन की प्रेरणादायिनी शक्ति है। वह राष्ट्र की प्राण-वायु है, जो उसके चैतन्य भाव की साक्ष्य देती है। प्रत्येक राष्ट्र की दीर्घकालिक ऐतिहासिक गतिविधि का लोक-हितकारी तत्त्व उसकी सस्कृति है। सस्कृति राष्ट्रीय जीवन की आवश्यकता है। वह मानवीय जीवन को अध्यात्म की प्रेरणा प्रदान करती है। वास्तव मे सस्कृति वह है जो सूक्ष्म एव स्थूल, मन एव कर्म, आध्यात्म जीवन एव प्रत्यक्ष जीवन का कल्याण करती है।[2]

सस्कृति का अर्थ है सत्य, शिव, सुन्दरम के लिए अपने मस्तिष्क और हृदय मे आकर्षण उत्पन्न करना तथा अभिव्यजना द्वारा उनकी प्रशसा करना।

---

1 व्युत्पत्ति की दृष्टि से कल्चर और कल्टिवेशन शब्दो में साम्य है। कल्टिवेशन का अर्थ कृषि है। कृषि का उद्देश्य है भूमि की प्राकृतिक अवस्था को परिष्कृत करना। भूमि की ही भाति मनुष्य की मानसिक एवं सामाजिक अवस्थाए भी विकसित हुआ करती है।

2 वासुदेव शरण अग्रवाल कृत कला और संस्कृति, भूमिका।

प्रत्येक व्यक्ति कभी न कभी इसकी तरफ आकर्षित होता ही है किंतु उस आकर्षण के कारण जो आध्यात्मिक अनुभूतियाँ उत्पन्न होती है उनको रूप देना बहुत कम लोग जानते है । जैसे हिमालय पर्वत के शिखर पर जब सूर्य की किरणें पडती हैं तो उस सुदर दृश्य को वाह्य आखो से सभी देखकर आनंदित हो सकते हैं किंतु उस आनद को नृत्य, गीत, चित्र या साहित्य के रूप मे प्रकाशित करने की शक्ति कितने लोगो मे है। और ऊपर आँख करके उस स्वर्णिम चोटी की ओर देखते ही कितने लोग है । स्वार्थ के दबाव में मानव-दृष्टि सदैव जमीन की ओर ही लगी रहती है । वह भूल जाता है कि आकाश मे तारे चमकते है, बाग में फूल खिलते है, समाधि मे प्रभु का स्पर्श मिलता है । वास्तव मे कमल के समान कीचड से उठकर सूरज की दिशा मे मुह करना सबके लिए सभव नही है । सभ्यता का विशेष चित्रण आसान होता है परन्तु सस्कृति विशेष का वास्तविक बोध तथा विवेचन केवल सुहृद प्रयास, निष्पक्ष अनुसंधान तथा सूक्ष्म चिंतन द्वारा ही सभव है ।[1]

सस्कृति की व्याप्ति

सस्कृति व्यक्तिनिष्ठ न होकर अनेक व्यक्तियो द्वारा किया गया एक बौद्धिक प्रयास है । सस्कृति की तुलना आस्ट्रेलिया के निकट समुद्र मे पायी जानेवाली मूगे की चट्टानो से की जा सकती है । मगे के छोटे-छोटे कीडे अपने घर बनाते-बनाते समाप्त हो जाते है । हजारो वर्ष तक अनेक पीढिया निरतर यह क्रम जारी रखती है, और वे सब मगे के नन्हे-नन्हे घर परस्पर जुडते हुए विशाल चट्टानो का रूप धारण कर लेते है । इसी प्रकार सस्कृति का भी धीरे-धीरे लबी अवधि मे निर्माण होता है । मानव विभिन्न स्थानो पर रहते हुए, विशेष प्रकार के सामाजिक वातावरण, सस्थाओ, प्रथाओ, व्यवस्थाओ, धर्म, दर्शन, लिपि, भाषा तथा कलाओं का विकास करके अपनी विशिष्ट सस्कृति का निर्माण करते हैं ।[2]

सस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन की सर्वांगपूर्ण अवस्था है । हमारे जीवन का ढग हमारी संस्कृति है । सस्कृति हवा मे नही रहती । जीवन के नानाविध रूपो का समुदाय ही सस्कृति है । मानव जीवन पीढी दर पीढी आगे बढता है । सस्कृति के रूपो का उत्तराधिकार भी हमारे साथ चलता है । धर्म, दर्शन, साहित्य, कला उसी के अग है । कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी के अनुसार, "हमारे रहन-सहन के पीछे जो हमारी मानसिक अवस्था होती

---

1 देखिये, **विश्व-वाणी** वर्ष 2 भाग 3, सख्या 31, पृष्ठ 54.

2. हरिदत्त वेदालकार, **भारतीय सस्कृति का संक्षिप्त इतिहास**, 2,4

है, जो मानसिक प्रकृति है जिसका उद्देश्य हमारे जीवन को परिष्कृत, शुद्ध और पवित्र बनाना है तथा अपने लक्ष्य की प्राप्ति करना है, वही संस्कृति है।" मैथ्यू आर्नल्ड के मत से "किसी समाज राष्ट्र की श्रेष्ठतम उपलब्धियाँ ही सस्कृति है।"

एक अन्य विद्वान के अनुसार "किसी समाज, जाति अथा राष्ट्र के समस्त व्यक्तियो के उदात्त संस्कारो के पुज का नाम उम समाज, जाति और राष्ट्र की सस्कृति है। किसी भी राष्ट्र के शारीरिक, मानसिक व आत्मिक शक्तियों का विकास संस्कृति का मुख्य उद्देश्य है।"[1]

"सस्कृति म तात्पर्य है सामाजिक मानस और चेतना, जिसमे विचारो, प्रयोजनो एवं भावनाओ की सगठित समष्टि हुई हा। सस्कृति समाज का व्यक्तित्व है। विचार, भावना, आचरण तथा कार्यकलापो के विभिन्न प्रस्तरो से सस्कृति की सिद्धि होती है। आध्यात्मिक आदर्शों एव परपराओ के रूप मे भी सस्कृति की अभिव्यक्ति होती है। कला, साहित्य एव विभिन्न सस्थाए सस्कृति के कार्य है, जो सस्कृति को परिच्छिन्न तथा मूर्त रूप देते है। कोई भी सस्कृति तभी तक जीवित रह सकती है जब तक वह स्वतत्रता पूवक सर्जनात्मक वृत्ति मे निर्माण करती हुई अपनी निजी दिशा मे विकसित होती रहती है।"[2]

मस्कृति के उद्देश्य

प्रकृति ने मानव मे बीज रूप से तीन शक्तिया दी है जिनका मन, शरीर और आत्मा से सबध होता है। सस्कृति का मुख्य उद्देश्य शारीरिक, मानसिक व आत्मिक शक्तियो का विकास करना है। इन सबके विकास के आधिक्य के आधार पर ही सस्कृति की उच्चता निर्भर होती है। सस्कृति जीवन के उन समतोलो का नाम है जो मनुष्य के अदर व्यवहार, ज्ञान तथा विवेक उत्पन्न करते है। वह मानव के सामाजिक व्यवहारो को निश्चित करती है, उनकी सस्थाओ को चलाती है, उनके साहित्य तथा भाषा का निर्माण करती है, उनके जीवन के आदर्श तथा सिद्धातो को प्रकाश देती है। सस्कृति साध्य नही साधन है।

सभ्यता और सस्कृति

सभ्यता और सस्कृति का प्रयोग साधारणतया पर्यायवाची शब्दो के रूप में होता है। परतु दोनो मे अतर है,। सभ्यता का मूल संबंध 'सभा' से है। सभा मे बैठने की समझ रखनेवाला या उसमे बैठनेवाला सभ्य कहलाता है और सभ्य का उचित व्यवहार सभ्यता है परतु यह तो व्यक्ति के अकेले व्यवहार की बात हुई। सभ्यता का प्रयोग तो सामूहिक अर्थ में होता है। व्यक्ति

1 शिवदत्त ज्ञानी, **भारतीय सस्कृति, पृष्ठ** 17.

2 लूनिया कृत **प्राचीन भारतीय सस्कृति**

का समूह (सभा) के प्रति व्यवहार एवं आचरण सभ्यता की ओर संकेत करते हैं। अत: सभा सबधी संपूर्ण व्यापार, चाहे वह व्यक्ति का हो या समूह का हो, है वह वास्तव मे सामूहिक ही। मनुष्य समाज मे उत्पन्न होता है। उत्पन्न होने की स्थिति मे वह औरो पर निर्भर होता है। परमुखापेक्षी होने के कारण उसमें प्रत्युपकार की कुछ न कुछ भावना प्रारभ से कार्य करने लगती है। ये संपूर्ण भावनाए, आवश्यकताए और दल के भीतर जो कुछ भी निश्चित नियम बन जाते है, सब मिलकर उस स्थिति का निर्माण करते है जो सभा और सभा सबधी आचरण का पूर्व रूप है। इस प्रकार सभा मे सभ्य बनता है और सभ्य की उचित आचरणयुक्त मनोवृत्ति मे सभ्यता का निर्माण होता है। अकेले आदिम जीवन से गाव या समूह के सामूहिक जीवन की ओर बढना सभ्यता का विकास है। परतु क्या सस्कृति भी यही है ? सस्कृति सभ्यता से भिन्न है।

मानव अपनी आदिम अवस्था मे व्यक्तिगत एव सामूहिक दोनो रूपो मे सस्कारहीन रहा है, किंतु शनै-शनै अपने पर प्रतिबध लगाकर अनुचित को दबाकर, और उचित का विकास कर सुंदर बना है। व्यक्ति के रूप मे शरीर मन को शुद्ध कर एक ओर व्यक्तिगत विकास दूसरी ओर उसका समूह मे शिष्ट आचरण, सामाज के प्रति उचित आचरण उसे सस्कृत बनाता है। वैयक्तिक सस्कार मे मनुष्य अपनी सुघराई और अपनी शिष्टता मे विशिष्ट बनता है। सामूहिक सस्कार मे मनुष्य समाज-विरोधी आचरण का प्रतिकार करता है। सभ्यता की एक स्थिति में पहुच कर समाज के विकास-पथ पर आगे बढ जाने के पश्चात सामूहिक विरासत का व्यक्ति और उसका समाज धनी हो जाता है। समाज के उन कर्मठ सदस्यो के क्रियाकलाप, तप, त्याग, सेवा एव आविष्कार सब मिलकर एक शालीन एव गौरवपूर्ण अतीत तथा आदर्शों का निर्माण करते है। समान धर्म, विश्वास, विचार, कर्मकाड, आचरण, भाषा, साहित्य, दर्शन, भूमि, मैत्री इत्यादि सस्कृति को एकरूपता और स्वरूप प्रदान करते है। इसमे विश्वास करनेवालो, निवास करनेवालो और समान रूप से आचरण करनेवालो की सस्कृति समान कहलाती है। स्पष्ट है कि सस्कृति धीरे-धीरे विकसित होती हुई एक कृत्रिम एव अनिवार्य स्थिति है, जो निरतर विकास पथ पर अग्रसर होती हुई परिस्थितियो के प्रति स्वाभाविक या प्रकृत हो जाती है। तात्पर्य यह है कि जो प्रकृतसिद्ध नही है वरन् मानव-निर्मित है और जिसे मनुष्य अपनी कायिक, मानसिक आवश्यकताओ के लिए निर्मित अथवा विकसित करता है, वही संस्कृति है।

सभ्यता तथा सस्कृति को समझने के लिए हमे उस आदिम युग की ओर जाना होगा जब प्रकृति अपने अनेक क्रियाकलापो द्वारा मानव को नित्यप्रति

आश्चर्यचकित किया करती थी। अग्नि का आविष्कार एक अत्यत महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उसने जो-जो सफल प्रयास किये थे वे सब उसके महान् आविष्कार ही रहे होगे। जिस योग्यता, प्रवृत्ति अथवा प्रेरणा के बल पर वे आविष्कार हुए होगे वह उस व्यक्ति विशेष की सस्कृति हुई और उस सस्कृति द्वारा जो आविष्कार हुआ, जो चीज अपने तथा दूसरो के लिए आविष्कृत हुई उसका नाम है सभ्यता।

एक सस्कृत व्यक्ति वह है जो बुद्धि अथवा विवेक से किसी नयी वस्तु की खोज करता है किंतु उसकी सतान को वह वस्तु अपने पूर्वज से अनायास ही दाय रूप मे प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार वह सतान अपने पूर्वज की भाति या उसकी अपेक्षा सभ्य भले ही बन जाय किंतु मात्र इसी कारण वह सस्कृत नही कहला सकता। वास्तव मे पेट भरने या तन ढकने की इच्छा ही मानव की सस्कृति की जननी नही है। पेट भरा और तन ढका होने पर भी ऐसा मानव जो सस्कृत है, खाली नही बैठता। हमारी सभ्यता का बहुत सा अश हमे ऐसे सस्कृत व्यक्तियो से मिला है जिनके सम्मुख भौतिक कारण प्रमुख किंतु कुछ अश ऐसे मनीषियो से भी मिला है जिन्होने किसी भौतिक प्रेरणा से नही वरन् अपने अदर की सहज सस्कृति के कारण किसी तथ्य विशेष को प्राप्त किया है। जैसे सिद्धार्थ ने मानवता के सुख के लिए अपने घर का त्याग किया। इसी प्रकार ससार के मजबूरो को सुखी देखने के स्वप्नो को साकार करने के प्रयास में कार्ल मार्क्स ने अपना सारा जीवन दुःख मे बिता दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव की जो योग्यता उसकी आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु आविष्कार कराती है, वह भी सस्कृति है और जो योग्यता किसी महान आत्मा से सर्वस्व त्याग कराती है, वह भी सस्कृति है, और सभ्यता है सस्कृति का परिणाम।

सभ्यता और सस्कृति का अतर पारिभाषिक तथा निरुक्तिपरक है। आदिम बनैले जीवन से धीरे-धीरे हटकर समाज की ओर अग्रसर होने की स्थिति सभ्यता है। खोज और आविष्कार उसके विकास की सीढिया है। जंगल की दया और बर्बर आखेट के लिए भटकते मानव का ऊपर उठकर अपने आप पेड़ लगा कर फल उत्पन्न करना, खेती करके अन्न उत्पन्न करना, पशुपालन करके दूध आदि का उपयोग करना, आदि सभ्यता की सीढिया हैं। ये विकास की सीढिया ही पशुपालन, खेत, आग का आविष्कार तथा नमक की खोज आदि हैं जो बर्बर आदिम मानव जीवन से मानव को सामाजिक जीवन की ओर ले जाती है। मानव जितना ही सामाजिकता की ओर बढता है, उतना ही वह सभ्य कहलाता है।

सस्कृति उन सूक्ष्म तत्त्वो से संपर्क रखती है जो विचार, विश्वास, रुचि, कला एव आदर्श के रूप में हम देखते है और ये किसी न किसी मात्रा मे सभ्यता

के स्थूल उपकरणो के साथ ही निर्मित हुए है। जब आदि मानव अपने अवकाश के क्षणो मे पत्थर के हथियारो की मूठ पर रेखाएं तथा आकृतिया खीच कर उन्हे आकर्षक बनाता रहता था अथवा जब टोने-टोटके के लिए मानव अपनी गुफाओ की दीवालो पर रेखाचित्र खीचकर उनमें रग भरता था, वह कला के क्षेत्र मे प्रवेश करता था। उल्लास की स्थिति में आनद के अतिरेक मे जब वह अनजाने गा उठता था तब वह सगीत के क्षेत्र मे प्रवेश करता था। हाथ से चाक चलाकर जब मिट्टी के बर्तन बनाकर, उन्हे रग कर उन पर विभिन्न आकृतिया बनाता था, तब वह सौदर्य एव रस को रूपायित करता था। जब वस्त्र बुनते हुए वह बीच-बीच मे रगो की धारिया डालकर उनमे अनेक डिजाइनें बनाता था तब वह सभ्यता से परे सस्कृति की रुचिर भूमि मे पदार्पण करता था। ये इकाइया साधारणतया सभ्यता की ही नही सस्कृति की है। अस्तु, सभ्यता तथा सस्कृति एक ही मानव विकास के दो पहलू है। सभ्यता उसकी स्थूल आविष्कारक दिशा की ओर संकेत करती है और सस्कृति उस विकास के सुचिंतित, सुंदर, शालीन एव सूक्ष्म तत्त्वो को ओर सकेत करती हैं। सभ्यता आदिम बनैली स्थिति से सामाजिक जीवन की ओर मनुष्य की प्रगति का नाम है, सस्कृति उसी प्रगति को सत्य, शिव, सुदर परपरा का नाम है। सस्कृति के इतिहास मे सभ्यता का भी समावेश होता है।

सभ्यता और सस्कृति दोनो मनुष्य की सामूहिक प्रेरणा के परिणाम है, दोनो मानव जाति की सम्मिलित विरासत है। परस्पर शत्रु जातिया भी एक दूसरे से कुछ न कुछ सीखती है। वे शत्रु जाति की खोजो अथवा आविष्कारो को इसलिए नही त्याग देती कि वे शत्रुओ की उपलब्धिया है, वरन् वही नयी खोज की नीव बन जाती है।

प्रत्येक जाति की अपनी रुचि होती है, समझ होती है और विश्वास होते है, जिनके अनरूप वह अपनी सस्कृति का रूप बनाती है जो दूसरी जाति तथा देशो की सस्कृति से भिन्न लगती है। परन्तु सस्कृतिया एकदूसरे से प्रभावित होती है। भारत की वर्णव्यवस्था, प्राचीन यूनानियो का शरीर गठन, प्राचीन रोमनो की न्यायव्यवस्था एव सैन्य-विनय आदि इन सस्कृतियो की अपनी विशेषताए थी।

सभ्यता मानव की भौतिक विचारधारा की सूचिका है तथा सस्कृति है आध्यात्मिक एव मानसिक क्षेत्र के विकास की बोधिका। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि "मनुष्य द्वारा भौतिक क्षेत्र मे की गयी उन्नति का नाम ही सभ्यता है।" सभ्यता समाज के रहन-सहन, वेश-भूषा, व्यवहार का ही पर्याय है। मैथ्यू आर्नल्ड ने सभ्यता के संबध मे लिखा है, "मनुष्य का समाज में मानवीकरण ही सभ्यता है।" इसी भाव को डॉ० जॉनसन ने दूसरे शब्दो मे

व्यक्त किया है, "सभ्यता बर्बरता के विरुद्ध जीवित रहने की दशा है।" मनुष्य भौतिक विकास कर अपनी शारीरिक स्थूल क्षुधा को तृप्त करता है किंतु उसकी आत्मा अतृप्त ही रहती है। मनुष्य केवल भौतिक परिस्थितियो एव उनके विकास से ही सदैव संतुष्ट नही रह सकता, शरीर के साथ मन और आत्मा भी है। भौतिक विकास से शारीरिक क्षुधा तो शात हो सकती है किंतु मन तथा आत्मा अतृप्त ही रहेगे। वह अपने जीवन को अधिक सरस तथा सौदर्यमय बनाने का प्रयास करता है। इसके लिए वह सगीत, साहित्य तथा कला का अनुसरण करता है। मन तथा आत्मा के सतोष के लिए किया गया मानसिक तथा आत्मिक विकास ही सस्कृति है।

डॉ० बैजनाथ पुरी ने सभ्यता तथा सस्कृति के अतर को इस तरह व्यक्त किया है —

"संस्कृति आभ्यतर है, सभ्यता केवल वाह्य है। सस्कृति के अपनाने मे देर लगती है, पर सभ्यता का अनुकरण सरलता से किया जा सकता है। संस्कृति का सबध धार्मिक विश्वास से भी है। सभ्यता सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियो से बधी हुई है।" एक अन्य विद्वान् के अनुसार, "सभ्यता मनुष्य के मनोविकारो की द्योतक है, सस्कृति आत्मा के अभ्युत्थान की प्रदर्शिका है। सभ्यता मनुष्य को प्रगतिवाद की ओर ले जाने का सकेत करती है, सस्कृति उसकी आतरिक तथा मानसिक कठिनाइयो पर काबू पाने मे सहायक सिद्ध होती है।"

मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र मे जो सर्जन करता है उसे सस्कृति कहते है। मनुष्य ने धर्म का जो विकास किया, दर्शनशास्त्र के रूप मे जो चिंतन किया, साहित्य, सगीत तथा कला की जा सृष्टि की, सामूहिक जीवन को हितकर तथा सुखी बनाने के लिए जिन पदार्थों तथा सस्थाओ का विकास किया—उन सबका समावेश 'सस्कृति' मे होता है।

मनुष्य उन वस्तुओ से सबध स्थापित करता है जो उसके लिए उपयोगी है। यह उसका सभ्य जीवन होगा। साथ ही सचेत तथा कल्पनाशील प्राणी होने के कारण वह अनुपयोगी किन्तु अर्थपूर्ण वास्तविकताओ से भी अपना सबध स्थापित करता है यह उसका सास्कृतिक जीवन है। यह अपनी चेतना तथा दृष्टि से समस्त ब्रह्माण्ड को समझ लेना और उससे सबध स्थापित कर लेना चाहता है। उसमे बौद्धिक जिज्ञासा तथा सौदर्य की भूख रहती है। इन्ही कारणो से वह सास्कृतिक जीवन का निर्माण करता है। अनेक कार्य ऐसे होते है जिनमे उपयोगिता नही होती वरन् जिनका परिणाम ही उपयोगी होता है, जैसे दार्शनिक चिंतन, कविता लिखने की क्रिया आदि। ये सब सास्कृतिक क्रियाए है। इस

प्रकार संस्कृति का जन्म तब हुआ जब मानव ने अपनी मौलिक आवश्यकताओ से मुक्ति पायी। जब वह अपनी मूल आवश्यकताओ को पूरा कर सकने मे समर्थ हो सका तब उसने सुसंस्कृत सभ्य समाज की स्थापना की। सभ्यता का निर्माण करके ही मानव सास्कृतिक विकास के पथ पर अग्रसर होता है।

परंतु सभ्यता का निर्माण तथा सास्कृतिक-जीवन के लक्ष्य को एकदूसरे से अलग नही किया जा सकता। मनुष्य प्राय उपयोगी तथा निरुपयोगी क्रिया-कलाप साथ-साथ करता चलता है। उसकी उपयोगिता से सबध रखनेवाली तथा निरुपयोगी रुचियाँ एकदूसरे से मिली रहती है। जब वह खेतो मे काम करता है तो वह गीत भी गाता है। उपयोगी वस्तुओ को निर्माण करते हुए उसका प्रयास उन्हे सु दर बनाने की ओर भी रहता है। मनुष्य के उपयोगी क्रियाकलापो पर उसके नैतिक तथा दार्शनिक विचारो तथा निष्ठाओ का प्रभाव भी पडता है। वास्तविक जीवन मे मनुष्य के उपयोगी और सास्कृतिक क्रिया-कलाप परस्पर मिश्रित हो जाते है।

सभ्यता का सबध उपयोगिता के क्षेत्र से है और सस्कृति का मूल्यो के क्षेत्र से है। मानव अस्तित्व की रक्षा तथा प्रसार करनेवाले क्रिया-कलापो से सभ्यता तथा सस्कृति संबंधित है। मैकाइवर के अनुसार, "सभ्यता तथा सस्कृति मे वह सबध है जो साध्य और साधनो मे होता है। जिस प्रकार से साध्य व साधन को एकदूसरे से अलग नही किया जा सकता उसी प्रकार सभ्यता व सस्कृति को भी अलग करना कठिन है। सभ्यता और सस्कृति मनुष्य के सर्जन करनेवाले क्रियाकलापो के परिणाम है। जब ये उपयोगी लक्ष्य की ओर बढते है तब सभ्यता का जन्म होता है और जब मूल भावना, चेतना तथा कल्पना को प्रबुद्ध करते है तब सस्कृति का उदय होता है। परतु वैज्ञानिक, सामाजिक तथा राज-नैतिक चिंतन के क्षेत्र मे उपयोगिता मूलभावना, चेतना और कल्पना के पहलू परस्पर एकदूसरे से मिल जाते है जैसे कोई वैज्ञानिक अपने प्रयोगो मे यदि सत्य की खोज करता है तो उसका कार्य सास्कृतिक है और जब वह प्रकृति की शक्तियो को मानव उपयोगिता के लिए नियत्रित करता है तो वह सभ्यता का निर्माण करता है। इसी प्रकार विभिन्न राजनीतिक एव सामाजिक विचारको तथा विद्वानो ने आदर्श समाज की रूपरेखा बनाते समय मनुष्य की उपयोगिता का ध्यान रक्खा है। साथ ही यह भी बताया है कि मानव अपनी आत्मिक इच्छाए कैसे पूरा करे। इस प्रकार व्यावहारिक उपयोगिता तथा सु दरता दोनो का सु दर समावेश किया है।"

अत. सभ्यता व सस्कृति दोनो ही एकदूसरे से इस प्रकार मिले हुए है कि उन्हे अलग करना कठिन है। सास्कृतिक क्रिया-कलापो से सभ्यता विकसित

होती है और सस्कृति के अभाव मे सभ्यता का कोई अस्तित्व बना नही रह पाता। मानव समाज की समस्त आत्मिक तथा भौतिक उपलब्धिया सभ्यता तथा सस्कृति के अतर्गत आ जाती है।

सस्कृति का विकास

प्रमुख रूप से सस्कृति की दो अवस्थाए मानी गयी है—(1) प्रारभिक (2) विकसित। प्रारभिक अवस्था को बर्बर तथा असभ्य अवस्था भी कहा गया है। जिस अवस्था मे विकसित सस्कृति के सामान्य लक्षण दृष्टिगोचर नही होते उसे प्रारभिक अवस्था कहते है। इस अवस्था में आखेट, पशुपालन, कृषि, पुरोहिती आदि कार्य तो होते है किंतु प्रशासन-व्यवस्था, ग्रथो की भाषा, गणित, ज्योतिष तथा अन्य विज्ञान, व्यापार, वाणिज्य, उद्योग, व्यवसाय और उनकी विविध गतिविधिया आदि विकसित नही होती। काम करने के विविध उपकरणो, औजारो, हथियारो तथा दैनिक जीवन की वस्तुओ के आधार पर भी संस्कृति की विकसित तथा प्रारभिक अवस्था का अनुमान किया जा सकता है।

प्रत्येक सस्कृति का विकास एक भौगोलिक तथा वाशिक वातावरण मे होता है। इसलिए प्रत्येक सस्कृति का स्वरूप भिन्न दृष्टिगोचर होता है। वास्तव मे उनको अपनाने तथा ग्रहण करनेवाले विभिन्न मानव-वशो के समूहो की विशिष्ट मौलिक शक्ति ही सस्कृतियो के विभिन्न स्वरूपो के निर्माण का मूल कारण है। इतिहासकारो का मत है कि एक सस्कृतिवाले मानवो का समूह पूर्णरूप से दूसरी सस्कृति को कभी अपना ही नही पाता। प्रत्येक मानव समूह अपने से भिन्न सस्कृति का अनुकरण केवल बाहरी रूप मे ही कर पाता है। वह अन्य सस्कृतियो के आदर्शो, भावनाओ, प्रेरणाओ, विधिविधानो तथा संस्थाओ को अपनाते समय उनमे अपनी मौलिक बीजभूत प्रकृति तथा प्रवृत्ति के अनुरूप परिवर्तन कर लेता है।

सस्कृतियो का सघर्ष, मिलन तथा आदान-प्रदान होता रहता है। इन प्रक्रियाओ मे कभी-कभी सस्कृतिया एकदूसरे मे विलीन होती रहती है। उदाहरण के लिए प्राचीन काल मे सपर्क मे आने पर आर्यों की संस्कृति ने सैधव सभ्यता की लिंग-पूजा तथा शिव-पूजा अपनायी। मध्य युग मे अरबों की सस्कृति ने भारतीय सस्कृति के सपर्क मे आने पर भारत की चिकित्सा-प्रणाली तथा बीजगणित अपना लिये। इसी प्रकार इस्लाम के अनेक अनुयायियो ने भारत में हिंदू सस्कृति के कुछ तत्त्वों को अपना लिया। प्राचीन मध्ययुग तथा आधुनिक युग में सस्कृतियो को अपनानेवाले विशाल तथा प्रख्यात राष्ट्रो और मानव समूहो ने सस्कृति के अगो का आदान-प्रदान सरल तथा सहज भाव से किया है।

भारतीय सस्कृति के दार्शनिक सिद्धातो को यूनान की सस्कृति ने अपनाया। अरबो ने यूनानी सस्कृति के प्रमुख तत्वो को अपनाने के साथ-साथ उसमें वृद्धि भी की। कहने का तात्पर्य यह है कि आज के किसी भी विकसित देश की सस्कृति सैंकडों वर्षों से प्रचलित विभिन्न सस्कृतियो का ही परिणत स्वरूप है।

सक्षेप मे सस्कृति का विकास तीन प्रकार से होता है—

1 परिस्थितियो से निरतर सघर्ष करते रहने पर जब मानव उन पर विजय प्राप्त कर लेता है, तब वह अपनी जीवन प्रणालियो मे परिवर्तन करता है। इससे सस्कृति के विभिन्न अगो मे परिवर्तन होता है।

2. मानव समाज की अत शक्तियो के स्वाभाविक विकास से सस्कृति मे परिवर्तन तथा विकास होता रहता है।

3 जब विभिन्न सस्कृतियो का परस्पर सघर्ष, मिलन तथा आदान-प्रदान होता है तब भी सस्कृति मे विकास तथा परिवर्तन होता है।

भारतवर्ष की मौलिक एकता

किसी भी राष्ट्र की मूलभूत एकता मे एक भाषा, एक धर्म, एक निश्चित भौगोलिक सीमा, एक सस्कृति तथा एक आर्थिक प्रणाली प्रभृति का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।[1] देशप्रेम की भावना मे ही राष्ट्रीयभावो को सर्वाधिक प्रोत्साहन मिलता है। यह भावना ही देश मे परस्पर विरोधी विचारो के लोगो, विरोधी सप्रदायो, भिन्न-भिन्न रस्मरिवाजो के माननेवालो, विभिन्न धर्मावलबियो तथा भिन्न-भिन्न भाषाभाषियो को एक सूत्र मे पिरोती है।

भारतवर्ष एक विशाल देश है, जो उत्तर मे दक्षिण तक दो हजार मील लबा और पूर्व से पश्चिम तक उन्नीस सौ मील चौडा है। इतने बडे क्षेत्र मे विस्तृत यह देश आश्चर्यजनक विभिन्नताओ से परिपूर्ण है। एक ओर हिमालय पर्वत पर अनत हिमराशि के फलस्वरूप भयकर शीत है और दूसरी ओर कोकण और कारोमडल क्षेत्र मे असह्य गर्मी पडती है। यदि एक स्थान पर पृथ्वी इतनी निचली है कि समुद्र की सतह के बराबर है तो दूसरी ओर ऊचे विश्व के सर्वोच्च हिमश्रृग हैं। चेरापूजी (असम) में यदि प्रतिवर्ष 400 इच वर्षा होती है तो कुछ रेगिस्तानी इलाके मे पाच इच या उससे भी कम। जलवायु की विभिन्नता के कारण वनस्पति एव पशु-पक्षियो में भी असीमित विभिन्नता है। किंतु यह विभिन्नता यही समाप्त नही होती। देश की जनसंख्या समस्त मानव जनसख्या

१. इतिहास घुमक्कड जातियो के सभ्यता निर्माण का कोई प्रमाण प्रस्तुत नही करता।

की लगभग पचमाश है। समस्त योरोप (रूस को छोडकर) के क्षेत्रफल के बराबर इसका क्षेत्रफल है। यह विषमताओ का देश है। यदि एक ओर मानवविहीन शुष्क मरुस्थल है तो दूसरी ओर नदियो की उर्वर घाटी है। इस देश मे विविध जातिया निवास करती है, यथा द्रविड, आर्य, यूनानी, शक, सीथियन, हूण, मगोल, मुस्लिम, कोल-भील, सथाल आदि। धर्मो की भी विभिन्नता यहा उपलब्ध है, यथा हिंदू, बौद्ध, जैन, सिख, इस्लाम, ईसाई, पारसी आदि धर्मावलबी यहा विद्यमान है। देश मे विभिन्न भाषा और बोलिया बोलनेवाले लोग हैं। सामाजिक रूढियो और विधियो मे भी अतर है तथा प्रदेशो मे परस्पर सास्कृतिक विभिन्नता है। अस्तु भारतवर्ष विभिन्न धर्मो, जातियो, सप्रदायो तथा सस्कृतियो का सग्रहालय ह। इन बाह्य विषमताओ के साथ ही, भारतीय जीवन तथा इतिहास मे एक सुदृढ मौलिक एकता है जिसके आधार निम्नलिखित है—

1 भौगोलिक एकता

यद्यपि भारत देश मे अनेक प्रकार के भूखड, जलवायु, जीवजन्तु एव वनस्पतिया हैं तथापि प्रकृति ने इसे एकीकृत देश बनाया है। इसके उत्तर मे दुर्गम हिमालय तथा दक्षिण मे समुद्र की जल-सीमा ने इसे घेर रखा है। प्रकृति ने इसे एक भौगोलिक इकाई बनाया है, जो देश के आतरिक विभाजनो को ढक देता है। अत कहा जा सकता है कि जो भौगोलिक अनेकरूपता हमे दिखाई देती है, उसमे एक ऐसी प्रच्छन्न मौलिक एकता है जिसने हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक भारतीय जीवन को एक सूत्र मे बाध रखा है। यह भौगोलिक एकता प्राकृतिक रूप मे ही नही रही वरन् भारतीयो की बुद्धि एव भावनाओ मे भी घर कर गयी है। महाकाव्यो मे और पौराणिक साहित्य मे सपूर्ण देश का नामकरण 'भारतवष' ही किया गया है। उसके निवासियो को 'भारतीय संतति' या 'भारत का उत्तराधिकारी' कहा गया है।[1]

ऋग्वेद जो मानव के प्राचीनतम ग्रथो मे से है, में ऋषियो ने अपनी मातृभूमि की एकता का आह्वान किया है। उक्त ग्रथ मे पजाब की नदियो की प्रशसा की गयी है, क्योकि उनके कारण देश मे व्यापार, सस्कृति एव समृद्धि फैली है।[2] पादटिप्पणी मे उद्धृत श्लोक को पढ कर वैदिक आर्यों द्वारा आवासित क्षेत्र एकता

---

1 उत्तर यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्ष तद् भारत नाम भारती यत्र सतति ।। **विष्णु पुराण** 2,3-1

2. इम मे गगे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोम सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ।।
ऋग्वेद ऋ० 10/75/5

का चित्र आखो के सम्मुख आ जाता है। अपनी मातृभूमि को सर्वदात्री समझकर उसका गौरव-गान और उसकी प्रार्थना आर्यों ने की। उस समय की भारत भूमि के उत्तर मे हिमाच्छादित पर्वत थे, सिधु और सुलेमान की पहाडिया पश्चिम मे थी, समुद्र दक्षिण मे था और गगा-यमुना की उपत्यका पूर्व मे थी। इस सीमा के अतर्गत केवल उत्तर भारत आता है, जिसे आर्यावर्त कहते है।[1] **अमरकोष**[2] के अनुसार आर्यावर्त हिमालय और विंध्याचल के मध्य भू-भाग था।

जैसे-जैसे आर्यों की जनसख्या मे वृद्धि हुई, वैसे वैसे आर्यावर्त की सीमाए बढती गयी। यहा तक कि उसमे दक्षिण भारत भी सम्मिलित हो गया। वैदिक साहित्य मे सप्त सिधु भावना का अधिक व्यापक रूप दिया गया है।[3] सहस्रो हिंदू समग्र देश मे नित्य प्रात अपने तर्पण मे इस प्रार्थना को दुहराते है। **पुराण** के एक अन्य श्लोक मे भारत के सात पर्वतो का उल्लेख हुआ है, जहा भक्त लोग जाकर तपस्या करते है।[4] इसके अतिरिक्त अन्यत्र सात मोक्षदायी तीर्थो का उल्लेख हुआ है।[5] इन सात तीर्थों के अतर्गत लगभग सपूर्ण देश आ जाता है। शकराचार्य ने अपने चार पीठो बदरी-केदार, द्वारका, पुरी तथा श्रृगेरी को देश के चार कोनो मे स्थापित किया। देश की इस समष्टि प्रतिमा को देवो द्वारा निर्मित कहा गया है[6] तथा जन्म-भूमि को स्वर्ग से भी ऊचा कहा गया है।[7]

भारत को एक देश के रूप मे देखने के लिए उसकी भौगोलिक स्थिति की जानकारी आवश्यक है और यह भी आवश्यकता है कि भौगोलिक एकता की भावना कब उत्पन्न हुई। यह भी पता चल जाता है कि वैदिककालीन भारत की भौगोलिक सीमा क्या थी। **ऋग्वेद** मे जिन भौगोलिक स्थानो का उल्लेख आया है, उसमे यह सिद्ध है कि **ऋग्वेद** मे लगभग पच्चीस नदियो के नाम आये

---

1 आसमुद्रात्तु वै पूर्व्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तर गिर्य्योरार्य्यावार्त विदुबुधा ॥

2 आर्यावर्त पुण्यभूमि मध्यं विंध्य-हिमालय ।

3. गगे च यमुने चैव गोदावरिसरस्वति ।
नर्म्मदे सिंधुकावेरि जलेऽस्मिन सिन्निधि कुरु ॥

4 महेंद्रो मलय सह्य शुक्तिमानृक्ष पर्व्वत ।
विन्ध्याश्च पारिपत्रश्च सप्तैते कुलपर्व्वता ॥

5. अयोध्या मथुरा माया काशी काची अवंतिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिका ॥

6 भारत देव-निर्मित देशम् ।

7 जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।

है । उनमें अधिकाश नदिया सिंधु नदी मे गिरती हैं । 'सप्तसैंधव' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है सात नदियो का देश, सभवत इनमे पाच नदिया पजाब की है और शेष दो सिंधु तथा काबुल नदिया है । बाद मे काबुल नदी के स्थान पर सरस्वती का नाम है । भौगोलिक दृष्टि से ऋग्वेदिक आर्यों द्वारा आवासित क्षेत्र के उत्तर मे पर्वत, सिंधु नदी तथा सुलेमान पर्वत श्रेणी, पश्चिम मे सिंधु नदी थी, पूर्व मे गगा, यमुना नदिया और दक्षिण मे समुद्र था । धीरे-धीरे आर्यों को दक्षिण भारत के क्षेत्रो की जानकारी हुई । मौर्यो के पूर्व नदराज के समसामयिक कात्यायन ने पाण्ड्य, चोल और माहिष्मती का उल्लेख किया है । पतजलि (ई०पू० 150) ने अपने **महाभाष्य** मे माहिष्मती, वैदर्भ, काचीपुर, केरल और मलाबार का उल्लेख किया है । यूनानी लेखो से पता चलता है कि सिकदर के समय मे अधिकाश भारतीयो को भारत की विशालता का आभास था । यूनानी लेखक स्ट्रेबो के अनुसार "सिकदर ने सपूर्ण भारत की भौगोलिक स्थिति का वर्णन लोगो से सुना था ।" स्ट्रेबो भी भारत के एक विशाल क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति से परिचित था । कौटिल्यकृत **अर्थशास्त्र** मे सपूर्ण भारत (दक्षिण भारत सहित) की आर्थिक वस्तुओ का उल्लेख मिलता है । उक्त ग्रथ मे देश के व्यापार मार्गों को दो प्रमुख भागो मे विभक्त किया गया है ।[1] इसके अतिरिक्त अशोक के लेखो एव स्मारको मे सुदूर दक्षिण के स्वाधीन राज्यो, चोल, पाण्ड्य, सतियपुत्र, केरलपुत्र, उसकी सीमा पर स्थित अर्द्ध-स्वतत्र आध्र तथा पुलिद का भी वर्णन उपलब्ध है । अनेक सीमात देशो का भी उल्लेख हुआ है, यथा यवन, कबोज, गाधार, राष्ट्रिक आदि । स्वय अशोक के पुत्र महेद्र ने सिंहल-यात्रा की थी ।

राजनीतिक एकता

कुछ विद्वानो का यह कथन है कि यह देश केवल अग्रेजी शासन के अतर्गत ही एक सूत्र मे बध सका, इसके पूर्व नही । यह कथन ऐतिहासिक दृष्टि से सही नही है । प्राचीन भारतवासी देश मे राजनैतिक एकता और केन्द्रीकरण के आदर्श एव सस्थाओ से भलीभाति परिचित थे । चक्रवर्ती सम्राट् के अभिषेक के लिए वाजपेय तथा राजसूय यज्ञो का विधान था । **ऐतरेयब्राह्मण** के अनुसार वाजपेय तथा राजसूय यज्ञ के अतिरिक्त सार्वभौम अधिराज[2] को प्रकट करने के लिए दो

1 "हैमवतो दक्षिणापथाच्छ्रेयान हस्त्यश्वगधदताजिनरुप्यसुवर्णयण्यास्मारवता" इत्याचार्या । नेति कौटिल्य -कम्बलाजिनाश्वपण्यवर्जा शखवज्रमणियुक्तास्मु वर्णपण्याश्वप्रभृतश. दक्षिणापथे । **अर्थशास्त्र** 7. 12

2 अह सर्वेषा राज्ञा श्रेष्ठ्यमतिष्ठा परमता गच्छये साम्राज्य भौज्य स्वाराज्य वैराज्य पारमेष्व राज्य महाराज्य आधिपत्यमह समन्त पर्य्यायीस्या सार्व्वभौम सार्व्वायुष आतादापरार्छात् पृथिव्यें समुद्रपय्यान्ताया एक राडिति ।

और विधान थे जो 'पुनर्भिषेक' तथा 'ऐन्द्र महाभिषेक' कहलाते थे । **ऐतरेय-ब्राह्मण** के अनुसार सबसे बडा सम्राट् आसमुद्रक्षितीश होता था जिसकी सीमाएं समुद्र तक फैली थी । **ऐतरेयब्राह्मण** मे ऐसे सम्राटो की सूची भी दी है, जिनमें प्रमुख है—जन्मेजय, परीक्षित, सातानिक सात्रजित, सुदास, भरत दौष्यन्ति और दुर्मुख पाचाल आदि । **शतपथब्राह्मण** मे ऐसे तेरह राजाओ के नाम दिये है जो राजा सार्व्वभौम थे । **शाखायन-सूत्र** में इस प्रकार के सात राजाओ के नाम है । विविध पुराणो मे अनेक सार्वभौम सम्राटो के नाम उल्लिखित है ।

कौटिल्यकृत **अर्थशास्त्र** मे सार्वभौम राजाओ का वर्णन आता है । इस प्रकार के सार्वभौम राजाओ को 'चातुरन्तो राजा' कहा जाता था । उनके राज्य की सीमाएँ देश के चारो कोनो को स्पर्श करती थी ।[1] देश मे उनकी सत्ता से मुकरनेवाला कोई न था । चारो ओर उनका सपूर्ण एकाधिकार था ।[2] उनके राज्य 'चक्रवर्ती क्षेत्र' होते थे । **अर्थशास्त्र** मे इस प्रकार के राजाओ की सूची मे युधिष्ठिर का नाम है । युधिष्ठिर ने इन्द्रप्रस्थ के दरबार मे भारत के कोने-कोने से राजाओ को निमत्रित किया था, जिससे वे सब आ कर युधिष्ठिर को अपना अधिराज स्वीकार करे और कर दे । **महाभारत** मे तात्कालिक भारत के राजाओ की सूची मिलती है । राजा युधिष्ठिर ने इन सब राजाओ को अपने प्रभाव मे लाने का प्रयास किया था ।

भारत का ऐतिहासिक सार्वभौम सम्राट् चद्रगुप्त मौर्य था जिसने भारत को राजनैतिक एकता की भावना प्रदान की । ऐतिहासिक दृष्टि से भारत का वही सबसे पहला सम्राट् था । उसके समय सपूर्ण देश एक मडल के समान था जिसके अधिपति को मडलाधिप कहा जाता था ।

चद्रगुप्त मौर्य के पौत्र अशोक का साम्राज्य असम से लेकर हिंदूकुश और पामीर से लेकर सुदूर दक्षिण तक विस्तृत था । अशोक का साम्राज्य इस देश के ऐतिहासिक काल मे सबसे बडा था । अशोक ने अनेक देशो के साथ अतर राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित किये । समुद्रगुप्त ने चौथी शताब्दी मे उत्तरी भारत और पूर्वी समुद्रतट से होकर दक्षिण भारत के कुछ क्षेत्र पर विजय प्राप्त की, इसके अतिरिक्त उत्तर मे आक्सस नदी तक और दक्षिण मे सिहल तक की शक्तियो पर उसका कुछ प्रभाव था । गुप्त वश के सिक्को मे हमे 'महाराजाधिराज', 'परमभट्टारक', 'राजाधिराज' उपाधिया मिलती है । हर्षवर्धन (606-648 ई०) के राज्य की सीमाए उत्तर मे नेपाल, दक्षिण मे नर्मदा, पश्चिम मे मालवा

1 "हिमवत समुद्रान्तर चक्रवर्तिक्षेत्रम "

2 "अनन्या पृथ्वी भुक्ते ।"

और गुजरात तक विस्तृत थी और कुछ अन्य राज्य भी उसका लोहा मानते थे।[1] मध्यकाल मे भारत की एक राजनैतिक केन्द्रीय सत्ता अलाउद्दीन और अकबर के समय में स्थापित हुई। अकबर के दरबार में विविध धर्मों एवं जातियो के लोग एकत्रित थे। लोगो ने यह अनुभव किया कि भारतवर्ष राजनैतिक दृष्टि से भी एक राष्ट्र है।

3 सास्कृतिक एकता

विभिन्न धर्मावलबियो व जातियो के होने पर भी भारत की सास्कृतिक एकता प्राचीन काल से रही है। भारतीय सस्कृति विविध सप्रदायो तथा जातियो के आचार-विचार, विश्वास और आध्यात्मिक साधना का समन्वय है। यह सस्कृति वैदिक, बौद्ध, जैन, हिंदू, मुस्लिम और आधुनिक सस्कृतियो के सम्मिश्रण से बनी है। भारत तथा बागलादेश का मुसलमान अपने विचारो, रीति-रिवाजो एव अभ्यासो की दृष्टि से टर्की तथा अरब देशो के मुसलमानो से भिन्न है और अपेक्षाकृत भारतीय हिंदुओ के निकट है। भारत के अनेक धार्मिक सप्रदाय वेदो एव आगम साहित्य को प्रमाण मानते है। कुछ मतभेद होत हुए लगभग सभी दार्शनिक एव नैतिकता सिद्धातो मे भी मूलभूत एकता है। धार्मिक उदारता, साप्रदायिक सहिष्णुता और दार्शनिक दृष्टि के विचार से भारतीय ऐक्य सदा प्रशस्य रहा है। विश्वविख्यात इतिहासकार प्रो० अर्नाल्ड टॉयनबी ने इसका अनुमोदन किया है।[2] एकेश्वरवाद, आत्मा का अमरत्व, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष, निर्वाण, भक्ति, योग, बोधिसत्व तथा तीर्थंकर आदि प्राय सभी धर्मो की

---

1 हर्षचरित (कलकत्ता सस्करण) पृ० 210-211, ज० रा० ए० सो० 1926 पृ० 489 तथा इडियन एण्टीक्वैरी, 1६ पृ० 420-21 तथा 19, पृ० 40।

2 If I am right a devout and zealous Shaiva and a devout aud zealous Vaishnava would each recognise that the other was seeking truth and salvation in his own way, each might perhaps claim that his own way was the better one at any rate for himself But he would not maintain that his own way was the only way that had any truth or virtue in it. He would not contend that his neighbours way was utterly false and vicious " One World and India. (Azad Memorial Lectures),. 1960, Page 95 Published by Indian Council for Cultural Relations

निधि हैं। धार्मिक सस्कार और कर्मकांड मे भी कुछ समानता है। यम, नियम, शील, तप और सदाचार पर सभी का आग्रह है। ऋषि, मुनि, यति, सत-महात्मा और महापुरुषो का सम्मान तथा अनुगमन बिना किसी क्षेत्रीय भेद-भाव के सर्वत्र होता है। धार्मिक कर्मकांड और सस्कार मे साम्य है। तीर्थ-स्थान पवित्र नदिया तथा पर्वत सपूर्ण भारत मे फैले है। ये भारत की सास्कृतिक एकता और अखडता के सबल प्रमाण है।

भारतीय साहित्य एव कला का उद्गम सभी प्रातो में एक ही है, यथा धार्मिक भावना, नैतिक भावना, रहस्यानुभूति एव प्रतीकात्मकता आदि। साहित्य एव कला के आधार कथावस्तु, नेता, चरित्रचित्रण, अलकार, रस आदि समान है। वैदिक साहित्य, महाकाव्य, पुराण एव बौद्ध साहित्य समग्र भारत मे समान रूप से प्रेरणा तथा सामग्री के स्रोत हैं। कला के स्मारक हमारे अदर देशीयता की भावना भरते है। बौद्धो ने विहार, चैत्य, मठादि स्थापित किये। ये स्थान कही गुफा काट कर बनाये गये और कही इमारतो के रूप मे बनाये गये। अजता, एलोरा, कार्ले, भाजा-कन्हेरी, विदिशा, उदयगिरि, बाघ आदि के चैत्य एव विहार तथा मानिक्याल, सारनाथ, साँची, भरहुत, अमरावती, मथुरा, गया, आदि स्थानो के विहार तथा स्तूप यह सिद्ध करते है कि किस प्रकार एक धर्म भावना देश को एक सूत्र मे बाधने मे सहायक हुआ। प्रातीय विशेषता होते हुए भी स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला, सगीत तथा रगमच आदि मे भारतीयता की एक ही परिपाटी और झलक है।

यद्यपि भारत मे अनेक जातियो—आर्य, द्रविड, शक, सीथियन, हूण, तुर्क, पठान, मगोल आदि का प्रवेश हुआ किंतु उनमे से अधिकाश हिंदू समाज मे इतनी घुलमिल गयी है कि उनका अपना अस्तित्व ही नही रहा। जो एक-दो अहिंदू जातिया है उनमे अधिकाश लोग हिंदुओ की ही सतान है तथा वे हिंदू वातावरण से पूर्णत अप्रभावित नही है। विभिन्न क्षेत्रो मे विवाह, खान-पान शिष्टाचार, मनोरजन, आमोद-प्रमोद, पर्व, उत्सव, मेले आदि मे भी देश मे बहुत कुछ समानता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीयता की नवीनतम विचारधारा के फलस्वरूप देश की एक ही शासनव्यवस्था के अतर्गत सभी ने नागरिकता प्राप्त की है। इससे जातीय भेद-भाव समाप्त हुआ और मानवीय एव राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ।

भारतवर्ष के प्राय सभी सप्रदायो ने प्राचीन काल से संस्कृत भाषा को अपनाया। यह सस्कृत भाषा तथाकथित आर्य भाषा कही जानेवाली विश्व-भाषा की ज्येष्ठ पुत्री है और क्योंकि अब उसका कोई प्रचलित रूप दृष्टिगोचर

नही होता, अत' सस्कृत की प्राचीनता स्वयसिद्ध है। अत सस्कृत भाषा विश्व में वैचारिक अभिव्यक्ति के प्रमुखतम साधन का प्रतिनिधित्व करती है। भारत-वर्ष मे सास्कृतिक विचारो का आदान-प्रदान पर्याप्त मात्रा मे सस्कृत भाषा के माध्यम से ही होता रहा है। यद्यपि प्रारभिक जैन और बौद्ध धर्मावलबियो ने प्राकृत एव पालि को मुख्य माध्यम बनाया किंतु सस्कार तथा प्रसार की दृष्टि से उन्हे भी बाद मे सस्कृत अपनानी पडी। राजनैतिक अध्ययन एव शासनतत्र मे भी सस्कृत व्यवहृत होती रही थी। वह अतर-प्रातीय उपयोग की भाषा थी। मध्ययुग तक इसका खूब प्रचार रहा और जितने भी मूलग्रथ लिखे गये वे अधिकाशत संस्कृत मे ही है। भारतीय दर्शन, धर्म, विज्ञान, भाषा, इतिहास और साहित्य सभी के स्रोत सस्कृत भाषा मे ही है। प्रात, जाति, सप्रदाय और बोली आदि का अतिक्रमण कर सस्कृत ने भारतवासियो को एक सास्कृतिक सूत्र मे गूथने मे महान् योगदान किया है। देश की विभिन्न भाषाओ—हिंदी, बगला, मराठी, गुजराती आदि का मूलस्रोत सस्कृत ही है। इसके अतिरिक्त दक्षिण की तमिल, तेलगु तथा मलयालम भाषाए भी सस्कृत से अत्यधिक प्रभावित हुई है।

इस प्रकार इस बात के अनेक प्रमाण है कि भारतवर्ष भौगोलिक, धार्मिक, सास्कृतिक दृष्टि से एक देश रहा है। विस्तार मे महान् तथा रीति-रिवाजो मे विभिन्न होते हुए भी भारत मे एक मालिक एकता रही है। भारत हमारी मातृभूमि है, यह विचार भारतवासियो के हृदय मे व्याप्त रहा है।

भारतकी सस्कृति तथा सभ्यता ने, उसकी भौगोलिक परिस्थितिऔर उसके ऐतिहासिक अनुभवो ने, उसके धार्मिक विचारो और उसके आदर्शो ने उसे एकता एव अखण्डता प्रदान की है और उसके व्यक्तित्व को सपूर्ण बनाया है। इन्ही गुणो ने काल के घातक प्रहारो एव आक्रमणो से भारतीय सस्कृति की रक्षा की है और मानवता के कल्याण तथा शाति के लिए महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

•

अध्याय दो

हड़प्पा संस्कृति

हड़प्पा संस्कृति की खोज पुरातत्व विज्ञान की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण खोजो में से है। इसकी कहानी बडी मनोरजक है। 1856 ई० मे भारत सरकार के निरीक्षण में कराची और लाहौर (अब पाकिस्तान) के बीच रेलवे लाइन बिछाने के लिए आस-पास के खडहरो मे ईंटे निकाली जाने लगी। इन्ही खडहरो में जिला माटगुमरी, पजाव (पाकिस्तान) में हड़प्पा नामक खडहर का पता चला। दीर्घकालीन उपेक्षा के बाद 1920 मे हड़प्पा में महत्त्वपूर्ण उत्खनन प्रारंभ हुआ।[1] हड़प्पा से लगभग 400 मील दूर सिंध मे मोहनजोदडो नामक दूसरे प्राचीन नगर के ध्वसावशेष प्राप्त हुए। 1922 ई० मे मोहनजोदडो मे विस्तृत उत्खनन कार्य किया गया।[2] इसके उपरात श्री ननीगोपाल मजूमदार ने सिंधु प्रदेश का सर्वेक्षण कर इस सभ्यता के कुछ स्थल खोज निकाले।[3] इसी बीच सर ऑरेल स्टीन और एच० हारग्रीव्ज ने बलूचिस्तान मे अनेक प्रागैतिहासिक बस्तिया खोज निकाली। 1925 में अर्नेस्ट मैके ने मोहनजोदडो से 80 मील दूर दक्षिण पूर्व में स्थित चहूदडो नामक स्थान पर उत्खनन किये, जिससे पता चला कि मोहनजोदडो सस्कृति की समाप्ति के बाद भी एक और भिन्न सस्कृति के लोग वहा बसे थे।[4] 1946 ई० मे सर मार्टिर व्हीलर ने हड़प्पा मे उत्खनन कार्य कराया।[5]

हड़प्पा सस्कृति का प्रसार

भारत में स्वतत्रता प्राप्ति के पूर्व यह धारणा थी कि हड़प्पा सस्कृति केवल सिंधु नदी की घाटी तक ही सीमित थी। किंतु हड़प्पा सस्कृति के प्रमुख केन्द्रो, हड़प्पा और मोहनजोदडो, के पाकिस्तान के हिस्से में चले जाने के कारण भारत के पुराविदो का ध्यान इस ओर गया। फलस्वरूप नये अन्वेषणो से यह उद्घाटित हुआ कि हड़प्पा सस्कृति केवल सिधु घाटी तक ही सीमित नही है

1. इसके उत्खननकर्ता थे माधो स्वरूप वत्स और दयाराम साहनी।
2. यह उत्खनन कार्य राखालदास बनर्जी द्वारा किया गया।
3. आर्क्यालोजिकल सर्वे मेम्वायर्स, सख्या 48।
4. चन्हूदडो एक्सकेवेशन्स
5. ऐंशेंट इंडिया, सख्या 3

वरन् इसका विस्तार उत्तरी बलूचिस्तान से लेकर नर्मदा नदी के तट तक और ईरान-पाकिस्तान की सीमा से मेरठ जिला में जमुना नदी के पास तक हुआ था। इस खोज के मिलसिले मे रोपड (पजाब), कालीबंगा (राजस्थान), लोथल (सौराष्ट्र), आलमगीरपुर (उ० प्र०) इत्यादि स्थलो पर उत्खनन हो चुका है।

सर्वेक्षण और उत्खनन से इस बात का उद्घाटन हुआ कि हडप्पा सस्कृति केवल सिंधु नदी की घाटी तक ही सीमित न होकर एक विशाल क्षेत्र मे प्रसरित थी जिसके अतर्गत आधुनिक बलूचिस्तान, उत्तरी पश्चिमी सीमात, सिंध, पजाब, गुजरात, राजस्थान, उत्तरप्रदेश और मध्य भारत आते है। विद्वानो की मान्यता है कि हडप्पा सस्कृति के अतर्गत इस विशाल भूभाग की व्यवस्था और शासन दो राजधानियो (हडप्पा और मोहनजोदडो) द्वारा किया जाता रहा होगा। कुछ अन्य महत्वपूर्ण नगर प्रातीय राजधानिया रही होगी।

हड़प्पा

हडप्पा पजाब के माण्टगुमरी जिला (अब पाकिस्तान) मे स्थित है। यह प्राचीन नगर लगभग तीन मील मे बसा था। इस स्थल के आधुनिक नाम हडप्पा की पहिचान हरियूपिया' से की गयी है,[1] जिसका उल्लेख ऋग्वेद मे हुआ है। यहा अभ्यावर्तिन चयमन द्वारा वृचीवत जाति की पराजय का ब्योरा है। वृचीवत जाति का अन्यत्र भी उल्लेख हुआ है और उन्हे वर्चिन से सबधित बताया गया है, जो इन्द्र के शत्रु अर्थात अनाय थे। इन्ही सभावित बातो के आधार पर सर मार्टीमर व्हीलर ने यह मान लिया कि हडप्पा मे अनार्यों पर आर्यों की विजय हुई थी[2] किंतु यह मत केवल अनुमान पर आधारित है।

हडप्पा मे जो भग्नावशेष प्राप्त हुए है उनमे पश्चिम की ओर गढ (टीला 'ए-बी'), पूर्व-दक्षिण-पूर्व की ओर निचला नगर (टीलाई) है। गढ और नदी की घाटी के बीच मे टीला 'एफ' स्थित है, जिसमे नगर निर्माण व्यवस्था के चिह्न दृष्टिगत होते है। इसके अतिरिक्त रक्षा प्राचीर, द्वार, निवासगृह, चबूतरे और अन्नागार है।[3]

मोहन जोदडो

प्राचीन मोहनजोदडो नगर के अवशेष सिंधु प्रात के लरकाना जिले (पाकिस्तान) मे है जो सिंधु नदी के तट पर स्थित है। यहा के अवशेष हडप्पा के

1 जर्नल आफ दि बाम्बे-ब्राच आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, 26, व 56।

2 ऋग्वेद, 6,27,5।

3 देखिये व्हीलर, दि इण्डस सिविलाइजेशन

अवशेषों[1] की अपेक्षा अधिक अच्छी दशा मे हैं क्योकि यहा से हडप्पा की तरह रेलवे लाइन में ककडी बिछाने के लिए ईंटे नही खोदी गई है। यहा का गढ हडप्पा की ही भाति कृत्रिम पहाडी पर स्थित है। यह दूसरी शताब्दी के बौद्ध स्तूप से आच्छादित है। जलप्लावन के कारण यह गढ कट गया है और इसके दो भाग हो गये हैं। गढ का कृत्रिम प्लेटफार्म मिट्टी की ईंटो और मिट्टी का बना है। यहा अधिकाश महत्त्वपूर्ण इमारते गढ पर ही बनी हुई हे, जब कि हडप्पा में वे यत्र-तत्र बनी हैं। गढ पर निर्मित स्मारको मे स्नानगृह, कोष्ठागार, विद्यालय या मदिर की इमारत और स्तूप प्रमुख है। ऐसा अनुमान है कि उक्त इमारतो के नीचे अन्य इमारतो के भग्नावशेष भी रहे होगे, किंतु वहा तक अभी तक खुदाई नही हुई हैं। हडप्पा की भाति मोहनजोदडो मे भी नगर की सुरक्षा का पूरा प्रबध था। गढ के दक्षिणी पूर्वी किनारे पर नगर की सुरक्षा के लिए प्राकार एव बुर्जों के चिह्न मिलते है।

निचले नगर के अवशेष

मोहनजोदडो मे गढ के पूर्व की ओर निचले टीले अवस्थित है, जिनकी पहचान निचले नगर से की गयी है। इस क्षेत्र मे प्राचीन मोहनजोदडो की योजना-बद्ध नगरनिर्माण व्यवस्था का पता चलता है। इस नगर योजना मे नवीनता है। यहा सडको, गलियो, मकानो और नालियो का निर्माण एक सुनियोजित व्यवस्था के आधार पर किया गया है।[2]

हडप्पा सस्कृति का काल

हडप्पा कालीन सभ्यता ताम्रयुगीन मानी जाती है। इसमे ताबे और कासे के हथियारो और अन्य वस्तुओ के साथ-साथ अस्त्र-शस्त्रो का भी निर्माण होता था। तात्कालिक जीवन की जानकारी के लिए हमे हडप्पा, मुख्यत मोहनजोदडो आदि के भग्नावशेषो पर विचार करना होगा,[3] उत्खननो से प्राप्त आकडो के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि यह सभ्यता मेसोपोटामिया, एलाम और मिस्र की तात्कालिक सभ्यताओ से कुछ मानों मे बढी हुई थी। मार्शल के अनुसार हडप्पा सस्कृति का काल 3250 से 2750 ई० पू० का है। मैके महोदय ने मोहनजोदडो के नगर के काल को तीन युगो मे विभाजित किया है। लेकिन ह्वीलर हडप्पा सभ्यता की तिथि 2500-1500 ई० पू० मानते है।

हडप्प संस्कृति के विभिन्न स्थल

1 मैके कृत फर्दर एक्सकेवेशन्स ऐट मोहनजोदडो, 1, 10।

2 देखिये मार्शल, मोहनजोदडो ऐण्ड इण्डस सिविलिजेशन।

3 काशी नारायण दीक्षित, प्री हिस्टारिक सिविलजेशन आफ द इण्डस वैली।

हड़प्पा, मोहनजोदडो, चन्हुदडो, लोथल, रगपुर, आलमगीरपुर, रोपड आदि स्थानों के उत्खनन से प्राप्त सामग्री से इस सस्कृति के विभिन्न अगो पर प्रकाश पडता है। इसी आधार पर तात्कालिक विवेचन निम्नलिखित है —

सामाजिक जीवन

सामाजिक सगठन

समाज की इकाई परिवार था। उत्खनन मे प्राप्त अनेक भवनो के अवशेषो मे ज्ञात होता है कि सिंधु घाटी के निवासियों के परिवारो के रहने की व्यवस्था पृथक् पृथक् थी। प्रत्येक परिवार मे माता, पिता, भाई, बहन, पुत्र, पुत्री आदि रहते रहे होगे। मोहनजोदडो मे स्त्री—मूर्त्तियो के बहु सख्या मे प्राप्त होने के कारण विद्वानो की धारणा है कि तात्कालिक समाज मातृ-प्रधान था। स्त्री मूर्त्तियो की अपेक्षा पुरुष मूर्त्तिया कम मिली है।

समाज मे अनेक काम करनेवाले लोग रहते थे। काशीनाथ नारायण दीक्षित ने समाज को दो वर्गों मे विभक्त किया है, उच्च वर्ग जिसमे पुरोहित, वैद्य, ज्योतिषी आदि आते है और निम्न वर्ग मे मछुए, मल्लाह, कृषक, वणिक्, चरवाहे आदि आते है। किंतु कुछ विद्वानो ने समाज को चार भागो मे विभक्त किया है विद्वान, योद्धा तथा राजकीय अधिकारी, व्यवसायी और श्रमजीवी।

अस्त्र-शस्त्रो की अल्पता से प्रतीत होता है कि सिंधु घाटी के निवासी युद्ध-प्रेमी नही थे। उनका सामाजिक जीवन सुख-शाति पूर्ण था। सामाजिक उन्नत दशा का आभास उत्खनन से प्राप्त आभूषणो, शृगारप्रसाधनो और अनेक उपयोगी उपकरणो एव रेखाचित्रो से होता है।

आहार

हड़प्पा एव मोहनजोदडो के उत्खनन मे अन्न के दाने मिले है, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि खाद्य सामग्री मे गेहूँ, चावल, जौ, दूध, राई, फलिया, खजूर, तिल और तरबूज का प्रयोग होता था। खजूर, नारियल, अनार और नीबू की आकृतियो का चित्रण वहा के मृद्भाडो पर हुआ है। कुछ तश्तरिया ऐसी मिली है जिनका प्रयोग लगता है कि सब्जी और मसालो को रखने के लिए होता होगा। उत्खनन मे ओखलिया और पीसने की सिल मिली है। अनाज रखने के लिए बडे-बडे मटके होते थे। कुछ मिट्टी के घडो मे गले पर छेद होते थे। सम्भवत उनमे गले में डोरी बाध कर उन्हे छत या दीवार से लटका दिया जाता होगा।[1]

---

1 मैंके, अर्ली इण्डस सिविलाइजेशन, पृ० 119।

शूकर, गाय, भैस, घडियाल, बैल, भेड, घोघा, बकरी, कछुआ, हिरण, मुर्गे, मछली के मास का प्रयोग हडप्पा और मोहनजोदडो के लोग भोजन मे करते रहे होगे । मास काटने के लिए धातु और चकमक पत्थर का प्रयोग होता था ।[1] निर्धन लोग आसन चौकी और उच्च वर्ग के लोग तख्त या मेज पर भोजन करते थे ।

वस्त्राभूषण

सर्वसाधारण मे सूती वस्त्रो का प्रचलन था । समृद्ध लोग ऊनी वस्त्रो का भी प्रयोग करते थे । श्री दयाराम साहनी को चादी की एक कलसी के ऊपर लिपटा हुआ सूती वस्त्र का टुकडा मिला है । श्री मैके को कुछ सूत के धागे मिले है ।[2] बुने हुए वस्त्रो की छाप हडप्पा के कुछ पात्रो पर मिली है । वेश-भूषा सादी थी । उनके वस्त्र किस प्रकार के थे इसका अनुमान, वस्त्रो के प्राप्त न होने के कारण मूर्त्तियो के वेशभूषा मे ही लगाया जा सकता है । सिले वस्त्रो के प्रयोग की प्रथा शायद न थी । साधारणतया पुरुष एक शाल दाए कधे के नीचे से लेकर बाए कधे के ऊपर फेक कर ओढते थे । इस प्रकार दाया हाथ खुला रहता था । कुछ स्त्रिया (मातृदेवी) पखे की आकृति की शिरोभूषा पहनती थी । स्त्रिया कमर मे घुटने तक लटकता हुआ एक पटका पहनती थी । ऊपरी भाग प्राय नग्न रहता था । केवल एक नमूने मे सपूर्ण शरीर पर सघाटी जैसी कोई वस्तु लिपटी है । स्त्रिया कमर मे मेखला पहनती थी । कुछ स्त्रिया नग्न भी रहती थी ।

स्त्रियो मे सुव्यवस्थित आकर्षक केश-विन्यास का प्रचलन था । बालो को जूडे अथवा वेणी के रूप मे गूथा जाता था । पुरुष दाढी भी रखते थे ।[3] हजामत बनाने के लिए उस्तरे का प्रयोग होता था । उत्खनन मे चार प्रकार के उस्तरे और ताबे के दर्पण मिले है । सिलाई की सुइया और बटन भी मिले है ।

सिधु-प्रदेश के निवासी कलापूर्ण आभूषणो का प्रयोग करते थे । आभूषणो को पहनने का शौक स्त्री-पुरुष दोनो को था । हार, कान के अनेक आभूषण, पैरो के कडे और मेखला नर-नारी दोनो प्रयोग करते थे । धनी लोग सोने, चादी, हाथीदात और अन्य पत्थरो के, यथा लाल, पन्ना, मूगा आदि बहुमूल्य आभूषण और गरीब लोग ताबे, हड्डी और मिट्टी के आभूषण पहिनते रहे होंगे । आभू-

1 आर्क्यालोजिकल सर्वे मेम्वायर, स० 48 ।

2 फर्दर एक्सकेवेशन्स ऐट मोहनजोदडो, पृ० 591 ।

3 अर्ली इण्डस सिविलिजेशन, पृ० 81 ।

षणो मे कठहार, सिरबद, बाजूबद, करधनी, पायजेब, कडे, हसली, कर्णफूल, अगूठी आदि पहने जाते थे।[1]

शृगार एव सौदर्यप्रसाधन

सिंधु प्रदेश के निवासी सौदर्यप्रेमी थे। उत्खनन मे अनेक प्रकार के प्रसाधन उपकरण मिले है। वे लोग दर्पण, कंघे, काजल, सुरमा,[2] सिंदूर आदि का प्रयोग करते थे। शृगार की ओर स्त्रियो की विशेष रुचि थी। हाथीदात की कंघियो[3] और पीतल के आइनो का प्रयोग करती थी। मुख तथा होठ रगने के लिए एक विशेष प्रकार का पदार्थ का प्रयोग करती थी। सर जान मार्शल ने लिखा है कि यहा का साधारण नागरिक सुख-सुविधा और विलास सामग्री का उपयोग समकालीन सभ्य ससार के अन्य भागो के नागरिको से अधिक करता था।

आमोद-प्रमोद

पशुओ का आखेट, शतरज, पासो का खेल, गोलियो का खेल, जुआ, नृत्य, सगीत आदि उनके मनोरजन के प्रमुख साधन थे। मुहरो पर अकित ढोल, वीणा और तुरही के चित्र तथा नर्तकी मूर्त्ति इसके प्रमाण है। हाथीदात, पत्थर और मिट्टी के पासे मिले है। इन पर बिदुओ मे सख्या बनी है, इससे सिद्ध है कि सिंधु प्रदेश मे पासे का खेल प्रचलित था। पशुओ-पक्षियो के युद्ध भी मनोरजन के साधन थे। बालको के मनोरजन के लिए अनेक खिलौने प्रचलित थे। हड़प्पा मे प्राप्त एक मुद्रा पर एक व्यक्ति व्यायाम करते हुए प्रदर्शित किया गया है।

नित्य उपयोग की वस्तुए

सिंधु घाटी मे पत्थर के अतिरिक्त सोने, चादी, तावे, कासे, टिन, सीसा, पीतल आदि धातुओ का उपयोग विविध प्रकार से होता था। लोहे का अभाव था। नित्य उपयोग की वस्तुओ मे सुदर आकर्षक मृद्भाड और पात्र थे, जिनमे घडे, कलश, थालिया, कटोरे, गिलास, लोटे, चम्मच, प्याले सकोरे, आदि प्रमुख थे। ये चादी, तावे, कासे एव मिट्टी के होते थे। मिट्टी के बरतनो पर चमकीली काली, लाल व भूरी पालिश चढी होती थी। इन बरतनो पर सुदर अलकरण होता था। ग्राहस्थ्य जीवन के उपकरणो मे सुई, कघा, चाकू, हसिया, कुल्हाडी, छेनी, आरी, छुरी, और मछली पकडने के काटे मिले है। प्रतिदिन काम में आनेवाली अनेक वस्तुए खडितावस्था मे खुदाई में मिली है। खुदाई

1 फर्दर एक्सकेवेशन्स ऐट मोहनजोदडो, पृ० 531।

2 मैके, फर्दर एक्सकेवेशन्स ऐट मोहनजोदडो और वत्स, एक्सकेवेशन्स ऐट हड़प्पा।

3. मैके, फर्दर एक्सकेवेशन्स ऐट मोहनजोदड़ो, पृ० 118।

में पर्याप्त मात्रा मे बटखरे मिले है। अधिकाश बटखरे, चर्ट या सिलेटी पत्थर के है।

अंत्येष्ठि क्रिया

सर जान मार्शल के मतानुमार सिंधु निवासी शवो का तीन प्रकार से दाह सस्कार करते थे (1) पूर्ण समाधीकरण, अर्थात् सम्पूर्ण शव को पृथ्वी मे गाड देते थे। (2) आशिक समाधीकरण, अर्थात् पशुपक्षियो के मास खा लेने के बाद शव का शेष भाग पृथ्वी मे गाड दिया जाता था। (3) दाहकर्म, अर्थात् शव को जला दिया जाता था और भस्म को भाड में रख कर गाड दिया जाता था। लोथल मे मिली 17 कब्रो मे से तीन ऐसी है जिनमे दो-दो शव साथ गाडे गये है।

आर्थिक जीवन

खेती

सिंधु प्रदेश की भूमि उर्वर थी। सिधु प्रदेश मे नदियो और वर्षा के बाहुल्य के कारण सिचाई सुलभ थी फलत सपूर्ण प्रदेश का मुख्य धधा खेती था। प्राप्त अवशेषो के आधार पर अनुमान लगाया गया है कि गेहूँ और जौ की प्रमुख खेती होती थी। इसके अतिरिक्त कपास, मटर और तिल की खेती भी होती थी। फलो मे खजूर, नारियल, तरबूज, केला, अनार, नीबू होते थे। अन्न बडे बडे घडो मे और कोष्ठागारो मे सग्रह किया जाता था। अनाज को कूटने के लिये ओखलियो का प्रयोग होता था। अनाज को ढोने के लिए दो या चार पहियो वाली बैलगाडियो का प्रचलन था। इनकी आकृति के खिलौने हडप्पा, चन्हूदडो आदि नगरो मे मिले है। तौलने के लिए बटखरो का प्रयोग होता था।

पशुपालन

खेती के साथ-साथ पशुपालन सिंधु निवासियो का महत्वपूर्ण धंधा था। मुद्राओ पर अकित बैलो से पता चलता है कि सिंधु प्रदेश मे दो प्रकार के बैल होते थे, एक तो कूबडदार और बडे सीग वाले बैल और दूसरे बिना कूबड के और छोटी सीग वाले बैल। गाय, भैंसे और भेडे पाली जाती थी। हाथी की एक हड्डी मोहनजोदडो मे मिली है। रानाघुण्डई (बलूचिस्तान) और मोहन-जोदडो मे घोडे के अस्थिपिजरों के अवशेष प्राप्त हुए है। सुअर और कुत्ते भी पालतू पशु थे। इनके अवशेष और खिलौने मिले है। अन्य छोटे पशु-पक्षियो मे बिल्ली, बन्दर, खरगोश, हरिण, मुर्गा, मोर, तोता, उल्लू और हस आदि के चित्र, मूर्तिया एव खिलौने प्राप्त हुए हैं। अनेक घरो मे सुअर, घडियाल,

चिड़ियो और मछलियो की हड्डिया मिली है जिन्हे सम्भवत. वे लोग मारकर खाते थे।

उद्योग-धंधे

अनेक प्रकार के उद्योग धधे भी उनकी जीविका के प्रमुख साधन थे। इनमे बढईगीरी, कुंभकारी, स्वर्णकारी, आदि विशेष उल्लेखनीय है। कुभकार मिट्टी के बर्तन और खिलौने बनाता था। बढई बैलगाडिया, खिड़किया और दरवाजे आदि बनाता था। ताबा, कासा आदि धातुओ से गदा, फरसा, खजर, बर्छी, धनुषबाण एव बर्तन बनाए जाते थे। बुनकरो ने भी प्रगति की थी। वे ऊनी तथा सूती वस्त्र बनाते थे। इनके अतिरिक्त जौहरी, हाथीदात का काम करने वाले, रगरेज, पत्थर काटने वाले आदि उपयोगी कलाओ के ज्ञाता अनेक प्रकार के उद्योगधधो द्वारा जीविकोपार्जन करते थे।

व्यापार एव वाणिज्य

व्यापार के क्षेत्र मे सिंधु प्रदेश के निवासियो ने पर्याप्त प्रगति की थी। वाणिज्य एव व्यवसाय मे हड़प्पा और मोहनजोदडो नगर विश्व के अन्य नगरों की अपेक्षा अधिक उन्नतिशील थे। चौडी सडको के किनारे दूकाने होती थी। भारत का विदेशी व्यापार सुमेरिया तक फैला था। गार्ड चाइल्ड के अनुसार 'सिंधु घाटी के नगरो मे निर्मित सामग्रिया मेसोपोटामिया के बाजारो मे बिकती थी और उधर सुमेरी कला का प्रभाव मेसोपोटामिया की श्रृगार सामग्रियो तथा बेलन के आकार की मुहर का अनुकरण सिंधु निवासियो ने किया था। व्यापार कच्चे माल तथा 'विलास की वस्तुओ तक ही सीमित न था। अरब सागर के तटो से लायी गयी मछलिया मोहनजोदडो की भोजन सामग्री मे सम्मिलित थी।' कुछ धातुओ का आयात विदेशो से होता था। देश के अदर के व्यापार के विषय में गार्डन चाइल्ड का मत है कि 'सिंधु के नगरो मे शिल्पी बिक्री के लिए चीजें निर्मित करते थे जिसके विनिमय की सुविधा के लिए मुद्राओ का प्रचलन था। अनेक विशाल भवनो मे सलग्न कोष्ठागारो में पता चलता है कि उन भवनो के स्वामी व्यापारी थे। इन घरो की सख्या एव आकार से प्रकट है कि यहा सुसगठित एव समृद्धशाली व्यापारियो की बस्ती थी।'

नाप के लिए सीपो की पटरियो का प्रयोग होता था। पटरियो के टूटे हुए भाग मिले हैं। मैके के मतानुसार सिंधु प्रदेश मे पटरी 13.2 इच अथवा लबी होती थी। तौल के लिए बटखरो का प्रयोग होता था। ये पत्थर के होते थे। मार्शल के अनुसार सूसा और ईराक के प्राचीन बटखरो की अपेक्षा ये अधिक शुद्ध थे। लघु आकृति की मुहरें प्राप्त हुई हैं। चह्नदडो मे गुरियो का एक कारखाना मिला है, जहा गुरियों का निर्माण होता था।

धार्मिक जीवन

सिंधु प्रदेश के भग्नावशेषो मे अभी तक ऐसी कोई विशिष्ट वस्तु नही प्राप्त हुई जिनके आधार पर धर्म का निश्चित स्वरूप आका जा सके। केवल मिट्टी की मुहरो, मूर्तियो और तावीजो आदि के आधार पर तात्कालिक धर्म की रूपरेखा बनायी गयी है। मदिर एव लिखित साक्ष्य के अभाव मे सभी निष्कर्ष अनुमान पर आधारित हैं। किंतु उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह प्रतीत होता है कि हडप्पा सस्कृति मे धर्म का विकास हो चुका था। सर जान मार्शल के कथनानुसार हडप्पा सस्कृति के धर्म मे अनेक ऐसी बाते तथा तत्व हैं जो वर्तमान भारत के प्रचलित धर्म मे विद्यमान हैं। दोनो कालो के धर्म मे आश्चर्य-जनक साम्य है।

हडप्पा सस्कृति मे धर्म का स्वरूप

वे शायद बहुदेववादी, प्रकृति-पूजक अथवा शक्ति के उपासक थे। सर्जन-शक्ति के प्रतीक के रूप मे उन्होने पुरुष देवता एव मातृ देवी के धर्म का विकास किया। आगे चल कर हिंदू धर्म मे पुरुष और प्रकृति, शिव और पार्वती की कल्पना का आधार यही द्वन्द्वात्मक धर्म बना है।

शिव पशुपति का प्राग्रूप

सिंधु प्रदेश मे मैके को एक मोहर मिली थी, जिसके मध्य मे एक त्रिमुखी नग्न पुरुष योगमुद्रा मे बैठा है। इसके सिर पर शिरस्त्राण के दोनो ओर दो सीग हैं। यह शिरस्त्राण त्रिशूल के समान है। इसके आसन के नीचे एक द्विश्रृंगी हरिण है। मूर्ति की दाहिनी ओर एक हाथी और एक सिंह है और बाई एक गैडा तथा एक भैसा है। मूर्ति के ऊपर कुछ अक्षर उत्कीर्ण है। इसकी लिपि को पहचाना नही जा सका है। इस मुहर के सपूर्ण दृश्य के आधार पर विद्वानो का अनुमान है कि यह त्रिशूलधारी योगीश्वर शिव की मूर्ति है जो पशुपति के रूप मे प्रख्यात है। कुछ विद्वानो का मत है कि इस मुहर मे उर्ध्वलिग भी अकित है। एक अन्य मुहर पर योगी का चित्र है, जिसके दोनो ओर एक एक नाग हैं। यह चित्र भी शिव का है। इसे सिंधु-प्रदेश का परम पुरुष माना गया है, जिसकी उपासना होती थी।

मातृ देवी

हडप्पा, मोहनजोदडो आदि स्थानो मे निर्मित नारी की मिट्टी की अनेक नग्न मूर्तिया मिली हैं। इनकी कटि मे पटका और मेखला, गले मे गुलूबद अथवा हार तथा शीश पर कुल्हाडी की आकृति का शिरस्त्राण दिखाया गया है। इन्हे मातृदेवी

माना गया है । कुछ मूर्तिया आभूषण पहने है । कुछ मूर्तिया शिशु को स्तन्य पान करा रही है । मुहरो पर भी मातृदेवियों के चित्र अकित हैं । सिंधु निवासियो की धारणा थी कि सपूर्ण सृष्टि का आरभ नारी शक्ति से हुआ है । मातृदेवी लोकपालिका, जननी और अधीश्वरी थी । मातृदेवी भी पूजा का आरभ धरती माता की पूजा से ही संभव हुआ होगा । मेसोपोटामिया के लोगो मे ऐसी भावना थी कि मातृदेवी मनुष्य की अनेक व्याधियों से रक्षा करती थी ।[1] ऐसे ही दृष्टिकोण से सिधु प्रदेश में मातृ देवी की पूजा होती रही होगी ।

लिंग पूजा

हड़प्पा और मोहनजोदडो मे बहुसख्यक लिंग प्राप्त हुए है । ये पत्थर, मिट्टी और सीप के निर्मित होते थे । ये लिंग दो प्रकार के है—एक में स्वाभाविक अकन है और दूसरे मे पारपरिक शैली के आधार पर । लिंग पूजा उस समय मिस्र, यूनान और रोम आदि देशो मे भी प्रचलित थी । हिंदू धर्म मे लिंग पूजा अनार्य सिंधु निवासियो की देन है ।

योनि पूजा

हड़प्पा और मोहनजोदडो मे बहुसख्यक पत्थर, मिट्टी और सीप के छल्ले मिले है । कुछ विद्वानो का मत है कि ये छल्ले योनिया है और सिंधु निवासी लिंग के साथ योनि की भी पूजा करते थे, जो प्रजनन शक्ति की प्रतीक थी । औरेन स्टीन को इस प्रकार के छल्ले बलूचिस्तान मे भी मिले है ।

वृक्ष पूजा

प्रकृति पूजा के प्रमाण मिलते हैं । कुछ मुहरो पर पीपल टहनिया और पत्तिया अकित है । वृक्ष पूजा दो रूपो मे होती थी - प्राकृतिक रूप और प्रतीकात्मक रूप में । इनमे किसी देवता का निवास की धारणा भी थी । सिंधु घाटी में पीपल, नीम, खजूर, बबू ल और शीशम आदि की पूजा होती थी ।

विशाल स्नानागार से विद्वानो का अनुमान है कि वे लोग शुभ-मुहूर्त, पर्व, उत्सव एव समारोह के अवसरो पर सामूहिक स्नान करते थे । सभवत जल पूजा में उनकी आस्था थी । कुछ विद्वानों ने मोहनजोदडो के स्नान कुंड को जल-देवता का मन्दिर माना है ।

पशुपूजा

मुहरों पर उत्कीर्ण और पशु-मूर्तियो से यह अनुमान लगाया गया है कि सिंधु निवासी पशु-पूजा करते थे । वे पशुओ की आकृतिया कुछ विशेष आकार

1. कलकत्ता रिव्यू, 39, 1931, पृ० 230 और आगे

प्रकार से निर्मित करते थे, उदाहरणस्वरूप कुछ चित्र अर्ध पुरुष और अर्ध पशु, अर्ध हाथी और अर्ध-बैल, अर्ध महिष और अर्ध-अज आदि के है। कुछ मुहरो पर नाग, बतखो आदि के चित्र है। वृष और महिष का चित्रण अनेक मुहरों पर हुआ है। सम्भवत उन्हे शक्ति का प्रतीक समझा जाता रहा होगा। कुछ विद्वानो की धारणा है कि ये पशु आदि देवताओं के वाहन माते जाते थे।[1]

प्रतीक-पूजा

हडप्पा और मोहनजोदडो मे प्राप्त अनेक मुहरो पर स्वस्तिक, चक्र और क्रास के चिह्न भी अंकित मिले है। जो संभवत पवित्र माने जाते थे।

धार्मिक मान्यताए और प्रथाए

देवी, देवताओ, पशुओ और प्रतीको से भासित होता है कि वे लोग साकार उपासना करते थे। किंतु किसी मदिर के चिह्न नही मिले हैं। मार्शल का मत है कि मोहनजोदडो मे मदिर लकडी के बनते थे जो नष्ट हो गये। मार्शल के मतानुसार[2] सिंधु घाटी के लोगो के धर्म मे अनेक ऐसी बाते है जिनसे मिलती-जुलती बाते हमे अन्य देशो मे भी मिल सकती है और ये बाते सभी प्रागऐतिहासिक और ऐतिहासिक धर्मों के विषय मे ठीक सिद्ध होती है। परन्तु सब कुछ होते हुए भी उनका धर्म इतनी विशेषता के साथ भारतीय है कि आधुनिक युग के प्रचलित हिंदू धर्मो से कठिनता से उसका भेद किया जा सकता है। स्नानागारो और कुओ के बाहुल्य से पता चलता है कि शरीर की शुद्धता पर वे विशेष ध्यान देते थे। कुछ विद्वानो ने मुहरो को तावीज माना है। इससे उन लोगो का धार्मिक अधविश्वास अथवा जादू-टोने मे श्रद्धा होना ज्ञात होता है। योगासन मे ध्यानावस्थित देवता के अकन वाली मुहरो से स्पष्ट है कि वे लोग योग, समाधि एव प्राणायाम मे विश्वास रखते थे। मोहनजोदडो मे एक पुजारी की मूर्ति मिली है।

कला

नगर योजना एव स्थापत्य

सडके

हडप्पा, मोहनजोदडो आदि प्रमुख नगरो का निर्माण एक योजनाबद्ध व्यवस्था के आधार पर हुआ था। इस उच्चकोटि की व्यवस्था का निर्माण सिद्धहस्त कारीगरो द्वारा किया गया था। सडके सीधी थी और एक-दूसरे को समकोण पर काटती थी। प्रधान सडके (राजपथ) पूर्व से पश्चिम या उत्तर से दक्षिण की ओर जाती थी। प्राय सभी सडकें समानान्तर थी। इधर-उधर को

---

1 केदारनाथ शास्त्री, न्यू लाइट आन दि इण्डस सिविलिजेशन।

2 मोहनजोदडो एण्ड दि इण्डस सिविलिजेशन।

सभी गलिया राजपथ से मिल जाती थी। प्रत्येक गली में एक कुआ होता था। सडको के किनारे कूडा करकट जमा करने की व्यवस्था थी।

नालियां

मोहनजोदडो मे अनेक सुंदर नालिया मिली है। नालियों का इतना सुदर प्रबध प्राचीन काल के किसी अन्य देश में नही मिलता। प्रत्येक सडक तथा गली के किनारे पक्की नालिया बनी थी। चारो ओर की गलियो की नालिया एक प्रधान सडक की बडी नाली में ही आकर गिरती थी। घरों का पानी प्राय मिट्टी के परनालो या नालों द्वारा बह जाता था। नालियो की ईंटों को जोडने के लिए चूना-जिप्सम मिश्रित पलस्तर बनाया जाता था। नालिया ईंटों या पत्थरो से ढकी जाती थी। नालियो का कीचड तथा कूडा एकत्र करने के लिए स्थान-स्थान पर गड्ढे बने होते थे। स्नानगारों तथा शौचगृहो की नालिया प्राय दीवारो मे ही बना दी जाती थी।

भवन

उत्खनन मे अनेक प्रकार के भवनो के ध्वसावशेष मिले है। हडप्पा की अपेक्षा मोहनजोदडो के भवन अधिक विशाल थे।[1] मकान प्राय दुमजिले होते थे। इन मकानो के ऊपर की छत मिट्टी अथवा कच्ची या पक्की ईंटो की बनी होती थी। समृद्ध व्यक्तियों के मकानो की छतो पर पकाई गयी ईंटें बिछी होती थी। ऊपरी खण्ड के फर्श के नीचे कडियो के ऊपर छडिया और घासफूस डाल दी जाती थी। इनके ऊपर फिर मिट्टी या फर्श बैठाया जाता था। कडियों का प्रयोग मोहनजोदडो मे बहुत हुआ है।

मोहनजोदडो के भवनो मे आम सडको की ओर प्राय दरवाजे बहुत कम पाये जाते थे। दरवाजे प्राय गलियो की ओर बनाये जाते थे। दरवाजो पर लकडी की चौखट होती थी। खिडकिया कुछ ऊचाई पर बनायी जाती थी। खिडकियो के लिए पत्थर की जालियो का भी प्रयोग हुआ है। ऊपरी खण्डो में जाने के लिए सीढिया बनी थी, जिनके अवशेष मिले है। कही-कही लकडी की सीढिया भी होती थी। प्राय सभी भवनों मे आगन की व्यवस्था थी। कई भवनो मे कुए भी बने थे। हडप्पा मे अपेक्षाकृत बहुत कम कुए मिले है। वत्स के अनुसार पीने के अलावा अन्य प्रयोजन के लिए पानी नदी से लिया जाता था। कुओ के निकट नालिया होती थी।

---

1. इस युग की स्थापत्य कला में उपयोगितावादी दृष्टिकोण का प्राधान्य था। सामान्यत. इसमें अलंकरण का अभाव था।

स्नानगृह एवं शौचालय

मोहनजोदडो मे सामान्यत घरो में निजी स्नानगृह थे। स्नानगृहो के बाहुल्य से पता चलता है कि यहा के निवासी शारीरिक स्वच्छता पर विशेष बल देते थे। स्नानगृहो की फर्शों पर ईंटें बडी सफाई के साथ लगायी जाती थी। इनमें जल का एक बूद भी नीचे नही जा सकता था। निजी गृहो के ऊपरी खण्डो में भी स्नानगृह होते थे। मोहनजोदडो की खुदाई मे कुछ अच्छे ढग के शौचगृह भी मिले हैं। प्राय ये स्नानगृहो के बगल मे ही होते थे। कुछ शौच-गृह ऊपरी खण्डो मे भी होते थे। बौद्ध स्तूप से लगभग नौ फुट की दूरी पर एक विशाल स्नानागार है। इसके चारो ओर कई बरामदे और प्रकोष्ठ है। इसे सार्वजनिक स्नानगृह माना गया है।

मूर्तिकला

सिंधु प्रदेश तथा हड़प्पा की कुछ मूर्तिया बडी कलात्मक और कल्पनापूर्ण है।[1] पत्थर की मूर्तिया अल्प सख्या मे प्राप्त हुई है। मोहनजोदडो मे सेलखिडी का बना पुरुष का धड प्राप्त हुआ है।[2] यह पुरुष दाढी रखे है किंतु ओठ के ऊपर का भाग साफ है। दाया हाथ पर तावीज बधा है। शरीर पर त्रिपत्र से अलकृत वस्त्र है। नेत्र उन्मीलित है। दृष्टि नासिका पर स्थित है। मूर्ति का अधोभाग खडित है। मैके इसे पुजारी तथा रामप्रसाद चन्दा इसे योगी की मूर्ति बतलाते है।

सिलखडी—निर्मित दूसरी मूर्ति भी मोहनजोदडो में प्राप्त हुई है। यह मूर्ति घुटनो को ऊपर की ओर मोड कर बैठी है हाथ घुटनों पर स्थित है। नाक और मुखाकृति लबी है। नुकीली दाढी है। इसके नेत्रो पर सीपी अथवा पत्थर की पच्चीकारी युक्त पदार्थ जुडा है। स्त्रियो के कुछ आकृतिया मोहनजोदडो में प्राप्त हुए है जो मूर्तिकला के सुदर नमूने है।[3] हड़प्पा मे भी दो मुण्डरहित मूर्तिया प्राप्त हुई है।[4] इनमे एक लाल और दूसरी भूरे स्लेटी पत्थर की बनी है। लाल पत्थर की मूर्ति (केवल धड) का शारीरिक गठन अद्वितीय है। पेट कुछ उभरा हुआ है। गले और कुहनियो मे छिद्र है।[5] दूसरी मूर्ति भूरे स्लेटी

1 देखिये, व्हीलर कृत इण्डस सिविलिजेशन पृ० 64-65।

2 देखिये, मार्शल, 1, 365।

3 सतीश चन्द्र कला, सिंधु सभ्यता, पृ० 72-73।

4 व्हीलर, वही, पृ० 66-67।

5 पुरातत्व वेत्ताओ के आधार पर विचार है कि ये छिद्र बरमा द्वारा कोरे गये हैं और हाथ मुण्ड पृथक मे निर्मित कर इन छिद्रों में जडे गये होंगे।

पत्थर की है। इसका बाया पैर कुछ ऊपर उठा हुआ और दाया भूमि पर टिका हुआ है। यह किसी नर्तक की मूर्ति प्रतीत होती है। मार्शल ने इस मूर्ति को नटराज शिव का प्रतिरूप माना है।[1] इन मूर्तियों मे यथार्थता और सजीवता है।

पत्थर की शिल्पयुक्त मूर्तियो के अतिरिक्त कुछ कासे की मूर्तिया मिली है। इनमें मोहनजोदडो मे प्राप्त नर्तकी की मूर्ति सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।[2] इस स्त्री मूर्ति के हाथ और पैर लबे है। एक हाथ कटि पर है और पैरो मे गति है। मूर्ति के केश कलात्मक ढग से सवारे गये है। यह नर्तकी किसी विशेष जाति की है। पिगट का मत है कि इसकी आकृति कुल्ली (बलूचिस्तान) की मिट्टी की मूर्तियो से साम्य रखती है।[3] इसके अतिरिक्त दो अन्य पीतल की मूर्तिया मिली है। इनमे एक साधारणकोटि की मूर्ति मिली है।[4] किंतु दूसरी मूर्ति नृत्य मुद्रा मे है और बाजूबन्द पहने है।[5]

मृण्मय मूर्तिया

हडप्पा, मोहनजोदडो और चन्हूदडो आदि स्थानो मे मिट्टी की बनी मूर्तिया मिली है जो हाथ से बना कर मिट्टी के बरतनो की तरह पकायी जाती थी। बाद मे इन पर पालिश की जाती थी। व्हीलर महोदय ने इस मृण्मय मूर्तियो को दो श्रेणियो मे विभक्त किया है।[6] मानवाकृति मूर्तिया और पशु पक्षियो की मूर्तिया। मानवाकृति मूर्तियो मे पुरुष और स्त्रियो की मूर्तिया है। पुरुष मूर्तियों मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एक पुरुष की मूर्ति है जो 1950 में मोहनजोदडो के गढ मे अन्नागार के क्षेत्र में मिली थी, जिसका शरीर चिपटा है, नाक, लम्बी और श्मश्रु विहीन भरी हुई ठुड्ढी है। उसका शिरोवस्त्र अधूरा है। इसके अतिरिक्त पुरुष या स्त्री की मिट्टी की अनेक मूर्तिया मिली है।[7] स्त्री मूर्तियो मे अधिकाश की पहचान मातृदेवी से की गई है। अधिकाश उदाहरणो मे उठी हुई विचित्र शिराभूषा, आँख, स्तन, मिट्टी के आभूषण तथा मेखला को अलग से चिपकाया गया है। गालो को दबा कर नाक उभारी गयी है। किसी-किसी नमूने मे नथने

1. व्हीलर, वही 67
2. मार्शल, 1, 44, 3 द्रष्ट
3. स्टअर्ट पिगट कृत प्रीहिस्टारिक इण्डिया, पृ० 115, 186।
4. मैके, 1, 274
5. वही, 1, 273
6. व्हीलर, वही, 67
7. मैके, 2, प्लेट 72, 7

भी दिखाई देते हैं। कटि के ऊपर एक पटका पडा दिखाया है। अधिकाश मूर्तियों के हाथ टूट गये हैं और पैर सीधे डर्डों की भाति हैं। कान प्यालेनुमा हैं। इनमें कालिख लगी होने के कारण अनुमान लगाया गया है कि इनमे धूप-बत्ती रखी जाती होगी। चन्हूदडो मे भी अनेक स्त्री मूर्तिया मिली है, जो तगडी और कठहार पहने है। आखें गोल पहियो से बनी है। पेट उभरे हुए है।[1] बलूचिस्तान में भी प्रागैतिहासिक काल की सम्कृति के सदर्भ मे मिट्टी की नारी मूर्तिया मिली है।[2] मातृदेवी की पूजा प्राचीन काल मे पश्चिमी एशिया के अन्य देशो, मिस्र और क्रीट मे भी प्रचलित थी। पशु-पक्षियो को अनेक मूर्तिया हडप्पा मोहनजोदडो से मिली है जो प्राय मिट्टी और सिलखिडी से बनी हैं। मिट्टी की मूर्तियो मे उल्लेखनीय कूबडदार बैल तथा छोटे सीग वाला बैल है। अन्य पशु मूर्तियो मे कुत्ता, हाथी, गैडा, सुअर, वन्दर, गिल्हरी, भैस और चिडियो के उदाहरण मिलते है। इनके निर्माण मे कलाकारो ने बडी समझ और सूझ का परिचय दिया है। पत्थर का बना बैल का एक खिलौना मिला है। इसके अतिरिक्त ताबा और पीतल आदि धातुओ के बैलो के खिलौने मिले है। चन्हूदडो मे एक हाथी की आकृति का खिलौना मिला है।[3] ये सभी मूर्तिया अपूर्व कलात्मक महत्त्व की ह।[4] इन खिलौनो मे हडप्पा से प्राप्त एक इक्कागाडी और चन्हूदडो से प्राप्त पहियादार गाडी विशेष उल्लेखनीय हैं।

धातु कला

सिंधु घाटी के निवासियो को विविध धातुओ का ज्ञान था। इन धातुओ को पिघला कर और साचो मे ढालकर वे विविध प्रकार की वस्तुए बनाते थे। वे लोग स्वर्ण, रजत एव ताम्र आदि धातुओ के कलात्मक आभूषणो का भी निर्माण करते थे। इनमे बाजूबन्द, कठहार, लम्बहार, भुजबन्द, चूडिया, अतक और अगूठिया आदि सुन्दर और आकर्षक है। हारो मे विभिन्न आकार एव रगो की गुरिया पिरोई जाती थी। मिट्टी, गोमेद-सन्निम, और लाल गोमेद तथा अन्य धातुओ की गुरिया प्रचलित थी। चन्हूदडो मे गुरियो का कारखाना मिला है।[5] गुरियो को खुरच कर इन पर भी रग लगाया जाता था। मोहनजोदडो पर

---

1 मैके, चन्हूदडो एक्सकेवेन्स जिल्द 2 चित्र 104।

2 आर्क्यालोजिकल सर्वे मेम्वायर, सख्या 43, पृ० 126 और 162

3 मैके, चन्हूदडो एक्सकेवेशन्स, 1, 159

4 वत्स, एक्सकेवेशन्स मे हडप्पा, 1, 90, 193

5 मैके, चन्हूदडो एक्सकेवेशन्स, 1, 46, 190

एक स्थान पर गलाए हुए ताबे का ढेर मिला है। कासे की वस्तुए भी प्राप्त हुई है।

मुद्रा-कला

हड़प्पा संस्कृति के सर्वोत्तम उदाहरण मुद्राओ पर अकित कलात्मक आकृतियो में मिलता हैं। ये मुहरे सेलखडी की बनायी गयी है और आरा या चाकू से काटी जाकर निश्चित आकार मे बनायी जाती थी। उत्खनन में मोहरे ढालने के साचे और ठप्पे मिले है। मुद्राओ पर विभिन्न पशु पक्षी चित्रित है। इनमे बैल, हाथी, नील गाय, गैडा, भैस तथा बारहसिंगा का सफल चित्रण हुआ है। यह कलाकारो के जंतुविज्ञान की जानकारी का परिचायक है। मोहनजोदडो मे प्राप्त कुछ मिट्टी की मुद्राए विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनमे पशुओ से घिरे हुए योगीश्वर शिव की मुद्रा मिली है। मिट्टी की एक अन्य मुद्रा पर मानव-व्याघ्र युद्ध का चित्रण हुआ है। इन मुद्राओ का प्रयोग तावीजो के लिए होता था जिनका धार्मिक महत्त्व था। हड़प्पा से प्राप्त एक तावीज पर नृत्य के साथ ढोल वादन का दृश्य है। अधिकाश मोहरो पर लेख भी उत्कीर्ण है जो अभी पढे नही जा सके है।

मृद्भाड कला

सिंधु सभ्यता के अनेक नगरो मे बहु सख्या मे मिट्टी के बरतन मिले है। ये बरतन चाक द्वारा बनाये जाते थे। उनके निर्माण मे जिस मिट्टी का प्रयोग हुआ है उसमे कभी मिट्टी, अभ्रक, चूना और बालू भी मिलायी जाती थी। ये बरतन साधारण आकार के है। इनमे अधिकाश घडे, हाडिया, प्याले, कुल्हड और तश्तरिया है। मोहनजोदडो के बरतनो पर लेख नही है जब कि हड़प्पा से प्राप्त बरतनो पर लेख मिले है। अधिकाश बर्तन हल्के रग से रगे है, कुछ थोडे से काले और भूरे रग के बरतन भी मिले हैं। चमक लाने के लिए बरतनो पर रग लगा कर घोटा लगाया जाता था। इसके बाद इन पर अनेक प्रकार का अलकरण किया जाता था। प्राय सतह एक रग की होती थी और अलकरण दूसरे रग से किया जाता था। यह अलंकरण रेखाओ के द्वारा किया जाता था। अधिकाश बरतनो पर ज्यामितीय चित्रण मिला है। कुछ पर पशु-पक्षियों, यथा हरिण, बकरी, खरगोश, काक, बतख, मोर, गिलहरी, सर्प और मछली की चित्रकारी है। कुछ बरतनों पर वृक्षों और फूल-पत्तियो के चित्र हैं। इनमें पीपल नीम और खजूर के वृक्ष प्रमुख है। सिंधु प्रदेश के बरतनों में मानवाकृतियों का चित्रण नही मिलता। हड़प्पा के कुछ बरतनों पर मानवाकृतिया मिलती है। एक बरतन पर मछुए का चित्रण है।

कघे के दातो जैसा चित्रण भी बरतनो पर यदाकदा मिलता है ।[1] गुब्बारे, तारे, स्वस्तिक और सीढी आदि का चित्रण कुछ बरतनों पर मिला है । चन्हुदडो के दो बरतनो के टुकडो पर मोर साप पर झपटता हुआ प्रदर्शित किया गया है । हडप्पा से प्राप्त 'एच-कब्रिस्तान' बरतनो पर कुछ अलौकिक दृश्य के चित्र है, जैसे सूक्ष्म शरीर को स्वर्ग ले जाने का चित्रण[2] और वैतरणी का दृश्य ।[3] इनसे आभास होता है कि सिंधु घाटी के वासियों की परलोक सबधी अनेक धारणाये थी । लेकिन 'एच-कब्रिस्तान' की सस्कृति सिंधु सभ्यता के बाद की है ।

हडप्पा संस्कृति का पतन

अंत में स्वाभाविक प्रश्न यह उठ खडा होता है कि इतनी विकसित संस्कृति एव सभ्यता का पतन कैसे हुआ ? इसका कोई निश्चित उत्तर नही मिल सका है । केवल अनुमान के आधार पर कुछ अटकले लगायी गयी है । कुछ विद्वानो का अनुमान है कि किसी बाहरी जाति ने आक्रामक के रूप मे सिधु सभ्यता को नष्ट किया । सिंधु निवासी सपन्न और शातिप्रिय थे । उनके नगरो की सुरक्षा का समुचित प्रबध न था । अत सभवत वे निकटस्थ बर्बर जातियो के आक्रमण के शिकार बन गये होगे । मोहनजोदडो मे मानव के अनेक अस्थिपजर प्राप्त हुए है ।[4] इससे यह अनुमान लगाया गया है कि नगर पर आक्रमण हुआ होगा जिसमें स्त्री, पुरुष और बच्चो का निर्दयतापूर्वक सहार हुआ होगा ।[5] गार्डन चाइल्ड और ह्वीलर ने हडप्पा सभ्यता को विनाश करने के लिए आक्रामक आर्यों को उत्तरदायी ठहराया है । किंतु उनका अनुमान सतोषजनक नही जान पडता, क्योकि एक तो आक्रमणकारियो के अस्त्र-शस्त्रो के कोई अवशेष नही प्राप्त हुए है और दूसरे जो अस्थि-पंजर मिले है उनमे आर्य प्रकार के शारीरिक गठन वाले लोगो के पजर नही मिलते हैं । यदि युद्ध हुआ होता तो कुछ आक्रमण-कारियो के अस्थिपजर भी मिलने चाहिए थे ।

इस सबध मे दूसरा मत यह है कि सिधु नदियो के जलप्लावन के कारण मोहनजोदडो का विनाश हुआ है । सिंधु घाटी के निचले भागो में भू-विज्ञानियो

---

1 मैके, फर्दर एक्सकेवेशन्स ऐट मोहनजोदडो, 1,184 ।

2 वत्स, एक्सकेवेशन्स ऐट हडप्पा, 1,207 और आगे ।

3 वही ।

4 ह्वीलर, दि इण्डस सिविलिजेशन, पृ० 91 ।

5 मार्शल, मोहनजोदडो ऐण्ड इण्डस सिविलिजेशन और वत्स एक्सकेवेशन्स ऐट हडप्पा, 1,117 दृष्टव्य ह्वीलर, वही ।

ने सर्वेक्षण किये है जिनमे सिंधु नदी के वर्तमान तल से 70 फुट की ऊची भूमि पर नदी की रेत और मिट्टी मिली है। इससे स्पष्ट है कि बाढ का पानी कभी-कभी 70 फुट तक ऊचा चढ़ गया होगा। अत यह मत युक्तिसगत लगता है कि किसी समय सहसा विनाशकारी जलप्लावन हुआ होगा जिसके फलस्वरूप सिंधु नगर नष्ट हो गये होगे।

●

अध्याय तीन

वैदिक संस्कृति

वैदिक युग

भारतीय सदर्भ मे आर्यों के इतिहास के प्राचीनतम युग को वैदिक युग कहा जाता है। सर्वप्रथम **ऋग्वेद** की रचना हुई। इसके उपरात अन्य वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि की रचना हुई। इस सपूर्ण वैदिक साहित्य के सृजन एव सकलन मे सैकडो वर्ष लगे होगे। वैदिक काल को दो भागो मे विभाजित किया गया है। प्रथम युग को पूर्व वैदिक अथवा ऋग्वैदिक युग कहते है, क्योकि इस युग मे वेदो मे सबसे प्राचीन **ऋग्वेद** की रचना हुई थी। इसमे आर्यो की प्राचीन सभ्यता एव सस्कृति का दिग्दर्शन होता है। दूसरे युग मे यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तथा ब्राह्मण, आरण्यक आदि उपनिषद् साहित्य की रचना हुई। यह आर्यो की सस्कृति के विकास का युग था। इस काल मे आर्यो के सास्कृतिक जीवन मे बडे क्रातिकारी परिवर्तन हुए। इस उथल-पुथल, परिवर्तन एव परिवर्द्धन के काल को उत्तर वैदिक युग कहते है।

ऋग्वेदकालीन सस्कृति

भौगोलिक पृष्ठभूमि

ऋग्वेद मे प्रचुर मात्रा मे भौगोलिक सामग्री उपलब्ध है। ऋग्वेदकालीन भारत की भौगोलिक सीमाओ का ज्ञान **ऋग्वेद** मे उल्लिखित नामो मे होता है। पश्चिम की ओर कुभा (काबुल), क्रुमु (कुर्रम), गोमती (गोमल), सुवास्तु (स्वात) नदियो से प्रतीत होता है कि उस समय अफगानिस्तान भी आर्यो का क्षेत्र था। इसके उपरात पजाब की पाच नदियो सिंधु, वितस्ता (झेलम), आसिक्नी (चिनाब), परुष्णी (रावी), विपाश (व्यास) का उल्लेख है। सिंधु महानदी के अर्थ मे प्रयुक्त है पर इसी सहिता मे दो स्थलो पर सिधु का समुद्र के लिए भी प्रयोग किया गया है। इन नदियो के साथ शतुद्री (सतलज), सरस्वती तथा यमुना और गगा के भी नाम आये है। रावी को इरावती भी कहा जाता था।

भौगोलिक ऋग्वैदिक भारत अनेक जनो मे विभक्त था, जिनमे कुछ प्रमुख जनो के नाम उपलब्ध है यथा गाधारि (ऊनी माल के लिए प्रसिद्ध) मूजवत

(सोम के लिए प्रसिद्ध) अनु, द्रुह्य, तुर्वशु (परुष्णी के तट पर) पुरु और भारत (जो मध्य देश मे थे)।[1]

ऋग्वेद[2] मे केवल एक स्थल पर सप्तसिंधव अर्थात् सात नदियो का देश पंजाब के लिए आया है। वैदिक साहित्य मे कही भी पचनद शब्द नही आया है। **अवेस्ता** मे भी पजाब के लिए मुख्यत और भारतवर्ष के लिए साधारणतया 'हफ्त हिंदव' शब्द का प्रयोग किया है।

राजनीतिक संगठन

ऋग्वेदकालीन आर्य अनेक सगठनो में विभक्त थे, यथा कुल (परिवार), ग्राम, विश् (कबीला), जन और राष्ट्र। देश के लिए राष्ट्र शब्द का प्रयोग हुआ है।[3] एक राष्ट्र अथवा देश मे अनेक जन होते थे। प्रधान जन पाच थे।[4] यथा अनु, द्रुह्य, यदु, तुर्वस एव पुरु। ये पाच जन सरस्वती नदी के **दोनो तटो** पर निवास करते थे। इनके अतिरिक्त भी अनेक जन थे यथा भरत, मित्सु, सुजय एव त्रिवि आदि। ये 'जन' आपस मे लडा करते थे। एक बार इन जनो के युद्ध मे दस राजा सम्मिलित हुए थे। इसोलिए इस युद्ध का नाम 'दसराजयुद्ध' पडा। इस युद्ध मे विजयो सुदाम (जिसके पुरोहित एव नेता वसिष्ठ थे) भारत के सर्वोपरि सम्राट् बन गये। यह सघर्ष उस राजनीतिक विकास का अग था जिसके द्वारा ऋग्वैदिक भारत बडे राजनीतिक समूहो मे सगठित हो गया।[5] सम्राट् या राजा को 'जन' का गोप्ता अथवा रक्षक कहा गया है।

'जन' अनेक विशो (कबीलो) मे विभक्त था। विश् का मुखिया विश्पति कहलाता था। विश् के अतर्गत अनेक ग्राम होते थे। ग्राम मे कई कुल (परिवार) रहते थे। गाव का मुखिया ग्रामणी कहलाता था। राजनीतिक सगठन की मूल-भूत इकाई कुल थी, जिसका प्रधान पिता अथवा ज्येष्ठ भ्राता होता था, जो 'कुलप' कहलाता था। एक कुल मे अविभक्त परिवार के साथ गायें एवं भेड बकरिया भी रहती थी।

---

1 ऋग्वेद सहिता, 5, 53, 9, 8, 24, 30 और 10-75 ई०।

2. वही, 5, 11, 5 और 8, 25-14।

3 ऋग्वेद 4, 42।

4 पचजना तथा यादवा, ऋग्वेद 3, 6, 46, 48 और भारत जन 3, 53, 12।

5. हिन्दू सभ्यता पृ० 71।

राजा

आर्य एव अनार्यों के बीच और आर्यों में ही परस्पर युद्ध के कारण शक्तिशाली राजा की उत्पत्ति हुई थी । राजा के अभाव मे जो दुर्दशा होती है उसका भी चित्रण ऋग्वेद मे हुआ है । युद्ध के समय राजा सेना का अग्रणी होता था । उसे 'जन' का 'गोप्ता'[1] और दुर्गों का भेदन करनेवाला[2] कहा गया है । राजा की इन सेवाओं के बदले प्रजा उसकी आज्ञा मानती थी और उसे कर देती थी । साथ ही राजा प्रजा को न्याय देता था । व्यवहार सबधी मामलों मे राजा धर्माध्यक्ष तथा दडनीति के क्षेत्र मे वह प्रजारक्षक था । उसके अधिकार विस्तृत थे । वह स्वय दड से परे था ।[3] किंतु प्रजा को साधारणतया वह प्रमुख दड देनेवाला था । राजा विशिष्ट वेश धारण करता था[4] और भव्य राजप्रसाद मे रहता था ।[5] प्रारभ मे राष्ट्र की समग्र प्रजा राजा का चुनाव करती थी ।[6] उपरात वह पद पैतृक हो गया, फिर भी सिहासन पर बैठने के लिए प्रजा की अनुमति आवश्यक थी ।

राजा के मत्रिगण

इनमे सर्वप्रमुख पुरोहित था ।[7] वह शांति तथा युद्ध दोनो अवस्थाओ मे राजा का शिक्षक, पथप्रदर्शक, मित्र तथा राजनीति एव धार्मिक-परामर्शदाता होता था । ऋग्वेद मे अनेक पुरोहितो का उल्लेख हुआ है यथा विश्वमित्र, वसिष्ठ, भरत, राजा सुदास के पुरोहित थे,[8] कुरु-श्रवण राजा का पुरोहित[9] और देवापि शातनु राजा का ।[10] राजा का दूसरा प्रधानमत्री सेनानी (सेनापति) था । तीसरा मत्री ग्रामणी था, जो सैनिक आर्थिक और सामाजिक सभी मामलो

---

1. गोप्तजिनस्य देखिए हिन्दू सभ्यता पृ॰ 81 ।
2. पुरामेत्ता देखिए वही ।
3. अदण्डय देखिए हिन्दू सभ्यता पृ॰ 82 ।
4. त्वेष सदृश, ऋग्वेद ।
5. ध्रुवे सदस्युत्तमे । सहस्र-स्थूण आसाते, ऋग्वेद 2, 41, 5 और 7, 88, 5 सहस्र द्वार जगमा गृहते ।
6. ताईं विशो न राजान वृणाना' ऋग्वेद, 10, 124, 8 ।
7. ऋग्वेद 1, 1, 1 ।
8. वही 3, 33, 53 ।
9. वही 10, 33 ।
10. वही 10, 98 ।

में ग्रामो का प्रमुख था। राजा के व्यक्तिगत पार्श्वचर का भी उल्लेख मिलता है।

परिषदें

ऋग्वेदकालीन आर्यों की दो जनतान्त्रिक सस्थाये थी—सभा और समिति। ये राजा की एक-छत्र शक्ति पर अकुश लगानेवाली सार्वजनिक परिषदें थी, जो जनहित के कार्यों मे तथा राजा के निर्वाचन तक मे अपना मत प्रकट करती थी। उनके स्वरूप और कार्यों के विषय मे ऋग्वेद मे ब्योरा नही मिलता। सभा का अर्थ ससद और सार्वजनिक सभा-स्थल लगाया गया है। सभा मे श्रेष्ठ व्यक्ति सभासद और सभा के योग्य व्यक्ति सभेय कहलाते थे। कुलीन व्यक्ति सभा मे जाते थे। सभा वृद्ध अथवा प्रवर जनो की परिषद् थी। इसके साथ समिति का भी उल्लेख हुआ है। राजा के प्रिय पात्र समिति के सदस्य होते थे। समिति समस्त विश् या प्रजा की सस्था थी जिसमें राजनीतिक और सामाजिक समस्याओ पर विचार होता था। राजा का निर्वाचन इसी मे होता था। राजा इसके अधिवेशनो मे उपस्थित रहता था। राजा इसके सदस्यो को अपने अनुकूल रखने का प्रयत्न करता था। एक स्थल पर राजा और समिति दोनो की सहमति के लिए प्रार्थना की गयी है। सभा समिति से छोटी संस्था थी जिसमे विशो में से चुने हुए परामर्शदाता होते थे। उनकी सहायता से राजा अपने दैनिक कार्यों का सचालन एव आम लोगो की शिकायतो को सुनकर अपना निर्णय देता था।

न्याय

राजा राज्य की सपूर्ण सत्ता का केंद्र बिंदु था। वह देश का सर्वोच्च पदाधिकारी, सेनापति तथा न्यायाधीश था। उस समय यह प्रथा थी कि मारे गये व्यक्ति के सबधियो को धन देकर उसके प्राण के बदले में उऋण हुआ जा सकता था। एक स्थान पर एक व्यक्ति के प्राणो के मूल्य के रूप मे सौ गायो के दिये जाने का उल्लेख है।[1] पचो द्वारा भी न्याय होता था।[2] यद्यपि मृत्यु दड भी प्रचलित था तथापि अधिकाश मामलो मे शारीरिक दंड ही उपयुक्त समझा जाता था। अग्नि परीक्षा के उदाहरण उपलब्ध है। ऋण न अदा करने पर बहुधा ऋणी को ऋणदाता का दासत्व स्वीकारकरना पडता था।

समाज रचना

ऋग्वेदकालीन भारतीय समाज आर्य एवं आर्येतर जातियो से मिलकर बना

1 ऋग्वेद संहिता 2, 32, 4

2. वही 10, 97, 12

था। प्रमुखत: ये ही दो वर्ग थे। किंतु आर्थिक और सामाजिक जीवन के विकास के साथ-साथ कई वर्गों की उत्पत्ति हुई। इसका आधार समाज भी था। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए श्रम विभाग था। ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में इस विभाग का उल्लेख किया गया है।[1] विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, उसकी बाहुओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य तथा पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। किंतु ये वर्ग अभी पैतृक नहीं बने थे, व्यवसायों का अदलबदल संभव था। एक ही परिवार के व्यक्ति विभिन्न प्रकार अथवा वर्ग के व्यवसाय करते थे। शिशु अंगिरस ने कहा है, 'मैं कवि हूँ। मेरे पिता वैद्य हैं और मेरी मां अन्न पीसनेवाली है। साधन भिन्न हैं किंतु सभी धन की कामना करते हैं।' सामाजिक वर्गों में परस्पर मिलना-जुलना संभव था।

परिवार

परिवार समाज की सबसे छोटी इकाई थी। परिवार संयुक्त तथा पितृ-प्रधान था, किंतु पत्नी का पर्याप्त महत्त्व था। ऋग्वेद में बहुपति विवाह और बालविवाह का उल्लेख नहीं मिलता।[2] स्त्रियों को अपना पति चुनने की स्वतंत्रता थी।[3] अंतर्वर्ण विवाह (दासों को छोड़ कर), विधवा विवाह और नियोग प्रथाएं प्रचलित थीं। सीमित अवधि के लिए भी विवाह संबंध करने के उदाहरण उपलब्ध हैं यथा पुरुरवा और उर्वशी का प्रतिबद्ध विवाह। मानव पुरुरवा, अप्सरा उर्वशी को स्थायी पत्नी बनाने के असफल प्रयास करता है। इसके उत्तर में कामदग्ध पुरुरवा से उर्वशी कहती है, "पुरुरवा मरो मत, नष्ट मत हो, निर्दय भेड़ियों के भक्ष्य मत बनो। स्त्री की मैत्री कभी स्थायी नहीं होती, उसका हृदय वृक के समान होता है।"[4]

नारी की स्थिति

ऋग्वेद काल में पितृसत्तात्मक सामाजिक संगठन होने पर भी समाज में स्त्रियों की प्रतिष्ठा थी। बौद्धिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक जीवन में उसे स्त्री, कन्या तथा माता के रूप में निरंतर सम्मान दिया जाता था। धार्मिक

---

1. "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ ऋ० 10, 90, 12 शूद्रो।"

2 ऋग्वेद 10-35

3. वही 9, 115, 2 देखिये भगवत शरण उपाध्याय कृत वीमेन इन ऋग्वेद और अल्तेकर कृत पोजीशन आफ वीमेन इन हिंदू सिविलाइजेशन।

4. ऋग्वेद 10-85

कृत्यों, सामाजिक उत्सवों एव समारोहो आदि मे वे पुरुषो के साथ समान आसन ग्रहण करती थी।[1] पत्नी के रूप में स्त्रिया घर की सम्राज्ञी होती थी। गृह-स्वामिनी और सहधर्मिणी शब्द उनके पारिवारिक गरिमा तथा महत्त्व के परि-चायक हैं। कन्याओं को उच्च शिक्षा प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार था। उन्हे सभाओ में सम्मिलित होने का अधिकार था। इसी दृष्टि से वे "सभावती" सज्ञा से अभिहित की जाती थी। एक स्थल पर वधू के लिए यह शुभकामना की गयी कि वह सभा मे आत्मविश्वास के साथ बोले। दूसरे स्थान पर उपस्थित सभ्यो मे वधू को देखने के लिए कहा गया है। कुछ स्त्रिया अपने रणकौशल के कारण रणभूमि मे अपने पतियो का साथ देती थी। घोषा, लोपामुद्रा आदि वैदिक स्त्रियों की गणना ऋषियो में थी।[2] उन्होंने वैदिक सूत्रो की रचना की थी। पर्दा प्रथा का प्रचलन नही था। स्त्री को घूमने-फिरने की स्वतत्रता थी। परिवार के पितृसत्तात्मक होने के कारण स्त्रियो का आर्थिक अधिकार पुरुष के बराबर नही था परतु गृहस्वामिनी होने के कारण पति की सपत्ति का वह पूरा उपयोग करती थी। पुत्र की भाति पुत्री को भी उपनयन, शिक्षा-दीक्षा एवं यज्ञादि का अधिकार था। कभी-कभी कन्याये बडी उम्र तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती थी। लोपामुद्रा, घोषा, सिकता, विश्ववारा आदि विदुषी स्त्रियों का उल्लेख है, जिन्होने ऋषियों की भाति ऋचाओ की रचना की थी। उन्हे यज्ञ करने का भी अधिकार था।[4]

पिता की सपत्ति का अधिकारी पुत्र होता था, पुत्री नही। किंतु यदि पुत्री ही पिता की एकमात्र सतान हो तो उतराधिकार उसी को मिलता था। गोद लेने की प्रथा प्रचलित थी।[5]

वस्त्राभूषण एव शृ गार

ऋग्वेद काल की वेषभूषा मे[5] एक अधोवस्त्र (नीवी) और एक उत्तरीय सम्मिलित थे।[6] वस्त्रो पर कसीदे की कढाई होती थी। वस्त्र कपास, ऊन और रेशम के बनते थे। मृगचर्म और दूसरे चमडे भी वस्त्र बनाने के काम आते थे।

1. वही 5, 3, 2, 5, 28, 3
2 ऋग्वेद, 1, 167, 3
3. वही, 8, 91, 1
4 ऋग्वेद 7, 4, 7-8।
5. वही 1, 34, 11, 95, 71, 26, 17
6. वही 1, 140, 9

स्त्री और पुरुष सभी स्वर्ण निर्मित आभूषण पहनते थे यथा कानों मे कर्ण-शोभन, गले मे निष्क, हाथो मे कडे, पैरो मे खडवे, वक्षस्थल पर सुनहले पदक तथा मणिया आदि। स्त्री और पुरुष दोनो ही बालों का प्रसाधन करते थे। पुरुष उष्णीष बाधते थे या शाल ओढते थे। कुल लोग दाढी रखते थे। क्षौर-प्रक्षालन की प्रथा थी। नाई का भी उल्लेख आया है।

खाद्य एव पेय

खीर, घी और दही का भोजन में सर्वाधिक महत्त्व था। पनीर, मालपुआ और सत्तू का भी प्रचलन था। मास का प्रयोग होता था। गाय को वध के अयोग्य कहा गया है। सुरा का प्रयोग निंदनीय समझा जाता था। उसे पीकर लोग सभा-समितियो मे आपस मे झगडते थे। सोम लता को कूटकर सोमरस तैयार किया जाता था। यह पेय देवो का नैवेद्य विशेष था। सोमरस मादक और आनददायी था।

आमोद-प्रमोद

ऋग्वेद काल के लोग जीवन के प्रति उदासीन न थे। वे जीवन मे पूर्ण रस लेते थे। उनकी इस प्रवृत्ति का परिचय उनकी विनोद क्रीडाओ से प्राप्त होता है। आमोद-प्रमोद के विभिन्न साधनो मे अपने को हर्षोल्लसित करना उनके जीवन का लक्ष्य था। आमोद-प्रमोद मे दौड, घोडो की दौड, पासे खेलना, नृत्य एव गायन प्रमुख थे। स्त्री और पुरुष दोनो ही झाझ-मजीरे और अन्य बाजो की संगति मे नृत्य करते थे। सगीत का विकास हो चुका था। आखेट का भी विशेष महत्त्व था। ऋग्वेदिक आखेट मे जिन पशुओ का वध किया जाता था उनमें हरिण, सिंह, हाथी, सुअर और भैसे जैसे पशु उल्लेखनीय हैं। वेदो मे यक्षो द्वारा द्यूत खेलने का उल्लेख है। उसे निन्दनीय माना गया है, फिर भी उसका चलन था। उससे लोगो का सर्वनाश हो जाता था। ऋण उतारने के लिए अपने-आपको दूसरे के यहा दास तक बनाना पडता था। एक स्थल पर एक द्यूत-व्यसनी पुत्र को अपने पिता की डाट-फटकार सहनी पडती थी। मेलो, त्योहारो और उत्सवो के अवसर पर मन बहलाव होता था। स्त्री और पुरुष, युवक और युवतिया स्वतत्रता से इनमे भाग लेते थे।

आर्थिक जीवन का आधार तथा संगठन

ऋग्वेदकालीन सस्कृति ग्राम-प्रधान थी। ग्राम ही तत्कालीन समाज की सबसे छोटी राजनीतिक एव सामाजिक इकाई थी। खेती योग्य भूमि को उर्वरा अथवा क्षेत्र कहते थे। कई बैलो (छ, आठ या बारह) से हल चलाने और

शकट खीचने का काम लिया जाता था। खेती की सब क्रियायें—जुताई, बोवाई, सिंचाई, कटाई, दवाई आदि प्रचलित थी। खाद का प्रयोग किया जाता था। मनुष्यों के पीने के पानी की व्यवस्था कुए खोद कर और पशुओं के लिए चर-हिया बना कर की जाती थी। कुए से सिंचाई का पानी खीचने के लिए चरस, बरत और गगरी का प्रयोग किया जाता था। ऊपर निकाला हुआ पानी बरहो द्वारा खेतो मे ले जाया जाता था। पोखर तथा नहरो द्वारा सिंचाई होती थी। ऋग्वेद मे कई स्थलो पर वर्षा के लिए प्रार्थना की गयी है। गेहूँ और जौ की प्रमुख उपज थी। विभिन्न दालो और तिल की खेती होती थी।

कृषि के साथ-साथ पशु-पालन भी आर्यों का प्रमुख धधा था। अनेक प्रकार के पशु पाले जाते थे—यथा गाय, बैल, घोडे, गधे, खच्चर, कुत्ते, भेडे और बकरिया आदि, और उनसे विभिन्न प्रकार के काम लिये जाते थे। पशुओ का व्यापार होता था। गाय विनिमय का माध्यम थी।

उपर्युक्त उद्योगो के अतिरिक्त अन्य औद्योगिक व्यवसाय भी प्रचलित थे। इनमे बढई गिरी, धातुकर्म, स्वर्णकारी, चर्मकारी, कताई, बुनाई, धुनाई, वैद्यकी और पत्थर कूटने का काम आदि विशेष उल्लेखनीय है। इन कलाकारो को समाज मे उच्च स्थान प्राप्त था।

ऋग्वेद मे व्यापारी के लिए वणिक् शब्द प्रयुक्त हुआ है। वस्तुओ के विनिमय की प्रथा थी। विभिन्न सदर्भो मे निष्क का उल्लेख हुआ है जिसे कुछ लोग सिक्का मानते है। ऋण का व्यवहार भी चलता था। व्याज का भी प्रच-लन था। सामुद्रिक व्यापार भी होता था। समुद्र से प्राप्त होनेवाले धन का उल्लेख हुआ है। एक स्थल पर जहाज के समुद्र मे टूट कर डूब जाने का उल्लेख है।

विद्या एवं शिक्षा[1]

ऋग्वेद कालीन सस्कृति का आधार सादा जीवन और उच्च विचार था। चिंतन पर विशेष बल दिया जाता था। ऋग्वेद मे विभिन्न मत्रो के रचयिता कवियो का परिचय मिलता है।[2] वे मंत्र उस ऋषि के पुत्रो एव शिष्यो के माध्यम से कुल मे परपरा से सुरक्षित रहते थे। इस प्रकार प्रत्येक ऋषि-कुल एक लघु-विद्यालय के समान था।[3] इन समस्त ऋषि-कुलो के कार्य के फलस्वरूप मत्रो की प्रभूत सामग्री व्यापक राष्ट्रीय संग्रह के रूप सचित हो गयी। मत्रों के इस विशाल भडार में पूजा उपासना के लिए एक सुलभ संग्रह

---

1 विंतरनित्स, हिस्ट्री आफ इडियन लिटरेचर भाग 1 तथा बलदेव उपा-ध्याय कृत संस्कृत साहित्य का इतिहास।

2 ऋग्वेद, 1, 1, 2।

3 हिंदू सम्यता, 85।

की आवश्यकता थी। अस्तु ऋग्वेद सहिता का जन्म हुआ। इस प्रकार डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार "विद्या के विकास की चार अवस्थाए है—(क) सबसे पूर्व मत्रो का उदय, (ख) विभिन्न केन्द्रो या ऋषि-कुलों में नूतन रचनाओ द्वारा मत्रो का बाहुल्य (ग) ऋग्वेद सहिता के रूप मे मत्रो का संग्रह एव (घ) ऋग्वेद सहिता मे सग्रहीत की गयी मौलिक सामग्री को आधार मान कर अन्य तीन वैदिक सहिताओ का विकास।"

ऋग्वेद मे वर्णित यह विकास दीर्घकालिक इतिहास का सूचक है। मैक्डानल के अनुसार ऋग्वेद मे प्राप्त सब मत्रो के अस्तित्व मे आने मे सहस्रों वर्ष लगे होगे।' विटरनित्स के अनुसार 'मत्रो की रचना और ऋग्वेद सहिता के पूर्ण रूप मे तैयार हो जाने के बीच अनेक शताब्दिया व्यतीत हुई होगी। इसी के परिणामस्वरूप ऋग्वेद की भाषा शुद्ध एव परिष्कृत है तथा विचार सर्जनात्मक है। मत्रो के पाठ मे मौलिकता है और वे साहित्यिक कुशलता से परिपूर्ण है। इस सबध मे मैक्डानल का कथन है कि "भारतीय ग्रथो की पाठ-परपरा जितनी सच्ची है वह किसी भी अन्य प्राचीन साहित्य मे नही मिलती।"

आचार्य का घर ही विद्यालय था। यहा वह अपने शिष्यो व पुत्रो को शास्त्र पढाता था। पाठ कठस्थ किये जाते थे। प्रवचन और उच्चारण पर बल दिया जाता था। तप आत्मदर्शन की युक्ति थी। मानसिक चिंतन व ध्यान से ज्ञान प्राप्त होता था।[1] आत्मानुभूति के लिए विद्यार्थी तप करते थे जिससे वे मुनि, विप्र आदि पद प्राप्त करते थे।

कन्याओ का विवाह युवावस्था मे होता था जिसमे उन्हे विवाह से पूर्व शिक्षा-दीक्षा के लिए समय मिल जाता था। घर मे कन्या गार्हस्थ्य जीवन के सभी कार्य करती थी। अपाला अपने पिता को कृषि कार्य मे योग देती थी।[3] कन्याए कताई, बुनाई और सिलाई का काम करती थी।[4] कन्याओ को ललित कलाओ की शिक्षा दी जाती थी। नृत्यकुशल स्त्रियो का भी उल्लेख है।[5] उनके मान का भी उल्लेख हुआ है।[6] ऋग्वेद मे शिक्षित स्त्री-पुरुष के विवाह को उपयुक्त माना गया है।[7] पुत्रियो का भी उपनयन सस्कार होता था। वे

1 ऋग्वेद 7, 108।
2 वही 10, 13, 6, 2।
3 वही 8, 98, 5-6।
4 वही 1, 91, 14
5 वही 1, 92, 4।
6 वही 10, 71, 11।
7 वही 8, 91, 1।

ब्रह्मचर्यव्रती भी होती थी। उन्हें यज्ञ करने का भी अधिकार था। ऋग्वेद में लोपामुद्रा, घोषा, सिकता, नियावरी और विश्वारा आदि विदुषी स्त्रियों का उल्लेख है।

धर्म तथा दर्शन

ऋग्वेदकालीन आर्यों के धर्म में देवी-देवताओं का बाहुल्य है। आर्य एक ओर दैवी शक्तियों की उपासना एवं याज्ञिक अनुष्ठान सम्पन्न करते थे तो दूसरी ओर तत्त्व-चिंतन तथा सृष्टि के प्रति जिज्ञासापूर्ण भाव रखते थे। इसी विचार-धारा के फलस्वरूप उपनिषद आदि धार्मिक साहित्य की रचना हुई।

देवताओं का वर्गीकरण

ऋग्वेदकालीन लोगों का विश्वास था कि प्रकृति में हम अनेक शक्तियों को देखते हैं। वर्षा, उष्णता, शीतलता सभी नियमानुकूल होती हैं। इन प्राकृतिक शक्तियों का कोई अधिष्ठाता (देवता) भी होना चाहिए। अस्तु प्राकृतिक दशा का सम्भाव रख कर ऋग्वेदकालीन देवताओं को तीन दलों में विभाजित किया जा सकता है—

1—पार्थिव देवता, यथा अग्नि, सोम, पृथ्वी।

2—अंतरिक्ष के देवता यथा इन्द्र, वायु, मरुत, पर्जन्य।

3—स्वर्ग के देवता यथा द्यौस्, वरुण, मित्र, सूर्य, सविता, पूषन, और विष्णु।

पृथ्वी, स्वर्ग एवं अंतरिक्ष के विभिन्न क्षेत्रों में प्रकृति की, जो शक्तियां दृष्टिगत हैं, उनको देवता के रूप में मानकर आर्यों ने उनकी पूजा की तथा उनकी स्तुति में अनेक सूक्तों का निर्माण किया। अदिति, उषा, सरस्वती आदि के रूप में अनेक देवियों का भी उल्लेख हुआ है। श्रद्धा और इडा भावात्मक दृष्टि से मन के हृदय और भावपक्ष के प्रतीक हैं। अनेक देवी देवता प्राकृतिक शक्तियों के मूर्त्त रूप हैं किंतु कुछ देवता यथा श्रद्धा और मन्यु (क्रोध) ऐसे भी हैं जिन्हें भाव रूप में समझा जा सकता है।[1]

इन समस्त देवताओं की आराधना के लिए ऋग्वैदिक आर्य यज्ञों का अनुष्ठान करते थे। यह समझा जाता था कि अग्नि में दी गई आहुति देवताओं तक

---

1. ऋग्वेद 2—3—8

पहुँचती है। इसके साथ ही वे प्रार्थनाएं करते थे क्योकि उनका विश्वास था कि प्रार्थनाए भी देवताओ तक पहुँचती है।[1] किंतु अभी न तो देवताओ की मूर्तिया निर्मित हुई थी और न मन्दिरो का निर्माण हुआ था। उनका सीधा, प्रत्यक्ष और सजीव सबध प्रकृति से था।

उपासना के लिए प्रतीक की आवश्यकता न थी। अनार्यों में प्रचलित लिग पूजा को वे घृणा की दृष्टि से देखते थे, किंतु आर्यों मे भक्ति मार्ग के तत्व वरुण और विष्णु की कल्पना एव स्तुति मे पाये जाते है।

एकेश्वरवाद

ऋग्वेद मे एकेश्वरवाद की ओर स्पष्ट सकेत[2] आध्यात्मिक उन्नति की द्योतक है। इन सारे देवताओ मे परे एक ऐसी सत्ता की कल्पना की है जो सर्वोपरि है और समस्त सृष्टि की जन्मदात्री है। यह सर्वोपरि शक्ति ईश्वर है किंतु एकेश्वरवाद में भी ईश्वर, जीवात्मा और सृष्टि का त्रैत बना हुआ है जो एकत्व की खोज में बाधक है। इस प्रकार सर्वेश्वरवाद का जन्म हुआ, जिसके अनुसार एक ही विराट् पुरुष से सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न एव विकसित हुआ है। वह अतर्व्यापी और अतर्यामी था। उनके अनुसार इन विभिन्नताओ के बीच 'सत' का ज्ञान ही आत्मा का भी ज्ञान है। बाह्य रूप से भिन्न जीवो की आत्मा एक है।[3] इस प्रकार ऋग्वैदिक आर्यों ने जहा बाह्य रूप से बहुदेवतावाद का अनुगमन किया है। वहा आभ्यतरिक दृष्टि से वे एकेश्वरवाद और एकात्मवाद मे भी निष्ठा रखते थे। यह वैदिक दार्शनिक विचारधारा की चरम सीमा थी। इस प्रकार **ऋग्वेद** से आर्यो के बौद्धिक विकास की तीन स्थितियो का आभास होता है—बहुदेवतावाद, एकेश्वरवाद और एकात्मकवाद।

---

1 ओल्डेनबर्ग ऐंशेण्ट इण्डिया पृ० 71

2 इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान्।
एक सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यम मातरिश्वानमाहु ॥
ऋ० 1।164।46

अर्थात वह दिव्य सुदर पक्षो वाला और गतिशील है जिसे इंद्र, मित्र, वरुण और अग्नि ऋषियो ने कहा है। वास्तव मे सत् (वस्तुसत्ता) एक ही है, विद्वान् अनेक प्रकार से उसका वर्णन करते है—अग्नि यम, मातरिश्वा आदि उसको कहा गया।

3 ऋग्वेद 10, 114, 10, 88, 15 तथा 10, 107

नैतिक पक्ष एवं पुनर्जन्म

याज्ञिक अनुष्ठानों और स्तुतियो के साथ अन्त करण की शुद्धि[1] दान[2] तथा सद्‌गुणों पर विशेष बल दिया गया है।[3] इसके साथ ही जादू टोना-टोटका, धोखा, व्यभिचार आदि की निन्दा की गयी है।[4] धर्म देवतात्मक होते हुए नैतिक था।

ऋग्वेद मे पाप-पुण्य एवं स्वर्ग-नरक का विचार भी अभिव्यक्त किया गया है।[5] ऋग्वेद मे अमरता का उल्लेख है[6] किंतु मोक्ष का नही। सभवत. वे मोक्ष के स्थान पर स्वर्गप्राप्तिको सर्वोच्च लक्ष्य मानते थे। वे आत्मवादी थे और पूर्व-जन्म मे विश्वास करते थे।[7] डॉ० राधा कुमुद मुखर्जी के अनुसार, 'ऋग्वेद मृत्यु के अनतर होनेवाले उस जीवन में विश्वास करता है जो यम द्वारा अनुशासित लोक मे प्राप्त होता था।'[8]

उत्तरकालीन वैदिक संस्कृति

उत्तर वैदिक काल मे शेष तीनो वेदो (यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद), ब्राह्मण साहित्य तथा उपनिषद् साहित्य की रचना हुई। यह काल अपेक्षाकृत लम्बा है। इसमे आर्य सभ्यता एव सस्कृति का विस्तार एव विकास पजाब से आगे शेष उत्तरी भारत तथा दक्षिण भारत में होने लगा। यह सभ्यता एव सस्कृति ऋग्वैदिक सभ्यता एव सस्कृति की अपेक्षा अधिक समृद्ध एव सम्पन्न थी।

भौगोलिक पृष्ठभूमि

ऋग्वेदयुगीन सभ्यता एव सस्कृति केवल पजाब तक सीमित थी किंतु अब आर्यों का विस्तार महावृषो, बाल्हीको, [illegible]वन्तो तथा गाधारियो के प्रदेशो से लेकर अग, मगध तक सपूर्ण उत्तर भारत मे हो चुका था। इसके साथ-साथ आर्य उत्तर मे बग और दक्षिण मे चेर तक के प्रदेशो से परिचित हो चुके थे।[10] किंतु इस समय तक आर्य सभ्यता विध्य के उस पार नही फैली थी।

सपूर्ण आर्यावर्त को अधीन कर लेने के उपरात आर्य-अनार्य संघर्ष की समस्या समाप्तप्राय हो गयी थी और जीवन सुव्यवस्थित हो चुका था। राजा-

1–7 ऋग्वेद

8. देखिये मैक्डालन, कीथ कृत वैदिक इडेक्स तथा कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इडिया, अध्याय 4-5 द्रष्टव्य हिंदू सभ्यता, पृ० 90

9 अथर्ववेद 5, 22, 14

10 ऐतरेय आरण्यक, 2, 1, 1 देखिए एन० के दत्त कृत दि आर्गनाइजेशन आफ इडिया तथा वी रंगाचारी कृत प्री इंडिया।

गण युद्ध त्याग कर विद्वत्परिषदो का आयोजन करने लगे थे। नगर बस गये थे। पाचालो की राजधानी काम्पिल्य और कुरुओ का आसन्दीवत इसी प्रकार के विशाल नगर थे। कौशाम्बी तथा काशी का भी उल्लेख आया है।

जन सगठन

इन परिवर्तनो के साथ प्राचीन 'जन' के सगठन में परिवतन हो चुका था। अनेक 'जन' लुप्त और अनेक महत्त्वपूर्ण हो गये थे। ऋग्वेद के भरत शक्तिहीन हो गये थे और कुरु तथा पाचाल शक्तिशाली हो गये थे। इनकी सस्कृति तथा सुदर भाषा की प्रशसा की गयी है।[1] राजा परीक्षित तथा जनमेजय के शासन-काल मे कुरु अपने परमोत्कर्ष पर थे। 'मत्स्य' जन का भी उल्लेख हुआ है जो जयपुर और अलवर के पास बसे थे।[2]

जनपद राज्यो का अभ्युदय

जनो के सम्मिश्रण के परिणामस्वरूप जनपद राज्यो का उदय हुआ। तात्कालिक राजनीतिक परपरा मे सार्वभौम तथा अधिराज्य आदि सत्ताओ का उदय हुआ। इस काल मे राजा वाजपेय, राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञो को सपन्न कर अपनी बढती हुई शक्ति का परिचय दे रहे थे। राज्यो का सीमा-विस्तार के साथ-साथ नृपतियो के विरुद् भी बदलते गये। बल और वैभव के अनुरूप उन्हे भिन्न पदो से विभूषित किया गया। साधारण नृपति के लिए राजा तथा बडे राजाओ के लिए अधिराज, राजाधिराज, विराट्, एकराट् तथा सार्वभौम अधिपति शब्दो का प्रयोग होता था।[3] साहित्यिक साक्ष्यो से प्रतीत होता है कि इस समय वैदिक सस्कृति के मुख्य केन्द्र तीन राज्य थे—कोसल, काशी और विदेह जो कभी कभी एक साथ मिल भी जाते थे। अट्णार के पुत्र पर कोसल और विदेह दोनो के राजा कहे गये है।[4] तथा जलजातुवर्ण्य कोसल और काशी तथा विदेह के पुरोहित कहे गये है।[5] उत्तर वैदिक काल के सर्वाधिक ख्याति प्राप्त दार्शनिक सम्राट् थे—काशी के अजातशत्रु और विदेह के जनक जो उस समय श्वेतकेतु एव याज्ञवल्क्य के साथ वैचारिक जगत का नेतृत्व कर रहे थे।[6]

---

1 शतपथ ब्राह्मण 2, 2, 3, 15 और देखिए कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इडिया, 1, 118-119।

2 विमलाचरण लहा कृत ऐशेंट मिड इडियन क्षत्रिय ट्राइब्स।

3 रमाशकर त्रिपाठी, प्राचीन भारत का इतिहास पृ. 36

4 शाखायन श्रौत सूत्र, 16, 9, 11

5 वही, 16, 29, 6

6 हिंदू सभ्यता, पृ 94

राजनीतिक संगठन

राज्यों के विस्तार के साथ-साथ राजा का महत्त्व बढ गया। उत्तर वैदिक साहित्य मे राजत्व के प्रादुर्भाव के विषय मे अनेक कथन है।[1] एक स्थल पर राजाविहीन राष्ट्र का उल्लेख है।[2] **ऐतरेय ब्राह्मण** के अनुसार देवासुर संग्राम में असुरों ने देवो को अनेक बार परास्त किया था। देवो ने कहा 'हमारे यहा राजा न होने के कारण असुर विजयी होते है, अस्तु हम भी राजा का चुनाव करें। इससे सब सहमत हुए। **तैत्तरीय ब्राह्मण** के अनुसार समस्त देवताओं ने इन्द्र को राजा बनाना चाहा[3] क्योकि वे सर्वाधिक सबल देवता थे। जब कभी दैवी आपदा आती थी तो सबल निर्बल का उत्पीडन करते थे।[4] राजत्व प्रतिष्ठा का आधार जनमत था। राजा को पदमुक्त भी किया जा सकता था। एक स्थल पर निष्कासित राजा के पुन वरण किये जाने का उल्लेख मिलता है।[5] अन्यत्र राजा के पुनर्निर्वाचन का उल्लेख मिलता है। निष्कासित राजाओ के लिए एक विशेष प्रकार के यज्ञ की व्यवस्था की गयी थी।[6] साधारणत राजा कुलागत होता था और यद्यपि वह स्वच्छद था तथापि निरंकुश नही। शासन का सचालन करने मे राजा मन्त्रिपरिषद् की सहायता लेता था। मन्त्रिपरिषद के सदस्य 'रत्नि' कहलाते थे। **शतपथ ब्राह्मण** में इनकी सख्या ग्यारह दी गई है।

राज्याभिषेक के अवसर पर राजसूय यज्ञ का आयोजन किया जाता था।[7] इसका सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण अग 'रत्नियो' के प्रति सम्मान प्रदर्शन था। राजा उनके घर जाता था और प्रत्येक को हवि देता था। इससे प्रकट है कि राजा के लिए रत्नियों का सहयोग और अनुमोदन प्राप्त करना आवश्यक था। राज्यभिषेक का राजनीतिक, धार्मिक एव वैधानिक महत्व था। मनोनीत राजा सवप्रथम पृथ्वी की अनुमति इन शब्दो के साथ मागता था, "माता पृथ्वी तुम मेरी हिंसा न करो और मै तुम्हारी हिंसा न करू।" इससे यह प्रकट होता है कि राजा और और देश एक दूसरे के हितैषी हो, जैसे माता और पुत्र।[8] इसके उपरात वह

---

1 ऐतरेय ब्राह्मण, 1, 1

2 वही 7, 3, 14

3. तैत्तरीय ब्राह्मण, 2, 2, 7, 2

4 शतपथ ब्राह्मण 11, 1, 6, 24

5 अथर्ववेद 3, 5, 5

6 पचविशं ब्राह्मण 19, 7, 1-4

7 शतपथ ब्राह्मण 5,4,3,20 और 5,3,4,14

8 शतपथ ब्राह्मण, 5,4,3,20

देवताओं को आहुतिया देता था। तदनतर सत्रह स्थानो से एकत्र जल से राजा का अभिषेक किया जाता था। प्रारभ में यह अभिषेक पुरोहित, राजन्य और वैश्य के द्वारा किया जाता था। कदाचित उन्हे तीनो वर्णों का प्रतिनिधि समझा जाता था। राजा को निम्नलिखित शपथ लेनी पडती थी, "जिस रात्रि को मेरा जन्म हुआ है और जिस रात्रि को मेरी मृत्यु होगी, इन दोनो के बीच जो मेरा यज्ञफल और दानादि पुण्य है, जो मेरा लोक में धर्म, आयु और प्रजायें हैं वे सब नष्ट हो जाय, यदि मैं तुझसे द्रोह करू।"[1] अभिषेक के बाद उसके सहकारी राजा की पीठ पर प्रतीक रूप में दड स्पर्श करते थे। इसके फलस्वरूप राजा का पद अदड्य कर दिया जाता था। उत्तर वैदिक कालीन राजा पर जितना अधिक उत्तरदायित्व राज्याभिषेक के समय दे दिया जाता था इसका प्रमाण हमे शतपथ ब्राह्मण मे उपलब्ध है, जिसमे यह कहा गया है, "तुमको (अभिषेक किये हुए राजा को) यह राज्य सौपा जा रहा है, जिससे तुम कृषि की उन्नति जन-मगल तथा समृद्धि मे विकास करो।"

जनतन्त्रीय विशेषताएं

यद्यपि उत्तरवैदिक भारत मे राजतत्र था, किंतु वह निरकुश न होकर मर्यादित था। राजतत्र के अतर्गत अनेक प्रजातत्रीय सस्थाये थी, जिनका अपना महत्त्व था। उदाहरणार्थ—

1 राजा के वरण मे जनता की सहमति होती थी।
2 अभिषेक के समय राजा के स्वायत्त अधिकारो पर लगायी गयी मर्यादाओ का निर्वाह राजा का कर्तव्य होता था।
3 राजा को राज्यकार्य के लिए मत्रिपरिषद् पर निर्भर रहना पडता था।
4 सभा और समिति नामक जनता की दो सस्थाए राजा के निरकुश होने पर रोक लगाती थी।

परिषदे

सभा और समिति नामक दो जन ससदे राजा की निरकुशता पर रोक लगाने के लिए थी। इन्हे प्रजापति की दो पुत्रिया कहा गया है।[2] एक स्थल पर सभा, समिति और सेना तीनो की महत्ता प्रदर्शित की गई है।[3] प्रत्येक व्यक्ति इन दोनो परिषदो से यश प्राप्ति का इच्छुक रहता था।[4] इन दोनो का महत्त्व शासन मे अत्यधिक मान्य था और राजा इनके आदेशो का प्राय आदर करता था।

---

1 ऐतरेय ब्राह्मण, 8,15
2 अथर्ववेद 7, 12, 1
3 वही 15, 9, 1
4 वही 12, 1, 56

सभा

सभा सभवत कुछ चुने हुए भद्र-जनो की एक छोटी सस्था थी, जो न्याय-सबंधी कार्यों की देख रेख करती थी। इसे 'नरिष्टा' कहा गया है[1], जिसका अर्थ कदाचित् सामूहिक वादविवाद है। उत्तरवैदिक काल में यह ग्राम सस्था न होकर राजसस्था हो गई थी। राजा सभा मे उपस्थित रहता था।[2] सभासद का पद अत्यधिक सम्मान्य था।[3] राजा के लिए सभा का इतना महत्व था कि प्रजापति भी सभा के बिना अपना कार्य नही कर सकते थे।[4] सभा वादविवाद तथा विचार-विनिमय द्वारा सार्वजनिक कार्य निपटाने के लिए एक सस्था थी। अत· वाक् शक्ति का बडा महत्त्व था।[5] भाषण के नियम थे। बहुमत से निश्चय करने की प्रथा थी। सभा मे वादविवाद के बाद राज्य की समस्याओ को सुलझाया जाता था। सभापति[6] और 'सभासद'[7] शब्दो का उल्लेख उत्तरवैदिक साहित्य मे आया है, जिसमे प्रतीत होता है कि सभा मे सभापति होता था, जो सभा की कार्यवाही का सपादन करता था और सभासद सदस्यो को नही कहा जाता था, वरन् वह सभा का कोई विशेष पदाधिकारी था, जो सभवत न्याय सबधी मामलो पर निर्णय देता था। उपनिषद्काल के बाद सभा का उल्लेख किसी लोक-सस्था के रूप मे नही होता था, तब यह केवल एक राजकीय न्यायालय के रूप मे कार्य करती थी।

समिति

'समिति' विशाल जनता का प्रतिनिधित्व करनेवाली सस्था होती थी। राजा के निर्वाचन मे वह जन अथवा विश की वाणी की प्रतिनिधि थी। एक स्थल पर समिति राजा का समर्थन करती है जबकि दूसरे स्थल पर वह राजा के दुष्कर्मों एव अत्याचारो के कारण उसका अनुमोदन नही करती।[8] शत्रुओ को परास्त करने के लिए और राजसिंहासन पर अपनी स्थिति दृढ करने के लिए राजा को समिति के समर्थन की आवश्यकता थी।[9] समिति के निर्णय भी वाद-

1 शतपथ ब्राह्मण 5, 3, 1, 101 तैत्तरीय आरण्यक 1, 1, 10, 6

2 शतपथ ब्राह्मण 3, 3, 4, 14

3. ऐतरेय ब्राह्मण 8, 21

4 छान्दोग्य उपनिषद 8, 14, 1

5 अथर्ववेद 7, 12 और 12, 1, 56

6. वाजसनेयी सहिता, 16, 24

7 अथर्ववेद, 3, 29, 1, 7, 12, 2 तथा 19, 55, 6

8 वही, 5, 19, 15

9 वही, 6, 88, 3

विवाद के उपरात ही होते थे । प्रत्येक सदस्य समिति के वादविवाद मे ख्याति प्राप्त करने का इच्छुक रहता था ।[1] परवर्ती सहिताओ एवं ब्राह्मण साहित्य में समिति का कोई उल्लेख नही मिलता किंतु उपनिषद-काल में समिति का नाम राजसस्था के रूप में आया है जिसमें राजनीतिक विषयो के अतिरिक्त दार्शनिक तथा धार्मिक विषयों पर भी वादविवाद होते थे । उपनिषद् साहित्य में अनेक स्थलों पर समिति में राजा की अध्यक्षता मे सपन्न हुए वादविवाद का वर्णन है । उपनिषद् काल के उपरात समिति का उल्लेख नही मिलता । सभवत उत्तरोपनिषद् काल में समिति का प्रचलन समाप्त हो चुका था ।

शासन व्यवस्था

राजा मत्रियो की सहायता से राज्य का शासन करता था । राज्य की शासन व्यवस्था के लिए कई विभाग बनाये गये । इन विभागो का सचालन विभिन्न प्रकार के राज्याधिकारी[2] करते थे । सेनानी सेना का प्रबध करता था । दूत जासूसी करते थे ।[3] वित्त विभाग और न्याय विभाग की देख-रेख स्वय राजा करता था ।[4] 'ग्राम्यवादिन' गाव का न्यायाधीश था ।[5] पचायत व्यवस्था भी रही होगी ।

राज्य की ओर से शिक्षा का समुचित प्रबध रहा होगा । तभी केकय नरेश अश्वपति का कथन है कि "मेरे राज्य मे न कोई चोर है, न कायर, न कोई अधम है, न कोई अविद्वान् अथवा मूर्ख और न ही कोई व्यभिचारी है ।"[6]

राजद्रोह भीषण अपराध माना जाता था, जिसके लिए ब्राह्मण तक को प्राण-दड दिया जा सकता था ।[7] आय के प्रमुख साधन भूमिकर तथा व्यापारकर थे। धनिको से कर लेने का उल्लेख अनेक स्थलो पर आया है ।[8]

---

1 अथर्ववेद, 12, 1, 56

2 ऐतरेय एव शतपथ ब्राह्मण के अनुसार इनकी सूची इस प्रकार है—पुरोहित, राजन्य, महिषी, वावाता (प्रिय रानी), परिवृक्ती रानी, सूत (बदी, चारण) सेनानी, ग्रामणी, क्षत्री (राजप्रासादो का रक्षक), कोषाध्यक्ष, राजकर सग्रहकर्ता, अक्षावाप, शिकार का अधिकारी, सदेशवाहक, रथकार, रथपति ।

3. अथर्ववेद, 4,16,4 तथा तैत्तरीय सहिता, 4,7 ।

4 अथर्ववेद 4,8,2

5 वैदिक इडेक्स, 1,248

6 छादोग्य उपनिषद् 1,5,11

7 वैदिक इडेक्स, 2,84

8 अथर्ववेद, 4,22

सामाजिक स्थिति

वर्गीकरण

वेदों मे अनेक सास्कृति, दार्शनिक एव राजनीतिक परिवर्तनों तथा अनार्यों के बढते हुए संपर्क से आर्यों की सामाजिक अवस्था मे परिवर्तन होना अवश्यं-भावी था। प्रारंभ में जाति के आधार पर दो ही वर्ग थे—आर्य तथा अनार्य। किंतु सामाजिक एव आर्थिक जीवन के विकसित होने के साथ-साथ अनेक वर्ग बनते गये। वर्गों का आधार समाज की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए श्रम-विभाजन था। यद्यपि ऋग्वेद[1] के उत्तरकालीन सूक्त (पुरुष सूक्त) में चातुर्वर्ण्य का प्रतिपादन हुआ है, जिसमें विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, उसकी बाहुओं से क्षत्रिय, जघाओं से वैश्य और पैरो से शूद्र उत्पन्न होने की बात है अन्यथा आर्यों के एव दस्युओ के सामाजिक भेद छोड कर इस सहिता मे तथा अन्यत्र कही वर्ण-व्यवस्था का उल्लेख नही है। एक ही परिवार मे अनेक वर्ग एव वर्ण के लोग रह सकते थे। जैसा कि ऋग्वेद मे उल्लिखित शिशु अंगिरस के कथन से स्पष्ट है, 'मै कवि हूँ, मेरे पिता वैद्य है, मेरी मा अन्न पीसनेवाली है। साधन भिन्न है किंतु सभी धन की कामना करते हैं।' परतु उत्तरवैदिक काल तक पहुँचते-पहुँचते सामाजिक स्तर स्पष्ट हो चले थे और वर्ण व्यवस्था अपने नियत वर्ग-आकार की और द्रुतगति से बढ चली थी। किंतु वे वर्ग अभी पूर्णत पैतृक नही बने थे। व्यवसायो का परिवर्तन सभव था। सामाजिक वर्गों में परस्पर मिलना-जुलना सभव था। किंतु यह सरलता अधिक दिनो तक स्थिर न रह सकी और शनै-शनै समाज में जटिलता आने लगी, यद्यपि उसके प्रवाह मे बाधा न पडी।

उत्तर वैदिक काल में वर्णव्यवस्था अधिक स्पष्ट हो गयी और उसके अंग अधिक रूढ्यात्मक बन गये थे। इनके बीच की रेखाएं अधिक गहरी और स्पष्ट हो गयी। इस प्रकार जो लोग धार्मिक कर्मकाड आदि मे रुचि रखते थे और उन्ही मे रत रहते थे वे ब्राह्मण कहलाये, जो युद्ध में रत थे और राजनीति में सक्रिय भाग लेते थे, वे क्षत्रिय कहलाये, जो वणिक्, कृषक और शिल्पी थे, वे वैश्य कहलाये। इन तीनो वर्गों की और अन्य शारीरिक श्रम के लिए जो दास, दस्यु और अनार्यों में थे, की संज्ञा शूद्र हुई। फिर भी इस काल की द्वेषात्मक रूढिवादी वर्ण-व्यवस्था अभी सर्वथा अनजानी थी। फिर भी एक वर्ण से दूसरे वर्ण मे अदल-बदल अभी सभव था तथा उनमे परस्पर विवाह सबंध भी होते

---

1. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्, बाहू राजन्य कृत ।
ऊरु तदस्य यद्वैश्य यद्म्याशूद्रो अजायत ॥
ऋग्वेद 10, 90, 12 यजुर्वेद, वाजसनेय सहिता 31, 11 आदि।

थे।[1] इस संबंध मे अनेक अंतर्वर्ण विवाह उल्लेखनीय है। ब्राह्मण च्यवन ने क्षत्रिय शर्याति की पुत्री सुकन्या से विवाह किया था।[2] विदेह के जनक, काशी के अजातशत्रु, पचाल के प्रवाहण जैवलि तथा केकय के अश्वपति ने, जो सब राजन्य थे, ब्राह्मणोचित, दर्शन-चिंतन को अपनाया था। इसी प्रकार शातनु के भाई देवापि ने सिंहासन से वचित होने पर पौरोहित्य मे दक्षता प्राप्त कर शान्तनु के यज्ञ करवाये। किंतु यह अदल-बदल केवल ब्राह्मणो और क्षत्रियो मे ही सभव था। आगे चल कर यह आदान-प्रदान भी बंद हो गया। अनुलोम और प्रतिलोम विवाहो[3] से उत्पन्न संतान सकर मानी जाने लगी। उनके अपने वर्ग तथा अपनी जातिया बनी।

आश्रम

आर्यों ने अपने जीवन को आश्रमों में विभक्त किया था, जिससे उसके सभी अंगो का समुचित विकास हो। आश्रम चार थे—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। विद्यार्थी ब्रह्मचारी के रूप मे गुरुकुल मे रहकर वेदाध्ययन करता था। विवाह करके वह गृहस्थ्य जीवन में प्रवेश करता था। गृहस्थाश्रम तीनो आश्रमों का मूलाधार था क्योकि तीनो आश्रम गृहस्थ के दान पर निर्भर थे। गृहस्थ धनोपार्जन करके समाज का पालन-पोषण करता था। तीसरे वानप्रस्थ आश्रम में मुनि-सुलभ आचरण द्वारा जीवन व्यतीत करने का विचार था। और अतिम सन्यास आश्रम मे ससार त्याग कर उससे विरक्त हो जाने की आशा की ाती थी। इस प्रकार प्राचीन भारतीयो ने मानव जीवन के चार महान् पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति के लिए इस आश्रम व्यवस्था को आधार बनाया था। वास्तव मे मनुष्य के इतिहास मे उसके जीवन के विभाजन का यह प्रथम सफल शास्त्रीय प्रयास था।

पारिवारिक जीवन

कुटुंब का मुखिया अधिकतर पिता होता था। कौटुंबिक जीवन की कटुता को दूर करने के लिए तथा मम्मिलित परिवार मे सुमति तथा शाति के लिए प्रार्थनाए की जाती थी।[4] पुत्रो मे फूट पडने पर पिता के जीवनकाल में ही वे अपनी सपत्ति का बटवारा कर सकते थ।[5] गाव के घर कच्ची-पक्की ईंटो,

---

1 शतपथ ब्राह्मण 1, 8, 3, 6।

2 शतपथ ब्राह्मण 4, 1, 5, 7।

3 अनुलोम उच्च वर्ग के पुरुष और निम्न वर्ग की स्त्री तथा प्रतिलोम निम्न वर्ग की पुरुष और उच्च वर्ग की स्त्री के विवाह को कहते है।

4. अथर्ववेद 3, 30, 1, 3, 5, 7, 7, 36, 7, 37।

5 ऐतरेय ब्राह्मण 5, 14।

मिट्टी, बास तथा लकडी के सहारे निर्मित होते थे। पहले ईंट और मिट्टी के स्तंभ[1] बनाये जाते थे। इसके बाद इन पर बडे-बडे लट्ठो से छत बनायी जाती थी। छते घास-फूस तथा खर से ढकी जाती थी।[2] घर मे अनेक कक्षों की व्यवस्था थी।

समाज मे नारी का स्थान

कभी कभी कन्या का जन्म दुख का कारण समझा जाता था।[3] पर्दा-प्रथा न थी। अलंकृता नारी के सभा में जाने का उल्लेख है।[4] उत्तरवैदिक काल में समाज मे नारी की प्रतिष्ठा वह न रह गयी थी जो कि ऋग्वेदकाल मे थी। उन्हे उपनयन सस्कार के अधिकार से वचित कर दिया गया था। नारियो की हेय स्थिति का आभास मिलता है। किंतु उन्हे अर्द्धांगिनी भी कहा गया है जो उनकी प्रतिष्ठा का सूचक है।

नारी की चतुर्मुखी शिक्षा पर बल दिया जाता था। शिक्षित स्त्री-पुरुष के विवाह को ही उपयुक्त समझा जाता था।[5] ब्रह्मचर्य द्वारा कन्या पति को प्राप्त करती थो।[6] स्त्रियो की सगीतनृत्य[7] एव गायन[8] मे रुचि थी। वे पति के साथ यज्ञ मे भाग लेती थी।[9] राजा जनक की सभा मे गार्गी और याज्ञवल्क्य के वाद-विवाद का उल्लेख है।[10] याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी परम विदुषी थी।[11] भोजन की व्यवस्था स्वय करना उनका विशेष कार्य था।[12] वे ऊन और सूत की कताई-बुनाई का काम भी करती थी।

विवाह-प्रथा

विवाह को अब भी धार्मिक महत्त्व प्राप्त था।[13] तीसरी अथवा चौथी पीढी

1. यजुर्वेद 14।
2. अथर्व वेद 9,9।
3 अथर्ववेद 6, 2, 3
4 वही 2, 36, 1
5. यजुर्वेद 8, 1
6 अथर्ववेद 11, 5, 18
7 तैत्तरीय सहिता 6, 1, 6, 5 और मैत्रायणी सहिता 3 7, 3
8 शतपथ ब्राह्मण 14, 1, 3, 35
9 अथर्ववेद 1, 2, 3
10. वृहदारण्यापक उपनिषद् 3, 6, 8, 2, 4, 3, 4, 5, 4
11 वही
12 तैत्तरीय सहिता 5, 7
13 अथर्ववेद 14, 1, 48-52 तथा 14, 2

में विवाह करने की अनुमति दी गयी है।[1] सभी वर्गों मे सगोत्र विवाह वर्जित न था।[2] प्रारभ में स्त्री पुरुष के परस्पर मिलने की छूट थी किंतु बाद मे इसमे कठोरता आ गयी। वे परस्पर प्रेम करने लगे थे। प्रेमी-प्रेमिका को एक-दूसरे से मिलने तथा एक-दूसरे को वश में कर लेने की उत्कठा रहती थी। सामान्यत बाल-विवाह का प्रचलन न था। अविवाहित कन्यायें अपने माता-पिता के साथ रहती थी।[3] परतु सामान्यत युवावस्था प्राप्त होने के बाद अविवाहित रहने की प्रथा न थी। अविवाहित पुरुष को यज्ञ करने का अधिकार न था।[4] बिना स्त्री के उसे स्वर्गप्राप्ति नही हो सकती, ऐसी धारणा थी।[5] स्त्री ही पुरुष को पूर्ण बनाती है ऐसी धारणा थी।[6] यज्ञ सपन्न करने के लिए पुत्र आवश्यक था और पुत्र की प्राप्ति के लिए विवाह आवश्यक था।[7] बहुविवाह केवल धनिक तथा राजकीय वर्गों में प्रचलित था।

उत्तरवैदिक काल मे विधवा स्त्री का पुनर्विवाह हो सकता था। विधवा-पुत्र का उल्लेख हुआ है।[8] सम्भवत पुत्रप्राप्ति के लिए उसे पुनर्विवाह की आज्ञा मिली थी।[9] अधिकाशत सजातीय विवाह ही होते थे, किंतु यदा कदा अतर-जातीय विवाह भी होते थे, यथा आर्य पुरुष और शूद्रा के संबध[10] तथा च्यवन-ऋषि और राजा शर्याति की पुत्री के विवाह सबध का उल्लेख किया जा चुका है। भोजन, वस्त्र और मनोरजन के साधन इस काल मे भी प्राय वही थे जो ऋग्वैदिककाल मे थे। अथर्ववेद के एक सूक्त मे प्राचीन रीति के विरोध मे मास भक्षण और सुरापान को पाप कहा गया है।

आर्थिक व्यवस्था

खेती आर्यों का प्रमुख उद्यम था। खेतो के द्वारा अन्न उत्पन्न होता था। अन्न से ही जीवनयापन होता था। अधिक अन्न उपजाना लोग अपना कर्त्तव्य

---

1 शतपथ ब्राह्मण 1, 8, 3, 6
2 वैदिक इडेक्स 1, 473
3 अथर्ववेद 1, 14, 3
4. शतपथ ब्राह्मण 5, 1, 6, 10
5 ऐतरेय आरण्यक 1, 2, 5
6 शतपथ ब्राह्मण 5, 2, 1, 10
7 ऐतरेय ब्राह्मण 33, 1
8. तैत्तरीय सहिता 3, 2, 4, 4
9 अथर्ववेद 6, 5, 27-29
10 तैत्तरीय सहिता 7, 4, 219, 3

समझते थे ।[2] खेती की चारो प्रक्रियाओं का क्रमश उल्लेख किया है—जुताई, बुआई, लवनी और मडनी । अनेक प्रकार के अनाज होते थे यथा चावल (धान) जौ, मूग, उडद, गेहूँ, तिल और मसूर आदि ।[1] उनके बोने की ऋतुओ का भी उल्लेख है उदाहरणार्थ जौ जाडे मे बोया जाता था और गर्मी मे पकता था तथा धान की फसल वर्षाकाल मे बोई जाती थी और शरद ऋतु में पकती थी किंतु मूग, उडद, गन्ना और तिल की फसले कुछ देर से शरद मे पकती थी ।[3] वर्षा मे दो फसलें तक तैयार होती थी । खेती उन्नतिशील थी । इतने बडे और भारी हल (सीर) बनने लगे थे जो चौबीस बैलो से खीचे जाते थे ।[4]

उद्योग धधे और शिल्प

खेती के साथ-साथ पशुपालन भी होता था । पशुओ की प्राप्ति के लिए प्रार्थनाए की जाती थी ।[5] गाय का विशेष महत्व था । इस सबध में एक स्थल पर कहा गया है कि गाय और बैल पृथ्वी को धारण करते हैं, अत उनका मास नही खाना चाहिये ।[6] भैस, भेड, बकरी और घोडा भी विशेष महत्वपूर्ण समझे जाते थे । गधे का प्रयोग गाडी खीचने के लिए होता था ।[7] ऊट[8] और शूकर[9] का भी उल्लेख आया है ।

यजुर्वेद मे अनेक धधो एव पेशो की तालिका दी हुई है,[10] जिससे प्रतीत होता है कि औद्योगिक क्षेत्र मे उस समय कितनी उन्नति हुई थी । इस तालिका मे अनेक नये पेशेवरो के नाम है, यथा कई प्रकार के मछुए, खेत बोनेवाले, धोबी, मणिकार, बेत का काम करनेवाले, रस्सी बटनेवाले, रथकार, धनुषकार, लुहार, सुनार, कुम्हार, जगलों की देखरेख करनेवाले, जगली आग बुझानेवाले, गोपाल, भिषज, वस्त्रो पर कढाई करनेवाले आदि । 10800 इष्टकाओं द्वारा निर्मित श्येनचित वेदी तथा उस पर अकित गरुड की आकृति

---

1 अत· बहुकुर्वीत । तद् ब्रत्तम तैत्तरीय 34
2 कृषतः, वयत , लुनत , गुणवन्त· । शतपथ 1, 6, 1, 3·
3 वाजसनेयी सहिता 18, 12
4 काठक सहिता 15, 12
5 अथर्ववेद 4, 22, 2
6. शतपथ ब्राह्मण 3, 1, 2, 3
7 ऐतरेय ब्राह्मण 4, 6
8 अथर्ववेद 20, 137, 2
9 शतपथ ब्राह्मण 5, 4, 2, 19
10. वाजसनेयी सहिता 30, 7

वस्तुकार्य का ज्ञान कराती है। नाविक कर्णधार[1] नौका मे आगे और पीछे निर्मित दो मच[2] डाड खेवनहार तथा समुद्री यात्राओ के लिए सौ डांडोंवाले जलपोत[3] आदि का उल्लेख है। वैश्यो ने अनेक प्रकार के उद्योग अपना लिये थे। वणिक व्यापार[4] तथा व्याज पर रुपये देनेवाले का भी वर्णन है।[5] सभवत वणिकों एव व्यापारियों का कोई सगठन श्रेष्ठि की अधीनता मे रहा होगा।[6]

धातुओ का प्रयोग बढता जा रहा था जिससे उन्नतिशील सभ्यता का आभास होता है। यजुर्वेद[7] मे सोने, कासे, पीतल, लोहे, ताबे, सीसे और रागे का उल्लेख हुआ है। ताबा बर्तन बनाने के काम आता था। सोने और चादी के आभूषण बनते थे। इससे प्रतीत होता है कि आर्यों को धातुओं के सबध मे ज्ञान प्राप्त था जिसके परिणामस्वरूप उनका आर्थिक जीवन सपन्न एव उन्नत था। धातुओ से औजार, हथियार, आभूषण सिक्के और बर्तन बनाये जाते थे। इस युग के मुख्य सिक्के को 'शतभान' कहा जाता था, जो कि तौल मे सौ कृष्णल (गुजा) के बराबर होता था। गायो के साथ दक्षिणा मे यह दिया जाता था।

विद्या एव शिक्षा

साहित्य की दृष्टि से यह युग रचनात्मक नही, किंतु आलोचनात्मक था। परतु धर्म, विज्ञान, दर्शन और शास्त्र की दृष्टि से यह काल मानसिक विकास विचार के प्रचार के लिए प्रसिद्ध है।[8] उत्तरवैदिक आर्यों मे विद्या के प्रति विशेष अनुराग था। सभवत इस काल मे लेखन कला मे भी उन्नति होने लगी थी।[9]

इस काल में यजुर्वेद सामवेद एव अथर्ववेद के अतिरिक्त ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिषद् आदि की रचना हुई। ब्राह्मण ग्रथ वेदो से सबद्ध है। उनका

1 अथर्ववेद 9, 2, 6

2 शतपथ ब्राह्मण 2, 3, 3, 15

3 वाजसनेयी सहिता 31, 7

4. शतपथ ब्राह्मण 1, 6, 4, 11

5. वही 13, 4, 3, 11

6 ऐतरेय ब्राह्मण 3, 30, 3, 4, 25, 8, 9, 7, 18, 18 तथा बृहदारण्यक उपनिषद 1, 4, 12

7 वाजसनेयी सहिता 18, 13

8. देखिये अल्टेकर कृत 'एजुकेशन इन ऐंसेंट इडिया'

9 बूलर कृत 'ऑरिजिन आफ दि इडियन ब्राह्मी एल्फाबेट' तथा गौरी शकर हीराचद्र ओझा कृत प्राचीन लिपि माला' तथा बी० एम० आप्टे कृत 'सोशल एड रिलीजस लाइफ इन दि गृह्य सूत्राज़।'

प्रयोजन मुख्यत यज्ञ क्रियाओ के विधानो से है । उपनिषदो के द्वारा भारतीय चिंतन का रूप निखरा । भारतीय अध्यात्म का वास्तविक प्रारभ इन्हीं उपनिषदो से ही माना जा सकता है । उपनिषदों ने यज्ञो का विरोध किया है। वेदागो का विकास भी इसी समय हुआ । वेदाग छ है । शिक्षा (शुद्ध उच्चारण का शास्त्र), कल्प (कर्मकाण्ड), निरुक्त (शब्द व्युपत्ति का शास्त्र), व्याकरण (शुद्ध बोलने, लिखने और पढने का शास्त्र) छद (पद्य रचना), ज्योतिष (नक्षत्रो और ग्रहो की गति का शास्त्र) ।

उपर्युक्त विवरण से सिद्ध है कि इस काल में विस्तृत एव विभिन्न प्रकार के साहित्य का सर्जन हुआ । उपनिषद् साहित्य मे बुद्धि एव ज्ञान की उन्नति की पराकाष्ठा देखी जाती है। यह साहित्य का स्वर्णयुग था। **छांदोग्य उपनिषद**[1] के अनुसार पाठ्यक्रम मे निम्नाकित विषय समिलित थे—1, चारो वेद 2 इतिहास और और पुराण (पाचवा वेद) 3 व्याकरण 4. श्राद्ध 5 अकविद्या 6. देव विद्या 7. खनिज विद्या 8 तर्क शास्त्र 9 नीति शास्त्र 10 देव विद्या 11 ब्रह्म विद्या 12 प्राणिशास्त्र 13. सैनिक शास्त्र 14 नक्षत्र विद्या, ज्योतिष 15 सर्प विद्या 16 देवजन विद्या ।

उपनयन सस्कार द्वारा आचार्य ब्रह्मचारी को नये जीवन मे दीक्षित करता था, जिसे दूसरा जन्म कहा गया है और जिससे वह द्विज बनता था । वह मृगचर्म और मेखला धारण करता और लम्बे बाल रखता था । आचार्यकुल मे रहते हुए वह आचार्य के लिए भिक्षा (भोजन) की व्यवस्था करता था।[2] अग्निहोम के लिए समिधा लाता था[3], गृहकार्य करता था[4] तथा गोसेवा भी करता था।[5] अध्ययन काल 12 वर्ष से लेकर बत्तीस वर्ष या जीवनपर्यन्त हो सकता था।[6] गुरुकुल का जीवन कठोर और सयम नियम का था ।

अथर्ववेद मे शिक्षा का उद्देश्य श्रद्धा, मेधा, प्रज्ञा, धन-आयु और मोक्ष की प्राप्ति बताया गया है।[7] शिक्षण पद्धति मे पाठो का उच्चारण, भाष्य, व्याख्या और वाद-विवाद सम्मिलित थे । इन गुरुकुलो के अतिरिक्त विवरण करनेवाले

---

1 छादोग्य उपनिषद् 7,1,1,2
2 छादोग्य उपनिषद् 2,23,1
3. वही 4,10,2
4. शतपथ ब्राह्मण 3,6,2,15
5. छादोग्य उपनिषद् 4,4,5
6 वही 6,1,2,4,10,1,8,7,3
7. अथर्ववेद 19, 64 और 9,5

चरक विद्वान् थे[1], जो देश मे वास्तविक ज्ञान का प्रचार करते थे ।[2] इसके अतिरिक्त शिक्षा के लिए नियमित संस्थायें थी, यथा पचाल परिषद् आदि ।[3] गुरुकुलो में चरक एव परिषदों के अतिरिक्त विद्वत्सभाओ का आयोजन हुआ करत था जैसे राजा जनक की सभा, जिसमे प्रमुख विद्वान् याज्ञवल्क्य थे, जिन्होंने तत्त्वचिंतन सबधी अनेक दार्शनिक समस्याओ का समाधान किया था ।[4] शिक्षा के क्षेत्र मे स्त्रिया महत्त्वपूर्ण भाग लेती थी, यथा गार्गी[5] दार्शनिक थी तथा मैत्रेयी[6] ने उच्च ब्रह्म विद्या प्राप्त की थी । स्त्रियो को सगीत, नृत्य तथा गायन की शिक्षा दी जाती थी ।[7]

धर्म और दर्शन

उत्तरवैदिक काल के धार्मिक विश्वास प्राय वे ही थे जोकि ऋग्वैदिक काल के थे । ऋग्वैदिक देवता ही इस काल मे भी स्तुत्य थे । अतर केवल इतना था, कि उनमे से कुछ जो पहले प्रधान थे, वे अब गौण हो गये और जो पहले गौण थे वे अब प्रधान हो गये थे । सृष्टि के स्वामी प्रजापति, जो कभी ब्राह्मण चिंतन का विशिष्ट विषय था, अब जनप्रिय न रह गये थे । रुद्र और विष्णु का महत्त्व बढ गया था । रुद्र की महत्ता का कारण सभवत आर्य और अनार्य संस्कृतियो का समिश्रण रहा होगा ।

यद्यपि देवताओ का बाहुल्य अब भी था तथापि अब प्रकृति के अवयवो का महत्त्व घट गया । ब्राह्मणो का प्रभाव समाज मे बहुत बढ गया था । कर्मकाड जटिल हो गया था । ब्राह्मण ग्रथो मे यज्ञो ने वह गौरव धारण किया और उनकी महत्ता इतनी बढी कि वे फल के साधन न होकर स्वय इच्छित परिणाम बन गये थे । ऋग्वेद काल मे महान् यज्ञो मे भी केवल सात पुरोहित यज्ञ में भाग लेते थे किंतु इस काल मे ऐसे यज्ञो मे सत्रह पुरोहित भाग लेने लगे ।

इसके विपरीत यह काल विशेष रूप से बौद्धिक चिंतन का रहा है । अनेक क्षत्रियो और ब्राह्मणो ने शांति और ज्ञान की खोज में सलग्न रहकर कार्य किया ।

1 वृहदारण्यक उपनिषद् 3,3,1

2 शतपथ ब्राह्मण 4,2,4,1 और 11,4,1,2,4

3 छादोग्य उपनिषद 5, 3 और वृहदारण्यक उपनिषद 6,2,1-7

4 वही 3 और 4,6

5. वृहदारण्यक उपनिषद 3, 6, 3

6. वही 2, 4, 3 और 4-5, 4

7. तैत्तरीय संहिता 6, 1, 6, 5 मैत्रायणी संहिता 3, 7, 3 शतपथ ब्राह्मण 14, 3, 1, 35

उनके आध्यात्मिक चितन का दिग्दर्शन उपनिषद् साहित्य में हुआ है।[1] इसके उपरात आत्मोन्नति मार्ग प्रदर्शन करने वाले हिंदू षड्दर्शन की रचना हुई — साख्य, योग, न्याय, वैशेषिक पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमासा। इसी काल में ब्रह्म के स्वरूप पर गभीर चितन-मनन हुआ। उपनिषदो के अनुसार ब्रह्म सर्व-व्यापी, सर्वांतर्यामी, निर्गुण और निर्विकल्प है। विश्व का उदय, धारण और प्रलय उसी से होता है। ब्रह्म के अतिरिक्त विश्व में कुछ और नही है। आत्मा ब्रह्म की ज्योति है, उसका अश है। मनुष्य शुभ अशुभ कर्मों के अनुसार कर्म के सिद्धात से संचालित होकर बारबार जन्म-मरण के चक्कर मे पडता है। जन्म-मरण से मुक्त और ब्रह्म आत्मा में एकता की अनुभूति की अवस्था को मोक्ष कहा गया है। मोक्ष का साधन है ज्ञान और नैतिक आचरण।[2]

कर्मकाड मे यद्यपि बाह्याडबरों की प्रधानता थी तथापि उसमे नीति के अनेक सिद्धात अतर्निहित थे जिसके फलस्वरूप इस युग में पंच महायज्ञो तथा तीन ऋणो की कल्पना की गयी थी। पंच महायज्ञ थे ब्रह्मयज्ञ (स्वाध्याय), देवयज्ञ, पितृयज्ञ (संतानोत्पत्ति और श्राद्ध आदि), भूतयज्ञ (जीवधारियो का पालन), अतिथियज्ञ (अतिथियो की सेवा)। इन यज्ञो के सिद्धात से पता चलता है कि मनुष्य संसार मे एकाकी और स्वतत्र नही उपन्न हुआ है अपितु समाज के प्रति उसके कुछ दायित्व और कर्त्तव्य हैं, जिन्हें पूरा करना उसका धर्म है।[3] इसके अतिरिक्त तीन ऋण है—देवऋण (देवताओ तथा भौतिक शक्तियो के प्रति दायित्व), ऋषिऋण और पितृऋण (पूर्वजो के प्रति कर्तव्य)। इन ऋणों का प्रयोजन मनुष्य को समाज एव सस्कृति के प्रति अपने कर्तव्य का बोध कराना था। इसके अतिरिक्त सत्य, ईमानदारी, यम, नियम, दया, मैत्री आदि गुणो की प्रशंसा की गयी है।[4]

●

1 मैक्डानल इडियाज पास्ट पृ० 64
2 कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया 1, 142
3 राजबली पाडेय 'प्राचीन भारत' 79
4. वही, 79-80

अध्याय चार

जैनधर्म तथा बौद्धधर्म

सांस्कृतिक क्रांति का युग

ईसा पूर्व छठी शताब्दी का इतिहास में एक विशिष्ट महत्त्व है। इस युग में भूमंडल के विशाल क्षेत्र में एक असाधारण आध्यात्मिक चेतना जगी। अनेक देशों में सुधारकों ने तात्कालिक धार्मिक व्यवस्था के विरोध में आवाज उठायी। यूनान में हिराक्लिट्स और पायथागोरस ने सामंतों के अत्याचार तथा सामाजिक कुप्रथाओं के विरुद्ध आंदोलन प्रारंभ किये। फलस्वरूप यूनान की पुरातन परंपरा का ह्रास हुआ तथा प्रजातंत्रात्मक सिद्धांतों का विकास हुआ। ईरान में जरथुस्त्र ने तत्कालीन धार्मिक अंधविश्वासों का विरोध करके एकेश्वरवाद तथा अग्नि की महत्ता पर बल दिया। अवेस्ता उनके धार्मिक उपदेशों का संकलन है। चीन में भी इसी काल में महान् दार्शनिक कन्फ्यूशस ने पुरातन सिद्धांतों के विरुद्ध आंदोलन चलाया। इसी समय भारत में भी एक धार्मिक क्रांति का जन्म हुआ। उपनिषदों में कर्मकांडपरक अनुष्ठानों और रक्तिम यज्ञों का विरोध कर ब्रह्म विद्या, आध्यात्म विद्या, आवागमन और मोक्ष आदि पर अधिक बल दिया गया। ईसा पूर्व छठी शताब्दी के विचारकों ने कुछ हद तक इसी औपनिषदिक विचार-धारा को आगे बढ़ाया है,[1] जिसके परिणामस्वरूप रूढ़िवादी ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध एक प्रबल क्रांति हुई। इस क्रांति के परिणामस्वरूप देश में अनेकानेक मत-मतांतरों की स्थापना हुई।[2] इस समय देश के विभिन्न प्रदेशों में परिव्राजक, श्रमण, भिक्षु, आचार्य, मीमांसक आदि धार्मिक वादविवाद तथा तर्कवितर्क करते हुए भ्रमण कर रहे थे।[3] इनमें अधिकांश मत-मतांतर काल के प्रभाव से नष्ट हो

---

1 देखिए, मैक्समूलर कृत लास्ट एसेज, सेकेंड सीरीज, 1901 पृ० 12।

2 देखिए, अंगुत्तर निकाय, महानिद्देस और चुल्ल निद्देस के अनुसार इस समय भारत में 62 सम्प्रदाय प्रचलित थे। जैन साहित्य के अनुसार ऐसे सम्प्रदायों की संख्या 363 थी। इनमें से प्रमुख हैं, आजीवक, निग्रंथ, मुण्डश्रावक, जटिलक, परिव्राजक, मागडिक, त्रैदंडिक, मागधिक, गौतमक आदि।

3 प्रचारकों में बुद्ध और महावीर के अतिरिक्त पुराणकस्सप, मक्खलि-पुत्तगोसाल, निगंठनातपुत्त, अजित केशककंबलिन, पकुद्धकच्चायन, संजय वेलट्ठ-पुत, मोग्गलान आदि थे।

गये। केवल महावीर द्वारा प्रवर्तित अथवा परिवर्द्धित जैन धर्म और बुद्ध द्वारा प्रवर्तित बौद्ध धर्म ही अधिक सगठित और स्थायी हो सके और जो अभी तक विद्यमान हैं।

जैनधर्म और महावीर

महावीर के पूर्व जैनधर्म

जैनधर्म का उद्भव ईसा पूर्व छठी शताब्दी से बहुत पूर्व हो चुका था। कुछ विद्वान् सभ्यता की कुछ कलाकृतियों को जैन धर्म से प्रेरित मानते हैं। कतिपय अन्य विद्वानो के अनुसार **ऋग्वेद** मे कुछ जैन तीर्थंकरो के नाम मिलते है।[1] **यजुर्वेद** के अनुसार ऋषभदेव धर्मप्रवर्तको मे श्रेष्ठ हैं। अन्यत्र स्वयंभू काश्यप का वर्णन है और कुछ विद्वानो ने उनकी पहचान ऋषभदेव से की है।[2] **ऋग्वेद** में अरिष्टनेमि का भी उल्लेख है।[3] यद्यपि पुष्ट प्रमाणो के अभाव मे इन्हे जैन तीर्थंकर स्वीकार करना कठिन है तथापि यह सभव है कि जैनधर्म के बीज महावीर स्वामी से बहुत पहले ही बोये जा चुके थे। यद्यपि जैनधर्म के सस्थापक महावीर नहीं थे तथापि इस धर्म को पल्लवित करने का श्रेय महावीर को है। जैन साहित्य के अध्ययन से प्रतीत होता है कि महावीर के पूर्व जैनधर्म के तेईस तीर्थंकर हो चुके थे।[4] जैन आचार्यों के अनुसार चौबीस तीर्थंकरो ने समय-समय पर जैनधर्म को अपने उच्च विचारो और सिद्धातो से समृद्ध किया था। परतु इनमें तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ और चौबीसवे एव अतिम महावीर को छोडकर शेष तीर्थंकरो की ऐतिहासिकता सदिग्ध है।

पार्श्वनाथ

तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता निश्चित हो गयी है। वे महावीर से लगभग ढाई सौ वर्ष पूर्व काशी के नागवशी राजा अश्वसेन की रानी वामा के गर्भ से उत्पन्न हुए थे। वे बडे लोकप्रिय थे। युवावस्था मे उनका विवाह कुशस्थल (द्वारका) के राजा नरवर्मन की पुत्री प्रभावती के साथ हुआ

1 ऋग्वेद, केशीसूक्त 10, 136।

2. अथर्ववेद, 11, 5, 24, 26 और गोपथ ब्राह्मण पूर्व 2, 29।

3 ऋग्वेद, 1, 180, 10 और 10, 187, 1।

4. तीर्थंकर का अर्थ है ऐसे उपाय बतानेवाला जो मनुष्य को संसार सागर के पार कर दे। जैन जनश्रुति के अनुसार 24 तीर्थंकर निम्नलिखित है—ऋषभदेव, अजितनाथ, संभवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चद्रप्रभ, सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयासनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनतनाथ, धर्मनाथ, शातिनाथ, कुथुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रत, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर।

था । उन्होंने तप और तुष्टि के लिए तीस वर्ष की आयु में राजकीय विलासमय पारिवारिक जीवन त्यागकर सन्यास ले लिया था । अनवरत साधना और कठिन तपस्या के पश्चात् उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ । तब से सत्तर वर्ष की अवस्था तक वे स्थान-स्थान पर जाकर धर्म-प्रचार का कार्य सपन्न करते रहे । उनके मुख्य चार सिद्धात थे—अहिंसा, सत्य-भाषण, अस्तेय और अपरिग्रह । इसके अतिरिक्त पार्श्वनाथ ने ब्राह्मण धर्म के वेदवाद, बहुदेववाद, यज्ञवाद तथा वर्ण व्यवस्था का विरोध किया । सामाजिक दृष्टि से उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य प्राचीन और रूढ मान्यता का खडन कर, शूद्रो और स्त्रियो को भी मोक्ष का अधिकारी मानना था ।

वर्द्धमान महावीर[1]

जैनधर्म के चौबीसवें तथा अतिम तीर्थंकर महावीर थे । वैशाली के समीप कुडग्राम में उनका जन्म हुआ था ।[2] क्षत्रिय-ज्ञात्रिक कुल के प्रधान सिद्धार्थ के वे पुत्र थे और उनकी माता त्रिशला लिच्छिवि राजा चेटक की भगिनी थी । चेटक की कन्या चेल्लना राजा बिम्बसार की रानी थी ।[3] इस प्रकार जन्म और सबध से वे अभिजात थे । उनका गोत्र कश्यप था । महावीर का असली प्राकृत नाम 'वर्द्धमान' था । कहते है कि उनके जन्म से सुवर्ण आदि की वृद्धि हुई थी, इसलिए पिता ने उनका नाम 'वर्द्धमान' रखा था । वे भय और शका से रहित थे और सुख-दुःख से उदासीन थे इसीलिए उन्हे महावीर कहा गया ।

प्रारभ मे वर्द्धमान की जीवन सरिता राजकीय वैभव और लौकिक विलास के कूलो के बीच बहती थी । उन्हें सब प्रकार की राजोचित् विद्याओ की शिक्षा दी गयी थी । युवा होने पर उनका विवाह यशोदा नामक राजकुमारी के साथ किया गया । तदुपरात उनके अणोज्जा या प्रियदर्शना नामक एक पुत्री का जन्म हुआ ।[4] उन्होने तीस वर्ष की आयु तक गृहस्थ जीवन व्यतीत किया ।[5] माता पिता का देहात होने के बाद उन्होने अपने अग्रज नदिवर्धन से अनुमति लेकर ससार त्याग दिया और केश मुडित करा कर भिक्षु बन गये ।[6]

---

1 आचाराग सूत्र, कल्पसूत्र और भगवती सूत्र आदि में महावीर का जीवन वृत्त अकित है ।

2 सूत्र कृताग, 1,3 में उन्हे 'वैसालिए' अर्थात वैशालिक कहा भी गया है ।

3. आचाराग सूत्र, 2, 15, 17

4 वही, 2, 15, 15

5 कल्प सूत्र, 110 और 17

6 वही, 116

भिक्षु बनकर वे तप करने लगे।[1] एक वर्ष बाद उन्होंने अपने मूल्यवान वस्त्रों और आभूषणों को बालुका नदी में फेंक दिया।[2] भिक्षान्न मांगते हुए नग्न घूमने लगे। इस प्रकार बारह वर्ष तक कष्टमय जीवन व्यतीत कर तपस्या करने लगे। यहा तक कि कीडे-मकोडे उनके शरीर पर रेंगने लगे।[3] तेरहवें वर्ष में उन्हे जृभिक ग्राम के बाहर ॠजुपालिक नदी के तट पर शाल वृक्ष के नीचे 'कैवल्य' प्राप्त हुआ। उन्होने अपनी इद्रियों को जीत लिया अत वे 'जिन' कहलाये। अतुल पराक्रम के कारण वे 'महावीर' के नाम से प्रख्यात हुए। बौद्ध साहित्य में वे 'निगठनाटपुत्त' (निर्ग्रंथ ज्ञातृपुत्र) कहे गए। निर्ग्रंथ इसलिए कि उन्होने समस्त सासारिक बधनो (ग्रथियो) को तोड दिया था, ज्ञातृपुत्र इसलिये कि वे ज्ञातृक कुल के थे।

महावीर तीस वर्ष तक विभिन्न प्रदेशो और राज्यो मे भ्रमण करते रहे और अपने उपदेश देते रहे। वे केवल वर्षा ऋतु (चातुर्मास्य) में ही किसी-किसी स्थान पर रुकते थे। अपनी इन यात्राओ मे उन्हे बडे शारीरिक कष्ट सहन करने पडे और यातनाए झेलनी पडी।[4] फिर भी वे अपने ज्ञान एव धर्म के प्रचार मे रत रहे।

प्रारंभ मे वे अकेले भ्रमण करते थे किंतु कुछ काल बाद उन्हे मक्खलि गोसाल नामक एक सहयोगी मिल गया। यह उनके उपदेश-काल की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। गोसाल और महावीर की प्रथम भेंट नालदा में हुई थी और दोनो ने एक साथ रहकर पणियभूमि नामक स्थान मे छ: वर्ष तक कठोर तप किया।[5] किंतु कुछ समय उपरात दोनो मे मतभेद हो गया। फलत वे एक दूसरे के आलोचक बन गये। गोसाल ने एक नये मत का प्रवर्त्तन किया जो 'आजीविक मत' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[6]

राजपुत्र होने के कारण उच्च सामाजिक परिवेश उनके अनुकूल था। अनेक राजवशो ने उन्हे सहायता दी। अनेक समसामयिक राजवंशो से उनका सीधा संबध था। स्वय उनकी माता लिच्छिवि राजा चेटक की बहिन थी। इसके

2 आचारागसूत्र, 2, 15, 24

3. वही, 1, 8, 2

4. वही

5 लाढ, (राढ़ पश्चिमी बगाल), व्रजभूमि और सुह्य देश में यात्रा करते हुए लोगों ने उन पर आक्रमण किया, कुत्ते छोडे, गाली दी और पीटा भी। देखिये आचराग सूत्र, 1, 8, 2

6 हर्नले कृत उवासगदसाओ, 2

7. सूत्रकृताग, 2-6

अतिरिक्त मगध, सिंधु, सौवीर, कौशाबी, अवंति और चंपा के नरेशों से भी उनका संबंध था। निःसंदेह इन राजवंशों ने महावीर को उनके धर्म के प्रचार में सहायता पहुँचायी होगी। स्वयं चेटक महावीर का प्रशंसक था।[1] चंडप्रद्योत महासेन भी उनके प्रति श्रद्धालु था।[2] उसकी पत्नियाँ भी जैन धर्म मे रुचि रखती थी।[3] मगध नरेश बिंबिसार और उनकी कुछ पत्नियाँ भी[4] जैन धर्म मे श्रद्धा रखती थी।[5] बिंबिसार का पुत्र अजातशत्रु भी महावीर का भक्त था।[6] चंपा नरेश दधिवाहन भी महावीर मे अपार श्रद्धा रखता था।[7] सिंधु-सौवीर का राजा उदयन जैन धर्म मे आस्था रखता था।[8] वैशाली राज्य मे महावीर का अच्छा खासा प्रभाव था, क्योकि यहाँ उन्होने अपने भ्रमण काल के बारह वर्ष व्यतीत किये थे। ज्ञातृकराज्य पर महावीर का स्वाभाविक रूप से विशेष प्रभाव था। मल्लराज महावीर का बडा आदर करते थे। उन्ही के राजप्रासाद मे महावीर की ई० पू० 587 में मृत्यु हुई थी। यद्यपि उपर्युक्त सभी राजा जैन धर्म में दीक्षित नही हुए थे तथापि सहिष्णु और उदारमना होने के कारण वे जैनधर्म के प्रति सहानुभूति एवं श्रद्धा रखते थे।[9]

स्वामी महावीर के सिद्धांत[10]

महावीर ने जिन सिद्धांतो का प्रचार किया था अंततः वे ही जैन धर्म के सिद्धांत माने जाने लगे। जैन ग्रंथो मे महावीर या जैन धर्म के जो सिद्धांत यत्र-तत्र उल्लिखित है, वे निम्नलिखित है—

1 निवृत्ति की प्रधानता

संसार की सभी वस्तुएँ सुख-दुःख मूलक तथा व्याधिस्वरूप है।[1] मानव

1, आवश्यक चूर्णि पृ० 164।

2 वही 401।

3. वही 91।

4 अन्तगडदसाओ 7, पृ० 44।

5 उत्तराध्ययन सूत्र 20।

6 ओवाइव सूत्र 22।

7. आवश्यक चूर्णि पृ० 207।

8. भगवती सूत्र 1, 3, 6।

9. महावीर के निर्वाण की अन्य तिथि 546 ई० पू० है।

10 देखिये स्टिवेंसन कृत 'दि हार्ट आफ जैनिज्म', जगमदर लाल जैनी कृत 'आउटलाइस आफ जैनिज्म', बरोडिया कृत 'हिस्ट्री एंड लिट्रेचर आफ जैनिज्म' शाह कृत 'जैनिज्म इन नार्दर्न इंडिया।'

11 उत्तराध्ययन सूत्र 13, 6, 17 और 14, 13।

जरा एव मृत्यु से पीडित है ।[1] गृहस्थ जीवन मे भी सुख-शाति नही मिलती ।[2] वह तृष्णा से ग्रसित तथा असतोषी रहता है ।[3] अधिक प्राप्ति तथा अधिक संपत्ति के साथ-साथ कामनाओं की भी वृद्धि होती है ।[4] काम-भोग का परिणाम कटु और दु ख से परिपूर्ण होता है ।[5] शरीर क्षणभगुर है ।[6] मुख्य समस्या दु ख और दु ख का निरोध है । ससार के त्याग मे ही सुख निहित है । अत. मनुष्य को चाहिये कि वह परिवार, सपत्ति और ससार से विमुख होकर भिक्षु बनकर इद्रिय निग्रह कर तपस्या करे ।[7]

2 कर्मवाद और पुनर्जन्म

जैन धर्म अनीश्वरवादी है । ईश्वर विश्व का सृष्टा एव नियंता नही है वरन् मनुष्य स्वय अपना भाग्यविधाता है । वह अपने कर्म के लिए स्वय उत्तरदायी है । उसे अपने अच्छे-बुरे कर्मों का फल स्वयं भोगना पडता है ।[8] कर्म ही मृत्यु का कारण है । वह जिन कर्मों से बधा हुआ है वे आठ प्रकार के है ।[9] किये हुए कर्मों का फल भोगे बिना जीव को छुटकारा नही मिलता । अस्तु कर्म ही पुनर्जन्म का कारण है । कर्म-फल से विमुक्ति ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन है ।

कर्म के बधनो का अंत करने के लिए अथवा मोक्ष प्राप्त करने के लिए महा-

1 वही 13, 26 ।
2 वही 14, 7 ।
3. याकोबी कृत जैनसूत्र 2, 301-304 ।
4. वही ।
5 उत्तराध्ययन 19, 12 ।
6 वही 19, 14 ।
7. याकोबी कृत जैनसूत्र 2, 301 ।
8 वही ।
9 उत्तराध्ययन सूत्र 33, 1-2 ।
   1. ज्ञानावरणीय (आत्मा को ज्ञान से ढकनेवाले) ।
   2 दर्शनावरणीय (आत्मा का सम्यक दर्शन)
   3 वेदनीय (सुख-दु ख के सम्यक ज्ञान को रोकनेवाले) ।
   4 मोहनीय (जीव को मोह मे डालनेवाले) ।
   5 आयु कर्म (जो कर्म मनुष्य की आयु निर्धारित करे)
   6 नाम कर्म (जो कर्म मनुष्य की गति, शरीर, परिस्थिति आदि को निर्धारित करे) ।
   7 गोत्र कर्म (जो मनुष्य के गोत्र ऊँच-नीच स्तर को निर्धारित करे) ।
   8 अन्तराय कर्म (जो कर्म सत्कर्मों में बाधा डाले) ।

वीर ने तीन साधन बतलाये है । जैन धर्म में इन्हे त्रिरत्न कहा है । ये तीन रत्न हैं—**सम्यक् ज्ञान, सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् आचरण ।**

3 अनेकांतवाद

जैन धर्म सभी प्राणियो मे एक ही आत्मा को नही मानता । उसके अनुसार 'यदि सभी जीवो मे एक ही आत्मा होती तो वे एक-दूसरे से पृथक रूप में न पहचाने जा सकते और न उनकी भिन्न-भिन्न गतिविधि होती ।' अस्तु, जैन धर्म एकात्मवाद के स्थान पर अनेकात्मवाद का प्रतिपादन करता हैं । उसके अनुसार प्राणियो में ही नही, अपितु जड वस्तुओ मे भी आत्मा होती हैं, किन्तु प्रत्येक प्राणी और वस्तु की आत्मा भिन्न-भिन्न होती है और उसमे चेतना भी न्यूनाधिक मात्रा में भिन्न होती है ।[1]

4 मोक्ष

मोक्ष (निर्वाण अथवा कैवल्य) प्राप्त करना जैन धर्म का चरम उद्देश्य है । प्रत्येक प्राणी एव जतु के दो अश होते हैं—भौतिक अश तथा आत्मिक अंश । भौतिक अश अशुद्ध, अधकारयुक्त एव नाशवान होता है और आत्मिक अश विशुद्ध, प्रकाशवान एव अनश्वर । जीव के भौतिक अश का नाश कर दिया जाये तो आत्मा का प्रकाश दिखाई देने लगेगा । इस प्रकाश का दर्शन ही निर्वाण है । यह भौतिक अश के विनाश के बाद पूर्ण विशुद्धि, प्रकाश, अनश्वरता, अनतता और असीमता की आनदपूर्ण स्थिति है । इस स्थिति को प्राप्त करके मनुष्य को पुन जन्म नही लेना पडता और वह आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है ।

5. स्याद्वाद

जैन धर्म के अनुसार ज्ञान दुर्बोध है । भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से ज्ञान का रूप-वैविध्य सिद्ध होता है । जैन धर्म के अनुसार प्रत्येक ज्ञान भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण के कारण सात प्रकार का होता है । "है; नही है; है और नही है, कहा नही जा सकता है। परतु कहा नही जा सकता, नही है और कहा नही जा सकता, है, नही है और कहा नही जा सकता" अपनी इस अनि-

---

1 एक ओरजैन धर्म अनेकातवाद की बात कहता है । दूसरी ओर वह मानता है कि पदार्थों और व्यक्तियो की जो विभिन्नता है, वह एकमात्र भौतिक है । भौतिक तत्त्व ही भिन्न-भिन्न वस्तुओं तथा जीवो को भिन्न-भिन्न रूप देता है । उनके भीतर आत्मिक अश तो एक ही है । स्वय जैन धर्म ही भौतिक तत्त्व के विनाश का उपदेश देता हैं, क्योकि यह असत्य है और आत्मा का अविच्छिन्न अंश नही है । जैन धर्म के अनुसार इसी भौतिक तत्त्व के कारण संसार मे विविधरूपता है । अत ये दोनो बातें परस्पर विरोधी है ।

स्थितता के कारण जैन धर्म का यह सिद्धात स्याद्वाद, अनेकातवाद अथवा सप्तभगी कहलाता है।

6 अहिंसा

जैनधर्म के अनुसार जड-चेतन सभी में आत्मा है। उसके अनुसार छः प्रकार के जीवों (पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय तथा चलने फिरने वाले जीव) के प्रति सपूर्ण व्यवहार ही अहिसा है।[1] प्राणिमात्र के प्रति मन, वचन और कर्म से किया जाने वाला कोई भी असयत आचरण हिंसा है। हिंसा के ही कारण उन्होने यज्ञो को निरर्थक बताया और विरोध किया।

7. शुद्धाचरण पर बल

महावीर ने बाह्य शुद्धि एव कर्मकाड को निरर्थक बता कर विशुद्ध आचरण पर बल दिया।[2] उनके अनुसार जो सदाचार के गुणो से युक्त है, जो श्रेष्ठ सयम का पालन करता है, जिसने समस्त अपराधो को रोक दिया है और जिसने कर्म का नाश कर दिया है, वह विपुल, उत्तम और ध्रुवगामी है और मोक्ष को प्राप्त करता है'।[3] उन्होने ब्राह्मणो की जन्म वर्ण-व्यवस्था को अस्वीकारते हुए कर्म के आधार पर उसकी व्याख्या की है।[4] इस प्रकार जैन धर्म मनुष्य को कर्म के अधीन मानता है। मनुष्य स्वय अपना भाग्यविधाता है।

8 जाति-भेद तथा लिंग-भेद का विरोध

महावीर का मत था कि पुरुषार्थ से सभी को मोक्ष प्राप्त हो सकता है। उसमे जाति-भेद तथा लिंग-भेद का कोई महत्त्व नही है। इस प्रकार शूद्र या दस्यु और स्त्री भी मोक्ष के अधिकारी है। अत महावीर ने जाति-व्यवस्था का विरोध किया और नारी-स्वातत्र्य का पक्ष लिया। इस प्रकार उन्होंने नारियों के लिये अपने सघ का द्वार खोल दिया।

9. पच महाव्रत

महावीर ने जैन भिक्षु-भिक्षुणियो के लिए पाच महाव्रतों का कठोरता से पालन करने की आज्ञा दी थी। ये निम्नलिखित है :—

1 अहिंसा महाव्रत

किसी भी प्रकार की हिंसा नही होनी चाहिये। इसके लिये निम्नलिखित नियमो का पालन आवश्यक था —

अ पैरो से कीटाणुओं की हत्या न हो।

---

1. दसवैकालिक सूत्र, 6।
2. उत्तराध्ययन सूत्र, 12, 38-39।
3. वही, 20, 52।
4. वही, 25, 33।

आ मधुर वाणी बोलो, जिससे किसी को शब्दाघात न पहुँचे और उसकी वाचिक हत्या न हो ।

इ. भोजन द्वारा कीटाणुओ की हत्या न हो ।

ई भिक्षु को अपनी सारी सामग्री का उपयोग सावधानी से करना चाहिए जिससे कीट-पतग की हिंसा नहो ।

उ. ऐसे स्थान पर मल-मूत्र त्याग करना चाहिए जहा पर ऐसा करने से किसी भी कीटाणु की हत्या न हो ।

2. सत्य-भाषण महाव्रत

सदैव सत्य एवं मधुर बोलना चाहिये । इसके लिए पाच बातों का ध्यान रखना अपेक्षित है—

अ. क्रोध आने पर मौन रहे ।

आ बिना सोचे-विचारे न बोले ।

इ लोभ-ग्रस्त होने पर मौन रखना चाहिए ।

ई भयभीत होने पर भी असत्य न बोलें ।

उ हसी-मजाक में भी असत्य न बोले ।

3 अस्तेय महाव्रत

किसी की वस्तु को बिना अनुमति के न तो ले और न लेने की इच्छा करे । इस संबध मे पाच बाते ध्यान देने योग्य है—

अ. बिना आज्ञा किसी के घर मे प्रवेश न करें ।

आ बिना आज्ञा के किसी के घर मे न रहे ।

इ बिना गुरु की आज्ञा लिये भोजन ग्रहण न करे ।

ई बिना गृहस्वामी की आज्ञा के उसकी किसी भी वस्तु का प्रयोग न करे ।

उ यदि कोई भिक्षु किसी के घर मे निवास कर भी रहा हो तो उसे गृहस्वामी की आज्ञा के बिना उस घर मे न रहना चाहिए ।

4 अपरिग्रह महाव्रत

इसके अनुसार भिक्षुओ को किसी भी प्रकार का धन या वस्तु सग्रह नही करना चाहिये क्योकि उससे आसक्ति उत्पन्न होती । धन-धान्य और वस्त्रादि सभी परित्याज्य है । इसके अतिरिक्त इद्रियो के विभिन्न विषयो में भी अनासक्ति अपेक्षित है ।

5. ब्रह्मचर्य महाव्रत

ब्रह्मचर्य का पालन अत्यावश्यक है । इसमें इन बातों का ध्यान रखना चाहिये—

अ. किसी स्त्री से बात न करे ।

आ किसी स्त्री को न देखे ।

इ स्त्री-संभोग का ध्यान भी न करे ।

ई स्वल्पाहार करे ।

उ. जिस घर मे कोई स्त्री रहती हो, वहा न रहे ।

10. पच अणुव्रत

सभी लोग संसार त्याग कर भिक्षु-जीवन यापन नही कर सकते । इसलिए जैन गृहस्थ के लिए पाच व्रत बताये गये है । क्योकि भिक्षुओ की भाति गृहस्थ अत्यत कठोर व्रतो का पालन नही कर सकेंगे अत उनके सरल रूप को पंच अणुव्रत के रूप मे पालन करने को कहा गया है, जो इस प्रकार है—

सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य । इनके आधारभूत सिद्धात उपरिवर्णित महाव्रतो के समान ही है किंतु उनकी कठोरवादिता एव अतिवादिता इनमे नही है ।

11 आत्मवाद

महावीर आत्मा की अमरता मे विश्वास करते थे । वे जड मे भी जीव का अस्तित्व मानते थे । उनके अनुसार जीवन केवल मनुष्यो एव पशु-पक्षियो मे ही नही वरन् पेड-पौधो, पत्थरो और जल मे भी है । उनका मत था कि प्रकृति और आत्मा केवल दो ही तत्व है ।

12 अनीश्वरवाद

जैन धर्म ईश्वर मे विश्वास नही करता । वे ईश्वर को इस विश्व का स्रष्टा और नियता नही मानते । जैन धर्म के अनुसार सृष्टि अनादि, अनत एव गतिशील है ।

13 व्रत, उपवास एव तप

महावीर का मत था कि मनुष्य के शरीर को जितना क्लेश पहुँचाया जायेगा, उसकी आत्मा का उतना ही अधिक उत्कर्ष होगा । इस सिद्धात के आधार पर ही महावीर ने कठोर तप, नग्नता, व्रत, अनशन, आमरण अनशन, केशलुचन आदि का पालन आवश्यक बताया । जैन साधना मे तपस्या के दो प्रकार है वाह्य तपस्या, जिसके अतर्गत व्रत, उपवास, भिक्षाचर्या, रसो का परित्याग और शरीर को यातनाए आती है । दूसरे प्रकार की तपस्या में प्रायश्चित्त, विनय, सेवा, स्वाध्याय, ध्यान और शरीर-त्याग है ।

जैन धर्म के सीमित विकास के कारण

जैनधर्म बौद्धधर्म की भाति अधिक लोकप्रिय न हो सका । वह देश के एक सीमित क्षेत्र में फैला । वह कभी अंतर्देशीय धर्म न बन सका क्योकि विदेशो में उसका प्रचार न के बराबर हुआ । उसके सीमित विकास के अनेक कारण थे—

1. जैन धर्म के कुछ सिद्धात बडे कठोर थे यथा तपस्या, आमरण अनशन, केशलुंचन, नग्नता, आत्यंतिक अहिंसा आदि । यह कायाक्लेश जनसाधारण के व्यावहारिक जीवन के अनुकूल न था । इसके अतिरिक्त जैन-दर्शन की अनेकातवाद, स्याद्वाद और आत्मवाद-परक मान्यताए दुर्बोध थी ।

2. सैद्धातिक रूप में जैन धर्म ने जाति-प्रथा का विरोध किया किंतु व्यवहार रूप में वह कभी पूर्णरूपेण जाति-प्रथा को छोड न सका। साधारणतया उनके संघ में शूद्रो को स्थान न मिल सका, फलत शोषित वर्ग और शूद्र वर्ग अधिक संख्या में कभी जैन धर्मावलबी न हो सके और जैन धर्म द्विजातियों का ही धर्म बना रहा ।

3 जैनसघ का सगठन बौद्धधर्म की भाति जनतत्रवादी न था। उसकी सपूर्ण सत्ता थोडे से गणधरो के हाथो मे केंद्रित थी । इससे असतोष फैला और उच्छृंखल तथा विरोधी प्रवृत्तिया फैलने लगी । इसके अतिरिक्त जैनसघ के भिक्षु भिक्षुणिया मुख्यतया धनी वर्ग की दानशीलता पर निर्भर रहते थे, सामान्य लोगों की उदारता और दान पर नही ।

4. ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म की प्रतिद्वंदिता के कारण जैन धर्म कभी अधिक लोकप्रिय तथा देशव्यापी न हो सका। ब्राह्मण धर्म मे अनेक सुधार हुए और उसका पुनरुत्थान आरभ हुआ । दक्षिण भारत के शैव मतावलबियो (चोल और चालुक्य राजाओ) ने जैन धर्म के प्रभाव को क्षीण करने मे सफलता प्राप्त की। ब्राह्मण धर्म की जो कुरीतिया (जाति व्यवस्था, देवी-देवता, भक्ति, सामाजिक सस्कार) थी, वे सब जैन धर्म मे भी आ गयी फलत उसकी नूतनता और और पृथक् सत्ता विलीन होती गयी । इसके अतिरिक्त जैन धर्म का दूसरा प्रतिद्वन्द्वी धर्म बौद्ध धर्म अपेक्षाकृत अधिक जनप्रिय और सरल था । इन दोनो धर्मों के आगे जैन धर्म का अधिक विस्तार न हो सका ।

5. जैन धर्म के सिद्धातों और शिक्षा को जन-साधारण तक पहुँचाने के लिए कला को माध्यम भली-भाति न बनाया जा सका । लेखनी, तूलिका और छेनी का पर्याप्त समन्वय न हो सका। जैन-कला जीवन और धर्म को जोडने वाली शक्त कडी न बन सकी, जब कि बौद्ध-कला इस क्षेत्र मे पर्याप्त सफल रही ।

6. जैन धर्म को आश्रय प्रदान करने के लिए न तो अशोक, कनिष्क और हर्ष सरीखे राजाओं का ही सरक्षण मिल सका और न नागार्जुन, अश्वघोष और बुद्धघोष जैसे प्रतिभाशाली विद्वान और प्रचारक ही मिल सके, जो देश-विदेशों में धर्म का प्रचार कर सकते ।

7. प्रारभ में जैनग्रथो और बोलचाल की भाषा प्राकृत और अर्द्धमागधी

रही, जो कि जनप्रिय भाषा थी किन्तु कालातर मे जैन धर्म के ग्रथ सस्कृत मे लिखे गये जो साधारण जन की भाषा न थी। फलत जैन धर्म देशव्यापी न हो सका।

भारतीय संस्कृति को जैनधर्म का योगदान

जैन धर्म ने भारतीय जीवन को अनेक प्रकार से प्रभावित किया।

दर्शन

जैन दर्शन से भारतीय दार्शनिक चितन गौरवान्वित हुआ। उनका स्याद्-वाद, अनेकातवाद, आत्मवाद, कर्म, पुनर्जन्म और द्वैतवादी तत्त्वज्ञान आधुनिक दार्शनिको के लिए माननीय है। इसके अतिरिक्त दर्शन के क्षेत्र मे जैनधर्म ने सृष्टि, आत्मा, जीव, अजीव, आदि पर विचार प्रस्तुत किये तथा दार्शनिक खडन-मडन के सिद्धात को प्रोत्साहित किया।

भाषा

आगे चलकर जैन धर्म दो सप्रदायों मे विभक्त हो गया। इन दोनो सप्रदायो के धर्म-ग्रथ पृथक्-पृथक् है। श्वेतांबर मत के ग्रथ अर्द्धमागधी भाषा मे लिखे गये, जो 'अग' कहलाते हैं। इनकी सख्या ग्यारह है। ये ईसा की पाचवी शती मे लिखित रूप मे सकलित किये गये। इनके अतिरिक्त अन्य ग्रंथ भी है जिनमे सर्वाधिक प्रसिद्ध भद्रबाहु कृत 'कल्पसूत्र' है। दिगंबर मत के ग्रथ ईसा की दूसरी शताब्दी में सकलित किये गये थे। ये ग्रथ सस्कृत भाषा में है। ये चार भागों मे 'वेद' के नाम से सकलित किये गये है।

जैन लेखकी मे राजा कुमारपाल के दरबारी हेमचद्र ने प्राकृत भाषा का व्याकरण, कोष तथा छदशास्त्र और गणित आदि पर अनेक मौलिक ग्रथ लिखे। जैन साहित्यकारो में हेमचद्र सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार तथा इतिहासकार हुए है। धार्मिक ग्रथो के अतिरिक्त लौकिक और साहित्यिक ग्रथ भी जैन विद्वानो ने लिखे। **पंचतंत्र** पर जैन विद्वानों ने दो आलोचनात्मक ग्रंथों की रचना की। व्याकरण, गणित, योगशास्त्र, काव्य, रचनाशास्त्र, कोष छन्दशास्त्र, गाथाओं, कथाओ, चरित्रकाव्यों आदि विभिन्न विषयो पर भी जैन विद्वानो ने महत्त्वपूर्ण ग्रथों की रचना की।

जैन लेखकों ने संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में ही ग्रथ नही लिखे, वरन् तमिल, तेलगु, कन्नड आदि भाषाओं मे भी रचनाएं की। इस प्रकार इन भाषाओ को समृद्ध बनाने और इनके साहित्य को विकसित करने में इनका योग-दान प्रशस्य रहा है। सुप्रसिद्ध ग्रंथ **कुरल** के अधिकाश भाग की रचना जैन विद्वानो ने की है। जैन साहित्य के अनेक शब्द तमिल, तेलगु और कन्नड़ भाषाओं में प्रचलित है।

समाज एवं नीति

जैन भिक्षुओं के कठोर संयम, अहिंसा व्रत के पालन, तपस्वी जीवन और शुद्धाचरण से भारतीयो को नैतिक एव सदाचारमय जीवन व्यतीत करने के लिए एक बलवती प्रेरणा मिली। जैन साधुओ के कारण ही अहिंसा का सिद्धात भारतीय राष्ट्रीय जीवन का एक सजीव अग बन गया।

जैन धर्म ने बाह्य कर्मकाड का विरोध किया तथा अन्त शुद्धि पर बल दिया, जिसके फलस्वरूप देश में नैतिकता एव सदाचार को बल मिला। जैन धर्म ने स्त्रियो एव शूद्रो को मोक्ष का अधिकारी मान कर उनके लिए संघ के द्वार खोलकर उनकी सामाजिक स्थिति को ऊपर उठाने का प्रयास किया।

कला

जैनधर्म ने कला के क्षेत्र मे भी बडा योगदान दिया। जैन कला का सक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है—

शैल स्थापत्य

पुरी जिला (उडीसा) के उदयगिरि तथा खडगिरि मे अनेक प्राचीन जैन गुफाए प्राप्त हुई है, जिनका निर्माणकाल लगभग ई० पू० 150 है। ये पैंतीस गुफाए हैं। इन गुफाओ के स्तम्भो का ऊपरी भाग विशेष रूप से आकर्षक है। 'रानी गुफा' और 'गणेश गुफा' नामक गुफाए विशेष आकर्षक के केन्द्र है। दक्षिणी-पश्चिमी भारत मे एलोरा मे भी जैन गुफाए है, जो आठवी-नवी शताब्दी ईस्वी की हैं। इनमे इद्रसभा नामक गुफा दुमजिली है। ऊपरी भाग मे जैन तीर्थंकरो की मूर्तिया निर्मित है।

मंदिर—खजुराहो (छतरपुर जिला, मध्य प्रदेश) मे दसवी तथा ग्यारहवी शताब्दी के निर्मित अनेक जैन मदिर है, जिनमे आदिनाथ, शातिनाथ, पार्श्वनाथ के मदिर महत्वपूर्ण है। इन मदिरो को कार्निसो में हिंदू देवी-देवताओ की अनेक मूर्तिया निर्मित हैं, जो दोनो धर्मो के अच्छे सबध की सूचक है।

राजस्थान के आबू पर्वत पर के सर्वाधिक प्रसिद्ध जैन मदिरो का निर्माण लगभग ग्यारहवी और बारहवी शताब्दी मे हुआ था। इन मदिरो के शिखर खजुराहो के मदिरो के शिखरो से साम्य रखते है और इनकी छते एव स्तभ सगमरमर की बनी है जिन पर अनुपम अलकार उत्कीर्ण है। इसमे भारतीय कला-प्रतिभा पराकाष्ठा पर पहुँच गयी है।

मूर्तियां—सौराष्ट्र मे गिरनार और पहाडियो पर, जोधपुर मे राणापुर, बिहार में पारसनाथ और श्रवणबेलगोला (मैसूर) में मदिर निर्मित है, जहां मदिर निर्माण कला के साथ मूर्तिनिर्माण कला का विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। श्रवणबेलगोला के समीप बाहुबली की विशाल जैन प्रतिमा है, जो गोमतेश्वर

के नाम से प्रसिद्ध है। पहाडी के शिखर पर स्थित सत्तर फुट ऊँची इस प्रतिमा के निर्माण की व्यवस्था 974 ई० मे गग नरेश राजमल चतुर्थ के मन्त्री एव सेनापति चामुण्ड राय ने की थी और इसे उस स्थल पर प्रतिष्ठित कराया था। बड़वानी मध्यप्रदेश के समीपस्थ चौरासी फुट ऊँची जैन तीर्थंकर की एक प्रतिमा है जो प्रस्तर काट कर निर्मित की गयी है। मथुरा मे काफी अधिक सख्या मे जैन मूर्त्तिया मिली है।

स्तंभ–जैन कलाकारो ने धर्मस्तभो का भी निर्माण किया है। इनमे जैन स्थापत्य-कला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण चितौड दुर्ग का स्तभ है। यह चौकोर है, जिसमे सीढिया बनी है जिनके द्वारा उसके ऊपर तक जाया जा सकता है।

चित्रकला–जैन कलाकारो ने अपनी चित्रकला का प्रदर्शन पाडुलिपियो (हस्तलिखित ग्रथो) पर किया है। इनमे सुनहले तथा अन्य चमकीले रगो का प्रयोग किया गया है। जैन तीर्थंकरो और मूर्त्तियो के चित्रण मे उनकी कला सफल हुई है। इस कला पर राजपूती चित्र कला का प्रभाव है। यह चित्रकला सादगीपूर्ण है।

गौतम बुद्ध और बौद्धधर्म

गौतम बुद्ध का जीवन चरित्र[1]

जन्म तथा वश

बौद्ध धर्म के प्रवर्तक का नाम सिद्धार्थ गौतम बुद्ध था।[2] ईसा पूर्व छठी शताब्दी मे नेपाल की तराई (आधुनिक बस्ती जिला की पूर्वोत्तरीय सीमा) मे शाक्य क्षत्रियो का एक छोटा-सा गणराज्य था, जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। इस गणराज्य का राजा शुद्धोदन था। इनके दो पत्निया थी—मायादेवी तथा प्रजापति गौतमी। मायादेवी कपिलवस्तु के निकटस्थ कोलिय गणराज्य की राजकुमारी थी। मायादेवी पुत्र-प्रसव के लिए अपने मायके देवदह जा रही थी, तभी मार्ग मे कपिलवस्तु से चौदह मील दूर लुंबिनी वन[3] में ईसा पूर्व

---

1 देखिये, अश्वघोषकृत बुद्ध चरित, ललितविस्तार, महावस्तु, महावस्तु, सुतनिपात, राहुल साकृत्यायन कृत बुद्ध चर्या, टामस कृत 'दिल लाइफ आफ बुद्ध' और ओल्डेनवर्ग कृत बुद्ध।

2 बुद्ध के गोत्र का नाम गौतम और व्यक्तिगत नाम सिद्धार्थ था।

3 मौर्य सम्राट् अशोक ने यहा एक प्रस्तर स्तंभ स्थापित कराया, जिसमे लिखा है—भगवान शाक्य मुनि यहा उत्पन्न हुए थे। (हिद बुधे जाते साक्य मुनिति हिद भगवा जातेति)।

623 ने बालक सिद्धार्थ का जन्म शाल वृक्ष के नीचे हुआ ।[1] लुंबिनी वन से मायादेवी नवजात शिशु के साथ कपिलवस्तु लौट आयी । किंतु दुर्भाग्यवश गौतम के जन्म के सातवें दिन मायादेवी का देहात हो गया ।[2] अत बालक का पालन-पोषण मौसी प्रजापति गौतमी ने किया ।[3] सिद्धार्थ के जन्म पर कालदेवल नामक तपस्वी तथा कौडिन्य नाम ब्राह्मण ने भविष्यवाणी की थी कि ऐसे लक्षणो वाला यदि गृही हो, तो राज-चक्रवर्ती होगा और यदि प्रव्रजित हुआ, तो धर्म-चक्रवर्ती होगा ।[4]

बाल्यकाल एवं शिक्षा

पिता शुद्धोदन ने सिद्धार्थ के मनोविनोद के लिए अनेक गणिकाए नियुक्त की ।[5] पुस्तकीय शिक्षा के अतिरिक्त उन्हें क्षत्रियोचित सामरिक शिक्षा भी दी गयी । बाल्यावस्था से ही वे सहृदय, दयालु, चिंतनशील एव कोमल स्वभाव के थे । बहुधा वे वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित होकर मनन एव चिंतन किया करते थे । यह देख कर पिता ने उनके लिए विलासमयी सामग्री जुटाना प्रारभ कर दिया ।[6] किन्तु उनका मन निवृत्ति की ओर बढता गया और दिन-प्रतिदिन वे सासारिक विषयो से विरक्त होते गये । भोग-विलास और महलों के सुख मे रह कर भी जीवन के कुछ कठोर सत्य यथा जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, दु ख और अपवित्रता से परिचित एव प्रभावित हुए ।[7] अतत सिद्धार्थ के हृदय मे सासारिक जीवन के प्रति घोर उदासीनता को देख कर शुद्धोदन ने जागतिक मायाजाल मे बाध रखने की दृष्टि से उनका विवाह सोलह वर्ष की आयु मे यशोधरा से कर दिया और भोग-विलास की प्रचुर सामग्री भी जुटा दी, परतु

---

1 बौद्ध मूर्तिकारो ने बुद्ध के प्रजनन का दृश्य बडा सुन्दर अकित किया है, जिसमे शालभजिका की मुद्रा मे माया शाल वृक्ष की शाखा पकडे हुए खडी दिखाई गई है ।

2 मज्झिम निकाय 3, 118

3 अंगुत्तर निकाय 4, 2, 1, 1 प्रजापती पब्बज्या सुत्त ।

4 जातक कथा (अवदूरेनिदानं) 39, पृ० 43

5 जातक अट्ठकथा ।

6 अगुत्तर निकाय 1,145

2 मज्झिनिकाय 1,163

कहा जाता है कि नगर दर्शन के विभिन्न अवसरो पर भ्रमण करते समय सिद्धार्थ को मार्ग में पहले जर्जर शरीर वृद्ध, फिर व्यथापूर्ण रोगी, मनुष्य का शव और अत में वीतराग संन्यासी के दर्शन हुए थे । इन दृश्यों से संसार के प्रति उनकी उदासीनता अधिक बढ गयी थी ।

नाना यंत्रणाओं से भरे जरा और मरण के भय से घिरे ससार ने उन्हे झकझोर दिया और भोग-विलास के एक से एक सुंदर किसी भी उपकरण ने उन्हें अपनी ओर आकृष्ट न किया। फिर भी सिद्धार्थ ने माता-पिता की इच्छा का आदर करने के कारण बारह वर्ष तक गृहस्थ जीवन व्यतीत किया। किन्तु अतत दु ख शमन के लिए गौतम ने गृह त्याग करना निश्चित किया। इसी बीच उन्हें पुत्र लाभ हुआ। जब परिचारिका ने पुत्र लाभ की सूचना दी, सहसा उनके मुख से निकल पडा 'राहु उत्पन्न हुआ, बन्धन उत्पन्न हुआ'। इसलिए नवजात शिशु का नाम 'राहुल' रक्खा गया। परन्तु जनकल्याण की कामना वाले उस करुण प्रचेता को गृहस्नेह अधिक काल तक बाध न सका। एक रात निद्रामग्न पुत्र राहुल और पत्नी यशोधरा की ओर अतिम बार निहार कर उन्होने गृहत्याग दिया और अपने घोड़े कथक पर सवार होकर सारथी छन्दक के साथ नगर से वहिर्गमन किया। 'महाभिनिष्क्रम्भ की यह घटना उनकी आयु के उन्तीसवें वर्ष में हुई थी।[1] रातोंरात काफी दूरी तय कर प्रात· अनोमा नदी (गोरखपुर में आभी) को पार कर अपने सारथी और घोडा को वापस भेज दिया। इसके बाद उन्होने अपनी तलवार से राजसी बाल काट डाले तथा अपने वस्त्र और आभूषण एक भिखारी को देकर तपस्वी वेश मे ज्ञान की खोज मे निकल पडे।

सिद्धार्थ ज्ञान की खोज मे पडितों विद्वानो एव साधु सन्यासियो से मिलने लगे। भ्रमण करते वे मगध की राजधानी राजगृह मे आलारकालाम नामक आचार्य से दर्शन सिद्धात पढते रहे। परतु अत मे यह जान कर कि आलार-कालाम का धर्म 'न निर्वेद के लिए है, न निरोध के लिए, न उपशम के लिए है, न सबोधि के लिए, न अभिज्ञा के लिए है, और न निर्वाण के लिए है' गौतम ने उनका साथ छोड दिया।[2] चलते-चलते वे रामपुत नामक एक अन्य आचार्य के पास पहुँचे जो 'नैव संज्ञा नासज्ञायतन' नामक योग का उपदेश करते थे। परतु यहा भी उन्हे सतोष न मिला। अस्तु, गौतम ने उनका साथ भी छोड दिया।[3] इस प्रकार निराश होकर गौतम ने राजगृह छोड दिया। राजमार्ग पर जाते हुए गौतमबुद्ध के तेजोदीप्त मुख को देखकर बिंबिसार ने उन्हे अपना राज्य प्रदान

1 ललितविस्तर तथा मज्झिमनिकाय 1,240

बुद्ध ने स्वय कहा "हे भिक्षुओं यद्यपि मैं उस समय पूर्ण युवक था—मेरे माता-पिता सन्यास लेने की आज्ञा नही दे रहे थे, तथापि मैंने उन्हे रोने-कलपते छोडकर कषाय वस्त्र धारण करके, बाल और दाढी मूछ मुडवा कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।"

2 मज्झिमनिकाय 2, 4, 5

3 वही 1

करना चाहा। सिद्धार्थ ने हँसकर बिंबिसार का प्रस्ताव ठुकरा दिया। इस पर राजा ने कहा 'महात्मन्, ज्ञान प्राप्त कर इधर भी आना और अपने सुख का कुछ अंश मुझे भी प्रदान करना।' गौतम बीहड़ वनों और दुर्गम पहाड़ियों को लाँघ कर महाकातार होते हुए उरुवेला की सुरम्य वनस्थली में पहुँचे।

उरुवेल में तपस्या

गौतम बोधगया के समीप उरुवेला में कठिन तप करने लगे यहां उन्हें पांच ब्राह्मण (पंच वर्गीय भिक्षु) साधु मिले। उन्होंने परंपरागत तपविधि के आधार पर तपस्या प्रारंभ कर दी।[1] कठोर तपस्या और भूख के कारण उनका शरीर जर्जर हो गया और वे इतने अशक्त हो गए कि उनमें दो चार पग भी चलने की शक्ति न रही। इस पर भी उन्हें ज्ञान प्राप्त न हो सका। उरुवेला की नर्तकियां उधर से नृत्य करती हुई निकलीं। उन्होंने गाया 'वीणा के तारों को अधिक ढीला न करो, नहीं तो वे न बजेंगे। वीणा के तारों को अधिक न खींचो, नहीं वे टूट जाएंगे।' गौतम ने भी मध्यम मार्ग को अपनाया। यही उनके धर्म की आधार शिला बनी। शीघ्र ही उन्हें ऐसा जान पड़ा कि कायिक कष्ट व्यर्थ है। अतः उन्होंने भोजन ग्रहण करना प्रारंभ कर दिया। ऐसा देखकर उसके साथी पांचों ब्राह्मण तपस्वियों ने गौतम को पथभ्रष्ट और भोगवादी समझ कर उनका साथ छोड़ दिया और वे सभी ऋषिपत्तन (सारनाथ) चले गए।

ज्ञान की प्राप्ति

अंततः गौतम ने ज्ञान प्राप्ति का संकल्प लिया। उसके बाद उरुवेला में एक वटवृक्ष के नीचे मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से आसन लगाया। उरुवेला की एक कन्या सुजाता ने ग्राम देवता को मनौती मानी थी कि यदि उसके प्रथम गर्भ से पुत्ररत्न उत्पन्न होगा तो वह उसे खीर चढ़ायेगी। आशा पूर्ण होने पर वैशाख पूर्णिमा के दिन प्रातः वह खीर लेकर वटवृक्ष के पास गयी। वहां वट वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित भिक्षु गौतम को साक्षात् वटदेवता समझ कर खीर उनके सम्मुख रख दी। गौतम ने खीर ग्रहण की फिर एक पीपल वृक्ष के नीचे समाधि लगाकर बैठ गए और यह निश्चय किया कि चाहे यह शरीर नष्ट ही क्यों न हो जाय परंतु जब तक मुझे ज्ञान प्राप्त न होगा तब तक मैं समाधिस्थ रहूँगा। तत्पश्चात् सोत्थेय नामक घसियारे ने उन्हें आसन के लिए आठ मुट्ठी तृण दान किया। इस तृण को लेकर वे सात दिन और रात वज्रासन में समाधिस्थ रहे। इसी समय उन्होंने काम वासना, तृष्णा और भय पर विजय प्राप्त की।[2] आठवें दिन

1 विमल चरण लाहा कृत बुद्धिस्ट स्टडीज 118, रीस डेविड कृत गौतम दि मैन 22, 25।

2 इसे बौद्ध साहित्य में 'मारयुद्ध' कहा गया है। जिसमें तपस्या में लीन

वैशाख की पूर्णिमा की पुण्य तिथि मे उन्हे ज्ञान प्राप्त हुआ और उनकी दीर्घ-कालिक साधना सफल हुई। इस घटना को बौद्ध साहित्य मे 'सम्बोधि' कहा गया है। अब सिद्धार्थ 'बुद्ध' (जागृत) और 'तथागत' कहे जाने लगे। बुद्धत्व प्राप्ति के समय भगवान बुद्ध की अवस्था मे पैंतीस वर्ष की थी। बोधि प्राप्ति से सबधित होने के कारण गया बोधगया के नाम से विख्यात हुआ, जो आज बौद्धो का प्रमुख तीर्थस्थल है।

धर्म का उपदेश

. भगवान बुद्ध ने अपने ज्ञान को गुप्त नही रखा। उन्होने पीडित मानवता के उद्धार के लिए अपने ज्ञान का प्रचार करने का दृढ सकल्प किया। एक दिन वे राजायतन वृक्ष के नीचे बैठे थे तभी दो बजारे उधर से निकले। बुद्ध ने उनके द्वारा दिये हुए मट्ठा और गुड़ के लड्डुओं को खाकर उन्हे अपना सर्वप्रथम उपदेश दिया। इस प्रकार प्रथम धर्मचक्र का प्रवर्तन उरुवेला मे हुआ। तत्पश्चात् वे काशी की ओर बढे क्योकि काशी उस समय विद्या और ज्ञान का केंद्र थी। ऋषिपत्तन (सारनाथ) पहुँचने पर उन्हे पाचो पुराने ब्राह्मण साथी मिल गये, जिन्हे बुद्ध ने अपना उपदेश दिया, जिसे 'धर्मचक्र[1]-प्रवतन सूत्र' कहते है,[2] जिसमे बौद्ध धर्म के मौलिक सिद्धात उपलब्ध है, जो इस प्रकार है—'भिक्षु को चाहिये कि दोनो अतिशय मार्गों अर्थात् (शरीर को अति कष्ट देना और अति कामसुख) से बचे। उसे मज्झिम पटिपदा अर्थात् मध्यम मार्ग पर चलना चाहिये तथा 'सत्यचतुष्टय'[3] का अनुसरण करना चाहिये।' उपदेश के बाद वे पाचो ब्राह्मण बुद्ध के शिष्य हो गये।

बौद्ध सघ की स्थापना

वाराणसी मे एक धनाढ्य सेठ का पुत्र यश बुद्ध का शिष्य हो गया और उसके माता, पिता और पत्नी बुद्ध के उपासक (गृहस्थ अनुयायी) हो गये, तथा यश के चार मित्र और पचास साथी बुद्ध के शिष्य हो गये। बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए इन साठ शिष्यों का एक संघ बनाया और उनको यह आदेश दिया कि "भिक्षुओ, बहुजन-हितार्थ, बहुजन-सुखार्थ, लोक पर अनु-कपा करने के लिए, लोगो के हित के लिए, सुख के लिए विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ, हे भिक्षुओं, आदि मे कल्याणकर, मध्य मे कल्याणकर, अत

बुद्ध के सम्मुख प्रतीक के रूप मे विकराल राक्षसो तथा सुदर अप्सराओ का उल्लेख किया गया है।

1 चक्र शब्द यहा धर्म के चक्रवर्ती साम्राज्य का द्योतक है।

2 संयुक्त निकाय, 5, 420।

में कल्याणकर, इस धर्म का उपदेश करो।"[1] इस प्रकार धर्मप्रचार सघ सगठित किया गया। और बौद्ध भिक्षुओं द्वारा धर्म का प्रचार आरभ हुआ।

पर्यटन तथा धर्मप्रचार

धर्म प्रचारार्थ महात्मा बुद्ध ने उरुवेला की ओर प्रस्थान किया, जो ब्राह्मण धर्मसमत कर्मकाड के लिए प्रसिद्ध था। मार्ग मे कुछ कुलीन युवको को अपने मत में दीक्षित किया। इनके मुखिया का नाम भद्र था, अतएव वे भद्रवर्गीय कहलाये। उरुवेला मे पाच सौ जटिल ब्राह्मण रहते थे, जो अग्निकुड को प्रदीप्त कर हवन किया करते थे। इनमें प्रमुख कस्सप थे। यहा से थोडी दूर पर इनके दो भाई—एक नदीकस्सप तीन सौ शिष्यो के साथ और दूसरा गयाकस्सप दो सौ शिष्यों के साथ रहते थे। एक सहस्र जटिल साधुओ को बुद्ध ने स्वधर्म मे दीक्षित कर उनको साथ लेकर राजगृह मे प्रवेश किया। वहा राजा बिंबिसार ने जनसमूह के साथ कस्सप सहित बुद्ध का स्वागत किया, श्रद्धाजलि अर्पित की तथा वेलुवन नामक उद्यान बुद्ध एव सघ को प्रदान किया। राजगृह मे सजय का एक सघ था, जिसके सैकडो सदस्य थे। अपने अग्रणी सारिपुत्त और मोग्गलान सहित उन्होंने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। सारिपुत्त और मोग्गलान आगे चल कर बुद्ध के प्रधान शिष्य बन गये।

बुद्ध के धर्म प्रचार-काल की एक महत्वपूर्ण घटना, अपनी जन्मभूमि कपिलवस्तु में उनका आगमन था, जहा उन्होने अपने पिता शुद्धोदन, अंत पुर की स्त्रियो, जनमें उनकी माता गौतमी और उनकी माता यशोधरा[2] भी थी, धर्म का उपदेश दिया और पुत्र राहुल और मौसी गौतमी के पुत्र नद[3] को भिक्षु बनाया।[4] कुछ महत्त्वपूर्ण दीक्षाए कपिलवस्तु मे राजगृह जाने वाले मार्ग पर स्थित अनुपिय मे दी गयी। दीक्षित लोगो मे शाक्य-राज भद्दिय, अनुरुद्ध, आनद, उपालि प्रमुख है। ये सभी भिक्षु बन गये और उन्होने बौद्ध-धर्म के प्रचार मे

---

1 सयुक्त निकाय, 4,1,4, विनयपिटक, महावग्ग।

2 प्रथम बार बौद्ध सघ मे स्त्रियो का प्रवेश हुआ। यह बुद्ध ने आनद के अनुग्रह पर किया था।

3. नद की मा वही थी जिसने गौतम का पालन-पोषण किया था।

4. नंद और राहुल के भिक्षु बन जाने से राजा शुद्धोदन के राज्य का कोई उत्तराधिकारी न बचा। अत्यत शोकाकुल होकर वे बुद्ध से बोले, "भगवन्, पुत्र का प्रेम त्वचा मास अस्थि को भेदता हुआ मज्जा तक पहुँचता है।" इस घटना के बाद बुद्ध ने भिक्षु बनने के लिए माता-पिता की आज्ञा को अनिवार्य बना दिया।

योगदान दिया । महात्मा बुद्ध अग, मगध, वैशाली श्रावस्ती, काशी, मल्ल-शाक्य, कोलिय, कोसल, कौशाबी आदि राज्यो तथा नगरो मे भ्रमण कर बौद्धधर्म का प्रचार करते रहे । वर्षाऋतु मे वे प्राय एक स्थान मे ठहर जाते थे और शिष्यो से धर्म पर विचार-विनिमय होता था । धर्म प्रचार के सिलसिले मे एक महत्त्व-पूर्ण घटना राजगृह में घटी । जब बुद्ध जेतवन मे ठहरे हुए थे, उनसे प्रभावित होकर श्रावस्ती के सेठ सुदत्त (अनाथपिंडिक) ने, जो कार्यवश यहा आये थे, उनसे दीक्षा ली और बुद्ध को श्रावस्ती मे आमत्रित किया । उन्होने जेतवन को अट्ठारह करोड मुद्राओ मे क्रय करके बुद्ध को अर्पित किया ।[1]

महापरिनिर्वाण

पैतालीस वर्षों के अनवरत धर्मोपदेशो के उपरात वे जराग्रस्त हो गये ।[2] अस्सी वर्ष की अवस्था मे भगवान बुद्ध ने भिक्षुओ को बुलाकर उपदेश दिया[3] और कहा कि 'अचिर काल मे ही तथागत का परिनिर्वाण होगा । आज से तीन मास के बाद तथागत परिनिर्वाण प्राप्त करेगे ।' वैशाली से बुद्ध भ्रमण करते हुए पावा आये । वहा वे चुद नामक लोहार के यहा भिक्षा के लिए गये । भोजन मे शूकर का मास होने के कारण उन्हे अतिसार रोग हो गया । रुग्णावस्था में ही वह पावा से कुशीनगर आये और वहां पर साल वृक्ष के नीचे ई० पू० 486 में वैशाख पूर्णिमा के दिन उनका पार्थिव शरीर शात हो गया और उन्हे निर्वाण की उपलब्धि हुई ।[4] मृत्युपर्यंत वे भिक्षुओ को उपदेश देते रहे । उनकी मृत्यु को 'महापरिनिर्वाण' कहते है । बुद्ध की अस्थियो को विभिन्न गणराज्यों और शिष्यो ने आपस मे बाट लिया और उन पर बुद्ध की स्मृति स्वरूप स्तूप निर्मित किये गये ।

बौद्धधर्म और उसके सिद्धात[5]

बौद्धधर्म एक अत्यत व्यावहारिक धर्म है । वह मानव के चरमोत्कर्ष का

---

1. चुल्लवग्ग पृ० 159 तथा जातक 1, 92-93 ।

भरहुत स्तूप की वेदिका स्तभ पर इस विलक्षण दान का दृश्य अकित है और उस पर यह उत्कीर्ण है, "जेतवन अनथपेटिको देति कोटि संथतेनि केता" अर्थात् अनाथपिंडिक कोटि धन से क्रय करके जेतवन का दान करता है । वही ।

2. जरासुत, सयुक्त निकाय, 46, 5, 1 ।

3. महापरिनिब्बान सुत, दीघनिकाय, 2, 6 ।

4 विसेंट स्मिथ ने यह तिथि 486 ई० पू० मे तथा फ्लीट और गाइगर ने ने 483 ई० पू० मानी है कुछ विद्वानो ने इसे 543 ई० पू० भी रखा है ।

5 देखिये कर्न कृत मैनुअल आफ बुद्धिज्म, रिज डेविड्ज कृत बुद्धिज्म, कीथ कृत बुद्धिस्ट फिलासफी इन इण्डिया एण्ड सीलोन तथा दीघ, मज्झिम, सयुत्त, अंगुत्तर तथा खुद्दक निकाय ।

साधन है। बुद्ध की दृष्टि से इहलोक और परलोक में धर्म ही मनुष्य में श्रेष्ठ है।[1] वह जीवन का विषय है, मृत्यु का नहीं। वह इसी जीवन में निर्वाण दिलाता है।[2] वह नितांत बुद्धिवादी है। बौद्धधर्म अपने मौलिक रूप में अंध-विश्वासों और अधपरपराओं में विश्वास नहीं रखता, वह किसी यांत्रिक कर्मकांड, सूक्ष्म दार्शनिकता एवं पौराणिक अधमान्यता पर आधृत न था।[3] बुद्ध प्रत्यक्षवाद में विश्वास करते थे।[4] बौद्ध धर्म व्यक्ति-निरपेक्ष है तथा वह धर्म-नियमता मे विश्वास रखता है।[5] वह आदि में मध्य में और अंत मे कल्याणकारी है।[6] वह बहुजनहितार्थ, बहुजनसुखार्थ, लोकानुकंपा के लिए था।[7] वह मानवता की उच्चतम प्रतिष्ठा का संस्थापक था।[8]

मूल सिद्धांत

1 चार आर्य सत्य

बौद्धधर्म के मूलाधार चार आर्य सत्य हैं, जिनका निरूपण बुद्ध ने इस प्रकार किया है—

1 दु ख, 2 दु ख समुदय, 3 दु ख निरोध, 4 दु ख निरोधगामी मार्ग।

1 **दुःख**—संपूर्ण संसार दु खमय है। जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, शोक, रुदन, अप्रिय का संयोग, प्रिय का वियोग तथा इच्छित वस्तु की अप्राप्ति आदि दु ख है।[9]

2. **दु ख-समुदाय (दु ख का कारण)**—सारे दु खो की जड तृष्णा (इच्छा) है। मनुष्य जीवनपर्यंत तृष्णा से घिरा रहता है, यथा काम तृष्णा, भाव तृष्णा, विभव तृष्णा।[10] रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श, मानसिक वितर्क और विचारो से मनुष्य आसक्ति करने लगता है और यही तृष्णा का जन्म होता है।[11] तृष्णायुक्त

1 दीघ निकाय, 3, 4।
2 वही।
3. अंगुत्तर निकाय, 8, 2, 1, 3।
4. मज्झिम निकाय, 1, 1, 4।
5 संयुत्त निकाय, 4, 1, 4।
6 मज्झिम निकाय, 1, 3, 7।
7. संयुक्त निकाय, 4, 1, 4।
8 चवमानसुत्त, इतिवुक्तक।
9 संयुक्त निकाय, 2, 9।
10 धम्मचक्कपवत्तन सुत, संयुक्त निकाय।
11 महासत्तिपट्ठान सुत. दीघनिकाय, 2, 9।

मनुष्य कभी भी दु ख से मुक्त नही हो सकता ।[1] तृष्णा के विनाश की मनुष्य के सम्मुख वास्तविक समस्या है ।

3 **दु ख निरोध**—दु ख तभी समाप्त होगा जब उसका मूल कारण (तृष्णा) समाप्त हो जाय । तृष्णा या वासना के नाश से जन्म-मरण और उसके साथ लगे हुए दु खो का अत होता है । सपूर्ण तृष्णा-क्षय और दु ख रहित अवस्था का नाम निर्वाण है ।[2]

4 **दुःख निरोध मार्ग**—अब प्रश्न यह उठता है कि इस मूल कारण (तृष्णा) का निवारण कैसे किया जाय । बुद्ध ने बताया कि तृष्णा के नाश के लिए मनुष्य को रूप, वेदना, सस्कार और विज्ञान का नाश करना पडेगा ।[3] यह नाश तभी संभव है जब बुद्ध द्वारा बताये अष्टाग मार्ग का अनुसरण किया जाय । यह मार्ग दोनो अतियो के बीच का है, अर्थात् यह न तो कठोर कायाक्लेश का उपदेश देता है और न भोग-विलास का । अस्तु, इसे मध्यम मार्ग कहा गया है । इस मार्ग के आठ नियम है ।

2. अष्टागिक मार्ग

इसका समाहार प्रज्ञा, शील और समाधि मे हो जाता है ।[4]

1 **प्रज्ञा ज्ञान**—श्रद्धा एव भावना से ओतप्रोत ज्ञान ही कल्याणकारक होता है । कोरा ज्ञान जडता का प्रतीक होता है । इसके अतर्गत दो नियम आते हैं—1 सम्यक् दृष्टि—इससे मनुष्य सत्य-असत्य, पाप-पुण्य, सदाचार-दुराचार मे भेद कर लेता है । 2 सम्यक् सकल्प—सकल्प जिसमे हिंसा और कामना आदि न हो ।

2. **शील**—इसका सबध शुद्धाचरण से है । इसमें निम्नलिखित तत्त्व सम्मिलित है—1 सम्यक् वाक्—जो वाणी विनीत, मृदु और सत्य हो । 2 सम्यक् कर्म—सत्कर्म । 3 सम्यक् आजीव—जीवन यापन की विशुद्ध प्रणाली ।

3 **समाधि**—चित्त की एकाग्रता को समाधि कहते हैं । इसमे निम्नलिखित तत्त्व है—1 सम्यक् व्यायाम—धर्म और ज्ञान के साथ प्रयत्न । 2. सम्यक् स्मृति—धर्म के प्रति सावधान एव जागरूक रहना । 3 सम्यक् समाधि—मन और मस्तिष्क की एकाग्रता ।

3 कर्म

बौद्धधर्म में कर्म प्रधान है । बौद्धधर्म में कर्म का वही स्थान है, जो आस्तिक

---

1. संयुक्त निकाय, 21, 10 तथा मज्झिम निकाय, 1, 2, 3 ।
2. धम्मचक्कपवत्तन सुत ।
3. सयुक्त निकाय, 2, 123 तथा मज्झिम निकाय, 1, 5, 4 ।
4. दीघ निकाय, 2, 123 तथा मज्झिम निकाय, 1, 5, 4 ।

धर्मों में ईश्वर का । बुद्ध के अनुसार 'प्राणी कर्मस्वक है, कर्मदायद है, और कर्म प्रतिशरण है ।'[1] सक्षेप में कर्म ही मनुष्य के सुख-दु ख, बधन मुक्ति, ऊँच-नीच का कारण है । इसी आधार पर बुद्ध ने ब्राह्मण धर्म की जन्मेज वर्णव्यवस्था का विरोध किया । प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता है । जैसा वह कर्म करता है, वैसा ही भोगता है । यज्ञ, प्रार्थना, आराधना उसे बचा नही सकते ।

4. पुर्नजन्म

अपने कर्मों के फल से ही मनुष्य अच्छा या बुरा जन्म पाता है ।[2] जिस प्रकार जल-प्रवाह में एक के बाद दूसरी लहर आती है और वह सक्रम रहता है, उसमें कही व्यवधान नही पडता, उसी प्रकार एक जन्म की अंतिम चेतना के विलय होते ही, दूसरे जन्म की प्रथम चेतना का उदय होता है । विलय और उदय के बीच कोई अनराल नही रहता ।[3]

5 निर्वाण

बौद्धधर्म का एकमात्र लक्ष्य निर्वाण प्राप्त करना है । सामान्यत. इसका अर्थ है आवागमन के चक्कर से विमुक्ति ।[4] बुद्ध के अनुसार निर्वाण से तात्पर्य है, परम ज्ञान । यह तृष्णा, आसक्ति से मुक्त होने का नाम है, जिसे पूर्ण विशुद्धि कहा गया है ।[5] अष्टाग मार्ग का अनुसरण करने पर निर्वाण सभव है ।[6] अन्य धर्मों के अनुसार निर्वाण मृत्यु के उपरात प्राप्त होता है, किंतु बौद्धधर्म में निर्वाण की प्राप्ति इसी जीवन मे सभव है । बुद्ध ने अपने जीवन मे निर्वाण प्राप्त किया था ।

6 अनीश्वरवाद

बुद्ध ने ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप मे स्वीकार नही किया है । नितात कर्म-वादी होने के कारण उन्होने मानव के कल्याण के लिए ईश्वर सबंधी प्रश्नो को अनावश्यक माना है ।

7 अनात्मवाद

बुद्ध आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नही रखते थे । उनका कथन था कि मनुष्य का व्यक्तित्व और शरीर कई सस्कारो का योग है । उन्होने कहा कि संपूर्ण अनुभूत जगत् में आत्मा नही है, क्योकि यह जगत नश्वर है । वास्तव में

---

1 मज्झिम निकाय, 3, 4, 5 और सुदरिक भारद्वाज सुत, सुत्तनिपात ।

2. मज्झिम निकाय, 3, 4, 5-6 ।

3. लक्खणह्लो, मिलिंदपह्लो ।

4 सुत्तनिपात, 5, 10 ।

5 चूलवियूह सुत्त ।

6. संयुक्त निकाय ।

उन्होने आत्मा के विषय पर विचार करना अनावश्यक माना ।[1]

8 कारणवाद

बौद्धधर्म कारणवादी है । बौद्धधर्म के अनुसार ससार मे 'जो धर्म हैं वे हेतु से उत्पन्न होते हैं ।' उनके हेतु और उसके निरोध को तथागत ने बताया है ।[2] एक बार बुद्ध ने आनंद को उपदेश देते हुए सकारणा बताई थी—'आनंद !' क्या जरा मरण सकारण है ? इसका उत्तर है—'है ।' किस कारण से जरा मरण है ? इसका उत्तर है—'जन्म के कारण जरा मरण है ।'[3]

9 **प्रतीत्य-समुत्पाद**—कारणवाद को लेकर ही बौद्धधर्म मे प्रतीत्य-समुत्पाद के सिद्धात का प्रतिपादन किया गया । बौद्धधर्म किसी भी बात को बिना तर्क के अथवा हेतु के स्वीकार नही करता । प्रतीत्य (ऐसा होने पर) समुत्पाद (ऐसा हं ता है) का सिद्धात बौद्धधर्म की आधार शिला है । बुद्ध ने प्रत्येक वस्तु का कारण और उस कारण को दूर करने का उपाय बताया है ।

10 **प्रयोजनवाद**—बुद्ध ने ईश्वर के विषय मे विचार नही किया । उनका विषय केवल मानव था । उसी को वे ऊँचा उठाना चाहते थे । वे व्यर्थ के दार्शनिक वादविवाद मे कभी नही पडे । वे ऐसे तर्क वितर्क से बचते थे जो मनुष्य को आध्यात्मिक प्रगति मे किसी प्रकार का योग नही देता । ईश्वर तथा आत्मा है अथवा नही ? इन विषयो पर वादविवाद करना वे निरर्थक मानते थे क्योकि मनुष्य केवल मात्र अपने प्रयत्नो के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है । अस्तु बौद्ध धर्म नितात व्यावहारिक और प्रयोजनवादी है ।

11. **अन्तःशुद्धि**—बुद्ध ने मानव के उत्कर्ष के लिए सभी बाह्याडबरो को दूर कर केवल अत शुद्धि पर बल दिया । उन्होंने बाह्य यज्ञो एव हवनो का विरोध कर भीतर की ज्योति जगाने का प्रयास किया ।[4]

12 **अहिंसा**—अहिंसा बुद्ध की व्यावहारिक एव क्रियात्मक नैतिकता के सिद्धातो का एक अविच्छिन्न अग है । वे प्राणिमात्र को आघात या कष्ट देने के विरुद्ध थे । वे प्राणिमात्र के प्रति अहिंसा, दया एव प्रेम का उपदेश देते थे । किंतु उन्होंने विशिष्ट परिस्थितियो में अपने अनुयायियो का मास-भक्षण की अनुमति दे रखी थी । उनका कहना था कि यदि जीव हत्या बौद्ध भिक्षु के भोजन के निमित्त नही की गई हो, तो भिक्षु भिक्षा मे प्राप्त सामिष भोजन कर सकता था ।

---

1 मज्झिम निकाय, 1, 1, 2 ।

2 विनयपिटक, महावग्ग ।

3 महानिदान सुत्त, दीघनिकाय, 2, 2 ।

4 उपलिसुतन्त, मज्झिमनिकाय, 2, 2, 6 तथा सुदरिका–भारद्वाज-सुत्त, सयुक्त निकाय ।

बौद्ध धर्म की अवनति के कारण

भारतवर्ष बौद्धधर्म की जन्मभूमि है किंतु आश्चर्यजनक बात है कि तेरहवी और चौदहवी शताब्दी तक यह धर्म भारत से लगभग विलुप्त हो गया था जब कि विदेशो में वह शताब्दियो तक लोकप्रिय रहा और आज भी है। भारत मे बौद्ध-धर्म के ह्रास के निम्नलिखित कारण थे .—

1 **बौद्ध धर्म में परिवर्तन**—महात्मा बुद्ध ने जिस धर्म का प्रवर्तन किया था वह सरल, सुबोध, और स्वाभाविक था। परतु धीरे-धीरे उसका रूप बदलने लगा। उसमे आगे चलकर कई ऐसी बातो का भी समावेश हो गया, जिनका बुद्ध ने विरोध किया था, यथा अवतारवाद, मूर्तिपूजा, कर्मकाड तथा मत्र तत्र आदि। बौद्धधम के वज्रयानी सप्रदाय के अतर्गत घोर अनैतिक एव भ्रष्ट क्रिया का प्रतिपादन होने लगा था जिससे बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा को गहरा धक्का लगा था।

2 **बौद्ध सघ का पतन**—बौद्धधर्म के द्रुतगति से विस्तार का एक प्रमुख कारण बौद्ध सघ था। किंतु कालातर मे सघ का अध पतन प्रारंभ हो गया। बौद्ध मठ चरित्रहीनता के गढ बन गये थे। उनका सघ धर्मसघ न होकर भिक्षु भिक्षुणियो के पारस्परिक विवाद और कलह के घर बन गये थे। भिक्षुओ और भिक्षुणियो ने सुख, वैभव एव विलासी जीवन-यापन करना प्रारभ कर दिया था। इस चरित्रहीनता के परिणामस्वरूप बौद्धधर्म पर से लोगो का विश्वास उठने लगा था।

3 **ब्राह्मणो में जाग्रति**—बौद्धधर्म के प्रचार से ब्राह्मणो मे चेतना की नई लहर प्रतिक्रिया रूप मे दौड गई। इस जाग्रति ने बौद्धधर्म को पीछे खदेड दिया। शुग शासन-काल मे ब्राह्मण धर्म के पुनरुद्धार की जो प्रतिक्रिया हुई, वह उत्तरोत्तर सबल होती गई। इसके बाद कण्व और सातवाहन राजा भी ब्राह्मण धर्मावलम्बी थे। गुप्त और वाकाटक राजा भी ब्राह्मणवादी थे। इनके शासनकाल मे वैष्णव और शैव सप्रदायो ने उन्नति की। ब्राह्मणो ने भक्तिमार्ग, अवतारवाद, मूर्तिपूजा, आराधना, उपासना, व्रत-स्नान, तीर्थपूजा, दानदक्षिणा आदि के द्वारा अपने धर्म को आकर्षक बना दिया। शकराचार्य और कुमारिल भट्ट ने दार्शनिक दृष्टि से बौद्धधर्म का खडन करके ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा स्थापित की।

4 **ब्राह्मण धर्म की समन्वय शक्ति**—ब्राह्मण धर्मावलबियो ने महात्मा बुद्ध को विष्णु का अवतार मान लिया और उनके अहिंसा के सिद्धात को भी स्वीकार कर लिया, जिससे ब्राह्मण धर्म जनप्रिय हो गया।

5 **राजाश्रय का अभाव**—अशोक, मिलिंद, कनिष्क और हर्ष जैसे सम्राटों ने बौद्धधर्म को राजसरक्षण प्रदान कर उसे विश्व का अत्यत महत्त्वपूर्ण धर्म बना दिया था। गुप्त राजवश ब्राह्मण धर्म का संरक्षक रहा, अत इस वश ने ब्राह्मण

धर्म को प्रोत्साहन प्रदान किया। अस्तु राज्य सरक्षण के अभाव में बौद्धधर्म दिन प्रतिदिन क्षीण होने लगा। हर्ष के बाद बौद्धधर्म को किसी ऐसे शक्तिशाली राजा का आश्रय न मिला, जो अपने साम्राज्य के साधनो को उसके प्रसार में लगाता।

6 **राजपूतो का बौद्धधर्म में रुचि न होना**—राजपूतकाल में बौद्धधर्म की विशेष अवनति हुई। इसका कारण यह था कि राजपूत शक्ति का उपासक और युद्धकर्मा थे। वे अहिंसावादी बौद्धधर्म को स्वीकार न कर सके।

7 **धर्माचार्यों और दार्शनिको की संख्या में कमी**—पाचवी शताब्दी के बाद, बौद्धधर्म मे प्रकाड विद्वानो, धर्म परायण भिक्षु एवं दार्शनिको का अभाव रहा। इसके विपरीत ब्राह्मण धर्म मे शकराचार्य, कुमारिल भट्ट, रामनुजाचार्य आदि विचारक, दार्शनिक, धर्मप्रचारक एव धर्माचार्य हुए, जिन्होने जनसाधारण को प्रभावित करके ब्राह्मण धर्म के प्रसार मे अभूतपूर्व योगदान दिया।

8 **विदेशियो का आक्रमण**—पाचवी शताब्दी से हूणो के आक्रमण होने शुरू हुए। उन्होने बौद्ध विहारों और मदिरो को नष्टभ्रष्ट कर डाला। बारहवी शताब्दी मे तुर्कों के आक्रमण हुए, जिनमे बौद्ध विहारो, मन्दिरो, चैत्यो, स्तूपो तथा महाविद्यालयो को नष्ट-भ्रष्ट किया गया तथा अनेक भिक्षुओ को मार डाला गया। नालदा, विक्रम शिला और उदन्तपुर के बौद्ध बिहारो मे जो बौद्धधर्म के केंद्र थे, आग लगा दी। इस सहार के बाद शेष बौद्ध भिक्षुओ मे से अधिकाश अपने प्राणो की रक्षा के लिए तिब्बत और नेपाल की ओर चले गये और उनके अनुयायी ब्राह्मण धर्मावलबी हो गये। तेरहवी शताब्दी तक बौद्धधर्म अपनी जन्मभूमि भारत से लुप्त प्राय हो गया।

भारतीय सस्कृति को बौद्धधर्म का योगदान

यह सत्य है कि बौद्धधर्म अपनी जन्मभूमि भारत से लुप्तप्राय हो गया, तथापि पहले कई शताब्दियो तक भारत का एक प्रमुख धर्म रहा। बौद्धधर्म ने भारतीय जीवन को कई क्षेत्रों में प्रभावित किया है। इस सबध मे आगे कुछ तथ्यो का उल्लेख किया जा रहा है—

1 **सरलता एवं सुबोधता**—बौद्धधर्म की सरलता और सुगमता ने ही बौद्ध-धर्म को लोकप्रिय बनाया। बौद्धधर्म ने भारतीय राष्ट्रीय जीवन के विकास मे योगदान दिया तथा भारतीय राजनीतिक एकरूपता के मार्ग को प्रशस्त किया। हैवेल के अनुसार ''बौद्धधर्म ने आर्यावर्त के जातीय बंधनों को तोड कर तथा उसके आध्यात्मिक वातावरण में व्याप्त अंधविश्वासों को दूर कर संपूर्ण आर्य-जाति को एकरूपता प्रदान करने मे योगदान दिया और मौर्य वश के विशाल

साम्राज्य की नींव रक्खी ।''[1] बौद्धधर्म ने भारतीय समाज को एक लोकप्रिय धर्म प्रदान किया । जन-साधारण की भाषा मे उपदेश दिये जाने के कारण बौद्ध धर्म अधिक लोकप्रिय हुआ ।

2. **शुद्धाचरण तथा नैतिकता पर बल**—बौद्धधर्म ने सदाचार, पवित्र जीवन, नैतिकता, जनसेवा, 'स्वार्थ-त्याग तथा मन-वचन-कर्म की शुद्धि आदि श्रेष्ठ, उच्चादर्शो पर अधिक बल दिया । इन श्रेष्ठ आदर्शों ने भारतीय समाज को स्वस्थ, सौम्य, नैतिक एव पवित्र बनाया । मेगास्थनीज, फाहियान तथा हुएन्सांग आदि यात्रियो के यात्रा विवरण इसके उदाहरण है । बौद्धधर्म ने दैवी शक्तियो को स्वीकार करने के स्थान पर व्यक्तिगत आचरण पर बल दिया ।

3 **जातिवाद की उपेक्षा, समानता एवं सहनशीलता**—बौद्धधर्म ने समाज मे जाति-प्रथा, ऊंच-नीच की भावना तथा छुआछूत का विरोध किया । भगवान बुद्ध ने जातिवाद की निंदा करके ब्राह्मणो के प्रभुत्व और वर्णभेद का विरोध किया तथा मानव स्वतत्रता एव समानता के सिद्धातो का प्रचार किया । बुद्ध के अनुसार दलित वर्ग को भी प्रगति करने और निर्वाण प्राप्त करने का अधिकार है । इससे समाज मे समानता और वर्ग-स्वतत्रता, उदारता एव सहनशीलता को बल मिला ।

4 **अहिंसा का सिद्धांत**—बौद्धधर्म के अतर्गत पशुओं के प्रति भी दयाभाव का बडा महत्त्व है । 'अहिंसा परमो धर्म' का आदर्श बौद्धधर्म का मूलभूत सिद्धात है । बौद्धधर्म के अहिंसा प्रचार ने हिंसात्मक यज्ञो, माम-भक्षण, आखेट तथा समाज आदि को हतोत्साहित किया ।

5 **बौद्धिक स्वतंत्रता तथा दार्शनिक प्रगति**—ब्राह्मण धर्म मे वेदो को अपौरुषेय एव अकाट्य माना गया है । केवल ब्राह्मण ही उनकी व्याख्या कर सकते थे । धर्म और समाज मे ब्राह्मणो की ही सर्वोपरिता थी किंतु इसके विपरीत बौद्धधर्म ने अधविश्वास की भर्त्सना की तथा ब्राह्मणो के एकाधिकार का विरोध किया । महात्मा बुद्ध ने स्वतत्र विचारो को प्रोत्साहित किया तथा धर्म मे व्यक्तित्व की प्रधानता पर बल दिया । उन्होने, योग्यता, बुद्धि, तर्क तथा विवेक के आधार पर धार्मिक तथा दार्शनिक प्रश्नो का समाधान किया । इसके फलस्वरूप स्वतत्र चिंतन और मनन को बल मिला । बौद्धो ने अपने दर्शन का विकास किया तथा अन्य भारतीय दर्शनो को प्रभावित किया, यथा बौद्धो के शून्यवाद ने शकराचार्य के मायावाद को प्रभावित किया ।

6. **शिक्षा का प्रसार**—बौद्ध विहार यदि एक ओर साधना, सयम, कर्म-

1. हैवेल, द हिस्ट्री आफ आर्यन रूल इन इंडिया ।

निष्ठा एव आदर्श जीवन के केंद्र थे तो दूसरी ओर वे शिक्षा-प्राप्ति के केंद्र थे। ये शिक्षा केंद्र धीरे-धीरे विकसित होकर विश्वविद्यालय के रूप मे प्रख्यात हुए। तक्षशिला, नालंदा और विक्रमशिला विहार इसके ज्वलत उदाहरण है। इन शिक्षा केंद्रो की ख्याति विदेशो तक थी, जहा से भी विद्यार्थी यहा बहुधा विद्याध्ययन हेतु आया करते थे। जन-साधारण की भाषा (पालि-भाषा) मे बौद्ध साहित्य (त्रिपिटिक एव अन्य ग्रथ) लिखा गया। बौद्धधर्म ने इसी लोकप्रिय भाषा मे विशाल साहित्य का सृजन किया जिससे राष्ट्रीय एकता का मार्ग प्रशस्त हुआ।

7. **विहार (मठ) जीवन की स्थापना**—महात्मा बुद्ध ने बौद्ध भिक्षुओ के निवास के लिए बिहारो तथा साधना-आराधना के लिए चैत्यो की स्थापना करायी थी। बौद्ध भिक्षु यहा पूर्ण अनुशासन, सयम एव अध्यवसाय के साथ अपना जीवन व्यतीत करते थे। बौद्धो के इन आवासो से प्रभावित होकर ही हिंदू सन्यासियो ने मठो की स्थापना की। इसके पूर्व हिंदू सन्यासी वनो मे जाया करते थे।

बौद्ध धर्मावलबियो के अनुशासनशील समुदाय मे सगठित कर प्रजातत्रीय प्रणाली पर सघ-व्यवस्था निर्माण करने का श्रेय बौद्धधर्म को ही है। बौद्धधर्म के प्रादुर्भाव के पूर्व ब्राह्मण आचार्य, ऋषि एव सयामी वनो मे आश्रमो मे रहकर आध्यात्मिक चितन एव मनन करते थे तथा ज्ञान का प्रसार करते थे। अस्तु, उनका जीवन एकाकी था। इसके विपरीत बौद्ध भिक्षुओ एव सन्यासियो द्वारा अनुशासनबद्ध सामूहिक जीवन व्यतीत करने के लिए सघ स्थापित किये। यह सघ की भावना बौद्धधर्म की भारतीय सस्कृति को विशेष देन है।

8 **कला का विकास**—बौद्धो की प्रेरणा से वास्तु कला, शिल्प कला और चित्रकला के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण विकास हुआ। बौद्ध भिक्षुओ के निवास और आराधना के लिए चट्टानो को काट कर विहारो और चैत्यो का निर्माण किया गया। शैल गुहाओ के निर्माण का आरंभ बौद्धधर्म के प्रचार से ही हुआ। बौद्ध-धर्म-प्रचार करने के लिए स्थान-स्थान पर विशाल पाषाण स्तंभ स्थापित किए गये और उन पर धार्मिक उपदेश अकित किये गये। बुद्ध बोधिसत्त्वो तथा बौद्धाचार्यों की स्मृति मे अनेक स्तूप निर्मित किये गये। बौद्ध कलाकारो ने बुद्ध जीवन की प्रमुख घटनाओं को स्तूपो के तोरण द्वारो पर अकित किया यथा साची, भरहुत और अमरावती के स्तूप। इनके अतिरिक्त अजता, एलोरा तथा बाघ की प्रस्तर गुफाओ मे बुद्ध के जीवन की घटनाओं, जातक कथाओ में उल्लिखित अनेक दृश्य पाषाण में अंकित तथा चित्रित किया है। बौद्ध विहारो, मदिरो, स्तूपो, स्तंभों, स्मारकों आदि के निर्माण में एक कलापूर्ण अलकरण मे कला की

एक नवीन शैली का निर्माण हुआ। मथुरा कला शैली तथा गांधार कला शैली इसके उदाहरण है। बौद्ध स्थापत्य कला, शिल्पकला तथा चित्रकला के कुछ नमूने अपने असाधारण कला सौदर्य एवं सौष्ठव के कारण जगत् प्रसिद्ध हैं। भरहुत, साची, अमरावती, नागार्जुनीकोडा के स्तूप तथा अजता की गुफाएं बौद्ध-कला की अत्यंत महत्वपूर्ण कृतिया है।

9 **बौद्धधर्म का ब्राह्मण धर्म पर प्रभाव**—बौद्धधर्म ने जिस अहिंसा के सिद्धांत का व्यापक प्रचार किया था, अतत उसे ब्राह्मण धर्म मे भी समाविष्ट कर लिया गया। रक्तिम यज्ञो एव पशुबलि की प्रधानता मद पड गयी। अस्तु बौद्धधर्म ने ब्राह्मण धर्म पर दयावाद का प्रभाव डाला। सभवत भागवत धर्म के उदय मे बौद्धधर्म के परोक्ष प्रभाव का भी कुछ योगदान है। भागवत धर्म में 'अहिंसा परमो धर्म' के सिद्धात है।

10 **विदेशो से संबंध**—भारत का विदेशो के साथ घनिष्ठ सबध-स्थापन मे बौद्धधर्म ने एक कडी का काम किया है। बौद्धधर्म को अनेक देशो ने देश एव जाति के बधन को त्याग कर स्वीकार किया है। बौद्धधर्म को एक विश्व-व्यापी आदोलन कहा जा सकता है। बौद्ध भिक्षुओ ने ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से पहले से विदेशो मे धर्मप्रचार किया। विदेशी बौद्ध भारत को बुद्ध की जन्म-भूमि होने के कारण पुण्यभूमि, देवभूमि एव तीर्थस्थान मानने लगे, तथा बुद्ध की जन्मभूमि की यात्रा करना उनका परम धर्म हो गया। भारत बौद्धधर्म प्रचारक एव गुरु विदेश गये और वहा जाकर उन्होने बुद्ध का अहिसावादी एव विश्वबधुत्व का सदेश सुनाया। उनके इस कार्य के फलस्वरूप विदेशी बौद्ध यात्री धर्मज्ञान एव विद्या-प्राप्ति के लिए भारत आने लगे। कई विदेशी भारत मे आकर बौद्ध-धर्म मे दीक्षित हो गये। इस प्रकार बौद्धधर्म भारतीय समाज को विस्तार प्रदान करने मे सहायक हुआ। भारतीयो और विदेशियो के घनिष्ठ सम्पर्क ने सास्कृतिक आदान प्रदान को सभव बनाया। फलत भारतीय सस्कृति मे अधिक लचक, उदारता और सहिष्णुता आयी और उसने कुछ विदेशी तत्वो को आत्मसात कर लिया।

●

अध्याय पांच

मौर्यकालीन संस्कृति

महात्मा बुद्ध के आविर्भाव से कुछ पूर्व भारतवर्ष सोलह जनपदों में विभक्त था। महाजनपद काल के बाद पूर्वी भारत में जैन एव बौद्धधर्म का उदय हुआ और दोनो धर्मों से जनसाधारण पर्याप्त प्रभावित हुआ। मगध जनपद के राजा बिंबिसार ने (544 ई० पू० से 493 ई०पू०) अग को युद्ध मे तथा काशी को कूटनीति द्वारा प्राप्त करके मगध साम्राज्य का विस्तार किया। बिंबिसार के पुत्र अजातशत्रु (493 से 462 ई०पू०) ने अपने पिता की हत्या करके राज्य हस्तगत किया था और छल-बल द्वारा मगध साम्राज्य की जडे जमाई और मगध साम्राज्य को स्थायित्व प्रदान किया। अजातशत्रु महावीर और बुद्ध का समकालिक था। उसने महावीर और बुद्ध दोनो को सम्मान दिया।[1]

अजातशत्रु (लगभग 493 से 462 ई० पू०) और नदवश (364-324 ई० पू०) के बीच लगभग एक शताब्दी का अतराल है। इस बीच अजातशत्रु के उत्तराधिकारियो और शैशुनागो ने शासन किया। नदवश शूद्र था। नदवश द्वारा यह प्रभुता प्राप्त करने से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन वैदिक प्रणाली एवं सस्कृति अस्तव्यस्त हो गयी थी। ब्राह्मण अध्यापन कार्य त्याग कर उद्योग धधा व्यापार और कृषि कार्य करने लगे थे।[2] कुछ क्षत्रिय भी युद्ध सबधी अपना परपरागत व्यवसाय छोडकर धार्मिक आदोलनों का सचालन करने लगे थे। परपरावादी सामाजिक संगठन ढीले होने लगे थे और एक जातिविहीन समाज की स्थापना का प्रयास किया गया। जैन एवं बौद्धधर्म की स्वतत्र वैचारिकता एव मानवतावाद के ही कारण अज्ञातवशीय महापद्म के महाशक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना हुई। वैश्यो के व्यावसायिक धधो के

---

1 भरहुत की एक मूर्ति मे उसे बुद्ध का दर्शन करते हुए प्रदर्शित किया गया है। इस मूर्ति में अजातशत्रु को बुद्ध के चरणो मे प्रणाम करते हुए दिखाया गया है। अजातशत्रु ने बुद्ध की अस्थियो को राजगृह के स्तूप में सग्रहीत करके सुरक्षित किया था और प्रथम बौद्ध सगीति के लिए संपूर्ण सुविधाएं प्रदान की थी।

2 तत्कालीन जातक साहित्य से ब्राह्मणो की स्थिति का आभास होता है। देखिये जातक 3,296, 4,276; 4,7,15, 5,22,471 और देखिये सुत्त निपात।

प्रयत्नो से वाराणसी, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत और कौशाबी जैसे विशाल नगरो एव व्यापारिक केंद्रो की स्थापना हुई, जहा औद्योगिक जन रहते थे, जिनके मुखिया जेठ्ठक और सेट्ठि कहलाते थे ।

मगध साम्राज्य की स्थापना मे उत्तर-पश्चिमी भारत में हुए दो विदेशी आक्रमणो (गधार और सिंधु पर ईरान के सम्राट् द्वारा का आक्रमण और पजाब पर मकदूनिया के सिकदर का आक्रमण) ने काफी योगदान किया । हेरोडोटस के ग्रथ हिस्टारिका और ईरानी सम्राट् डेरियस (दारयवुष) के लेखो से विदित होता है कि भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग पर ईरानी अधिकार था ।[1] 330 ई० पू० मे डेरियस तृतीय को परास्त करने के बाद सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया । उसने सिधु नदी को पार करके एक कठिन युद्ध मे पुरु को पराजित किया तथा व्यास पर आ गया, जहा उसकी सेनाओ ने नन्द साम्राज्य के आतंक को सुन कर आगे बढने से इकारकर दिया और विद्रोह कर दिया । अस्तु सिकन्दर वापस चला गया और 323 ई० पू० मे बेबीलोन मे उसका स्वर्गवास हो गया । तुरन्त उसके साम्राज्य का पतन हो गया । इसी बीच भारत मे एक नये नायक का जन्म हुआ, जिसने अपने ब्राह्मण मत्री चाणक्य की सहायता से विदेशी सेना को परास्त कर, पजाब और सिध क्षेत्र को अपने अधिकार मे कर लिया । जस्टिन के कथनानुसार, "सिकन्दर की मृत्यु के बाद भारत ने परतत्रता का जुआ उतार फेका और इस स्वाधीनता का श्रेय चद्रगुप्त को है ।" इसके बाद चद्रगुप्त ने शक, यवन, किरात कबोज, पारसीक एव वाल्हीक सैनिको की सेना के साथ भारत के शूद्र शासक नद को परास्त किया और स्वय राजा बन बैठा ।

ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से ही यूनानी भी भारत की सामाजिक और धार्मिक भावनाओ से प्रभावित और आकर्षित हुए । कुछ यवनो ने भारतीय धर्मों बौद्ध और भागवत को स्वीकार कर भारतीय कला के क्षेत्र मे बडा योगदान दिया । उत्तरी पश्चिमी भारत की एक विशेष कलात्मक धारा की, जिससे 'यूनानी-बौद्ध कला' कहा जा सकता है और जिसके अवशेष गधार और उसके आस-पास पाये जाते है, की प्रारभिक प्रेरणा के स्रोत वे यूनानी थे जिन्होने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था ।

---

1 साइरस ने कपिश और गधार को और डेरियस (522-486 ई० पू०) ने सिधु नदी के पार के क्षेत्र को, जिसे हिंदु अथवा सिंधु कहा जाता था, अपने क्षेत्र मे मिला लिया । इस प्रकार हिंदु ईरानी राज्य का बीसवा और सर्वाधिक वैभवशाली प्रात बना था ।

मौर्यकालीन संस्कृति

भारतीय इतिहास मे सर्वप्रथम सर्वाधिक विस्तृत साम्राज्य की स्थापना मौर्य काल में हुई ।[1] शासन सुचारू रूप से केंद्र द्वारा संचालित था, जो उदार एवं सहनशील था । डॉ० राधाकमल मुकर्जी ने मौर्यकालीन राज्य को ससार का सर्व-प्रथम धर्मनिरपेक्ष लोक कल्याणकारी राज्य कहा है ।[2] अर्थशास्त्र के अनुसार 'प्रजा का सुख ही राजा का सुख है और प्रजा का हित ही राजा का हित है । राजा का हित अपने आनद में नही वरन् प्रजा के आनद में है ।'

राजा का यह सामाजिक कर्तव्य है कि जो दास-भृत्य, बंधु, पुत्र आदि अपने गृहस्वामी की आज्ञा का पालन न करें उन्हे वह विनीत करे ।[3] कौटिल्य ने सामाजिक कर्त्तव्यो के सुपालन पर बल दिया है और बाल, वृद्ध, व्याधिग्रस्त, अनाथपुरुष एवं स्त्रियो और उनके बच्चो की रक्षा का उत्तरदायित्व राजा का माना है ।[4] सभवत भूमि पर राजा का अधिकार था और कृषकों को मजदूरी के रूप में फसल का एक अश मिलता था । अर्थशास्त्र मे समस्त[5] नागरिकों को आर्य कहा गया ।[6] शूद्र भी जन्मत दास नही, आर्य थे ।

सामाजिक व्यवस्था

वर्ण एव आश्रम

मौर्यकालीन समाज की रचना का ज्ञान हमें अर्थशास्त्र और मेगस्थनीज के विवरण द्वारा होता है, किंतु दोनो साक्ष्यो से प्राप्त सूचना मे भिन्नता है । इसके अतिरिक्त अशोक के अभिलेखो और यूनानी लेखको के विवरणों से भी ईसा पूर्व चौथी शताब्दी के भारतीय समाज की स्थिति पर बहुत कुछ प्रकाश पडता है । कौटिल्य[7] के अनुसार वर्ण और आश्रम सामाजिक सगठन का मूलाधार था । मेगस्थनीज ने जाति व्यवस्था का वर्णन भिन्न प्रकार से किया है ।[8] उसने सात

---

1 मौर्य साम्राज्य का विस्तार ईरानी की सीमा से लेकर मैसूर के श्रवण-बेलगोल तक और काठियावाड से कामरूप की सीमा तक था ।

2. भारत की संस्कृति और कला, पृ० 82 ।

3 अर्थशास्त्र, अधिकरण 2, अध्याय 1 ।

4. वही ।

5. ऐंशेंट इंडिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर, पृ० 48 ।

6 अर्थशास्त्र में 'आर्य भाव' अथवा 'आर्यत्व' जैसे शब्दो का प्रयोग हुआ है ।

7. देखिये कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधिकरण 1, अध्याय 2 और 4 और अधिकरण 3 अध्याय 1 ।

8 नीलकंठ शास्त्री कृत एज आफ दि नन्दाज एण्ड मौर्याज, 113-114 ।

जातियों का उल्लेख किया है—दार्शनिक, कृषक, गोपालक, कारीगर, सैनिक, गुप्तचर और आमात्य अथवा राजा के उच्च पदाधिकारी ।[1] मेगस्थनीज[2] के अनुसार प्रत्येक वर्ग आपस मे ही विवाह करता था । ग्रीक लेखको के अनुसार सम्मान की दृष्टि से ब्राह्मणो और श्रमणो का स्थान सर्वोत्कृष्ट था । बौद्ध श्रमण प्रत्येक जाति के होते थे और फिर जाति भेद न मानते थे । आभूषणों का प्रयोग प्राय सभी करते थे । साधारणत लोग मितव्ययी थे । यज्ञ के अवसर पर लोग सुरापान करते थे । कुछ ब्रह्मचारी तीस वरस तक गुरु के यहाँ सयम से रहते थे । अधिकतर लोग ग्रामो मे रहते थे और उनका जीवन सामान्यत ठीक था । कानून सादे थे, चोरी बहुत कम होती थी ।[3] लोग घर-द्वार बिना चौकीदार, ताला चाबी के छोडे रहते थे, अनुबध अथवा ऋण के समय गवाहो की आवश्यकता न होती थी । मुकदमेबाजी बहुत कम थी । बहुविवाह प्रचलित थे । यदाकदा सती होने की घटनाए सुनाई पडती थी जिससे सती प्रथा के प्रचलन का प्रमाण मिलता था ।[4] मेगस्थनीज के अनुसार सामाजिक जीवन सरल, सादा और सुव्यवस्थित था । लोग मितव्ययी, चरित्रवान, साहसी, वीर और सत्यप्रिय थे । चोरी करना और झूठ बोलना पाप समझा जाता था । अतिथि सत्कार, उदारता, सहिष्णुता, दयालुता, अहिंसा, दान, दर्शन आदि पर बल दिया जाता था । राज्य के यात्रियो के लिए धर्मशालाएँ, सार्वजनिक आवास, भोजगृह, सराये तथा द्यूतगृह थे जिनमे व्यवसायियो एव उद्योगपतियो के सार्वजनिक भोज तथा मिलना-जुलना होता रहता था ।[5] आमोद प्रमोद द्वारा सत्कार करना एक ऐसा उद्योग

भारत की सात जातियो का उल्लेख डाओडोरस और एरियन ने भी किया है इंडिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर, पृ० 47 ।

1 मेगस्थनीज का यह विभाजन दोषपूर्ण है । क्योकि ये व्यवसाय थे वर्ग नही । कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, भाग 1, 367-8 । अशोक के अभिलेखो मे (पचम शिलालेख) ब्राह्मण, वैश्य, दास, गृहस्थी तथा परिव्राजक आदि का उल्लेख है ।

2 डाओडोरस, 2, 40-41, एरियन, 11-12, स्ट्रैबो, 15, 1, 46-49; 58-60, प्लिनी, 6, 22 ।

3 इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिट्रेचर पृ० 55 और 269; ऐंशेन्ट इण्डिया पृ० 70, और क्लासिकल एकाउण्ट आफ इण्डिया, 2, 269 ।

4 स्टैबो, 15, प्लिनी, 7, 3, 2; मैक्क्रिन्डल, इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिट्रेचर, 38, 41, 47, 55-58, 64-76, 113-14, 146, 161, 175, 186 और 201 ।

5. शामशास्त्री कृत अर्थशास्त्र, पृष्ठ 56 ।

बन गया था, जिसके द्वारा अनेक प्रकार के नर्तकों एवं नर्तकियों, गायकों, गायिकाओं तथा अभिनेता एव अभिनेत्रियों का जीवन यापन होता था।[1] ये नर्तक गाव की सार्वजनिक शालाओ में प्रदर्शन करते थे।[2] सम्राट ने आनदोत्सवों के लिए प्रेक्षागार निर्मित कराये थे, जहा बैठकर लोग नाटक, संगीत, मल्ल-युद्ध तथा मनुष्यो और पशुओ की मुठभेड से मनोरजन करते थे। परंतु अशोक ने आखेट आदि मनोविनोद के लिए की जाने वाली विहार-यात्राओं तथा समाजों (उत्सवो) को बंद करा दिया था।[3] और उसके स्थान पर नैतिक शिक्षा के द्वारा मनोरजन का प्रबध किया था।[4]

परिवार

प्राय संयुक्त परिवार की व्यवस्था थी। साधारणतया लडके और लडकी का विवाह क्रमश सोलह और बारह की आयु में होता था।[5] कौटिल्य[6] के अनुसार विवाह आठ प्रकार के होते थे—ब्राह्म, प्रजापात्य, आर्ष, देव, असुर गान्धर्व, राक्षस और पिशाच विवाह। इनमे प्रथम चार वैद्य और अतिम चार निंद्य प्रणालिया मानी जाती थी। कुछ शर्तों के साथ स्त्री को तलाक की सुविधा प्राप्त थी।[7] इसी प्रकार विशेष परिस्थितियों मे पति को, पत्नी को परित्याग करने का अधिकार था।[8] यूनानी लेखक नियार्कस ने विवाह की स्वयवर प्रथा का उल्लेख किया है।[9] मेगस्थनीज के अनुसार इस युग के विवाह का लक्ष्य जीवन साथी प्राप्त करना, भोग और सतानोत्पत्ति होता था। स्त्री पुरुष दोनो ही विशेष परिस्थितियो मे पुनर्विवाह कर सकते थे थे।[10] सभवत पर्दे की प्रथा न थी।[11] जैसा कि पूर्व सकेत कि है सती प्रथा की प्रचलित थी।[12] विधवा विवाह का

---

1 हापकिंस, जर्नल आफ अमेरिकन ओरियंटल सोसायटी, 13, पृष्ठ 79-80, 82-83।

2 शामशास्त्री कृत अर्थशास्त्र, 48।

1. देखिए अशोक शिलालेख।

2 इसमें विमान दर्शन, हस्ति दर्शन, अग्नि का समूह के प्रदर्शन का आयोजन किया था। देखिए चतुर्थ शिला लेख, भण्डारकर कृत अशोक पृ० 268।

3. अर्थशास्त्र, पृ० 154।

4 वही पृ० 59।

5. वही, पृ० 59 और मनुस्मृति, 9,76।

6 अर्थशास्त्र, अधिकरण 3, अध्याय 3।

7. इंडिया ऐज डिस्क्राइण्ड इन क्लासिकल लिटरेचर पृ० 38,202।

8. अर्थशास्त्र, अधिकरण 3, अध्यार्य 2।

9. अल्टेकर, पोजीशन आफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन पृ० 190-90।

10. ऐंशेन्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइवड इन क्लासिकल लिटरेचर पृ० 38।

प्रचलन था । विधवा अपने श्वसुर की अनुमति लेकर विवाह कर सकती थी ।[1] दाम्पत्य जीवन सुखी था । बहु विवाह प्रचलित थे ।[2] सामान्यत अपनी ही जाति के अदर विवाह करना उचित समझा जाता था । समाज में अतर्जातीय विवाह प्रचलित थे और उस समय का कानून उनको स्वीकार भी करता था । सगोत्र और सप्रवर कन्या के साथ विवाह निषिद्ध समझा जाता था । इसी प्रकार सपिण्ड विवाह भी अनुचित समझा जाता था । किंतु कुछ जातियो जैसे शाक्यो और मौर्यों में सगोत्र विवाह का भी प्रचलन था । दक्षिण मे मातुल-कन्या मे विवाह कर लेने की प्रथा थी, किंतु उत्तर मे ऐसा नही था । मनु तथा अन्य शास्त्रकारो ने इसे स्वीकार नही किया है । वेश्यावृत्ति भी प्रचलित थी । वेश्याये ललित कलाओ मे प्रवीण होती थी । वे राज्य की आय की साधन थी । गुप्तचर और निरीक्षिका का काम भी राज्य उनमे लेता था ।[3] वे सैनिक तथा अगरक्षिकाये भी होती थी । चद्रगुप्त मौर्य की अनेक सशस्त्र अगरक्षिकाये[4] थी । नारियो को कलाओ की शिक्षा प्राप्त करने को सुविधाएँ उपलब्ध थी । कुछ स्त्रिया सगीत नृत्य, तथा चित्रलेखन आदि ललित कलाओ मे निपुण थी ।

आर्थिक स्थिति

मौर्ययुगीन आर्थिक जीवन समुन्नत था । प्रमुख प्रशासनिक केंद्र मध्य देश था । कृषि की दृष्टि मे यह उपजाऊ देश था । कृषि के अतिरिक्त यहा उद्योग धधो तथा व्यवसायो का पर्याप्त विकास हुआ । अतएव आर्थिक दृष्टि से देश सपन्न और आढ्य था ।

कृषि

प्रमुख उद्यम कृषि था । मेगस्थनीज के अनुसार[5] भारत की भूमि उर्वर थी । हिमालय प्रदेश मे फलो की खेती होती थी । जगली पशुओ का मास भी खाते थे । इराटोस्थनीज[6] के अनुसार भारत मे गेहूँ, जौ, चावल, ज्वार, बाजरा, दाल और फलो की खेती होती थी । गन्ना और ऊन की पैदावार भी होती थी । कौटिल्य ने गेहूँ, चावल, दालो (मसूर, मूग, उडद, कुलथ), जौ, सरसो, मटर, तिल, अलसी और गन्ना की फसलो का उल्लेख किया है ।[7] नियार्कस ने यह भी

---

1 अर्थशास्त्र, अधि० 3, अध्याय 2 ।

2 मेक्रिण्डल कृत ऐशेंट इडिया पृ० 222 ।

3. अर्थशास्त्र, अधिकरण 1, अध्याय 20

4 वही, सभवत यह कार्य ग्रीक स्त्रिया ही करती रही होंगी ।

5 एशेंट इडिया, पृ० 30-32 और 55 ।

6 वही, पृ० 25,27,32,35 ।

7 अर्थशास्त्र, अधिकरण 2, अध्याय 24 ।

उल्लेख किया है कि कुछ जातियो के लोग सामूहिक खेती करते थे ।[1]

सिंचाई

वर्षा ऋतु मे प्रचुर मात्रा मे वर्षा हो जाती थी । मेगस्थनीज के अनुसार खेती के लिए सिंचाई की उत्तम व्यवस्था थी । कौटिल्य[2] का कथन है कि सिंचाई के लिए जनता का राज्य से प्रोत्साहन दिया जाता था । इस सिलसिले में श्रम-दान को विशेष महत्त्व दिया जाता था । मौर्य काल में सिंचाई के लिए सुदर्शन झील के निर्माण एव उससे प्रणालिया निकाली जाने का उल्लेख **रुद्रदामन के जूनागढ अभिलेख** में मिलता है । जिसमे उल्लिखित है कि पुष्यगुप्त ने सुदर्शन झील का निर्माण कराया था । जूनागढ सुराष्ट्र प्रात के अतर्गत था और चंद्र-गुप्त के समय पुष्यगुप्त और अशोक के समय वहां का राज्यपाल तुषास्प रह चुका था ।[3] इससे सिद्ध होना है कि मौर्य काल मे सिंचाई पर विशेष ध्यान दिया जाता था और उत्तम प्रणाली कार्य मे लायी जाती थी ।

भोजनादि

पर्वतीय क्षेत्र के लोगो के अतिरिक्त अधिकाश देशवासी शाकाहारी थे ।[4] भोजन में गेहूँ, जौ, चावल, फल, दूध, दही, घी आदि का प्रयोग होता था । मेस्थनीज ने[5] भारतीयो के भोजन करने के ढग पर लिखा है "जब भारतीय भोजन करने बैठते थे, तो प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख एक तिपाई रक्खी जाती थी । इसके ऊपर एक सोने का प्याला रक्खा जाता था, जिसमें सबसे पहले चावल परोसा जाता था और बाद मे अन्य पकवान आदि ।" उसने यह भी लिखा है कि "भारतीय लोग अकेले ही भोजन करते थे । सामूहिक भोजन के लिए उनके यहा कोई समय निश्चित नही होता था ।"[6] सोने का प्याला उस काल में भी समाज के कुछ ही सम्पन्न लोगों को नसीब रहा होगा । निश्चय ही मेगस्थनीज का भोजन संबंधी यह उल्लेख उसी वर्ग से सबधित है ।

वस्त्राभूषण

मौर्यकालीन भारत के निवासी आभूषण आदि मे रुचि रखते थे । वे सूत के निर्मित बेलबूटे, कढे हुए कपडे पहनते थे ।[7] वस्त्रो पर सोने और बहुमूल्य पत्थरो

1 कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इडिया, भाग 1, पृ० 414 ।

2 अर्थशास्त्र, अधिकरण, 2, अध्याय 24 ।

3 एपिग्राफिया इडिका, 8, पृ० 42-43 ।

4 ऐंशेंट इडिया एज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर पृ० 222 ।

5. वही पृ० 75 ।

6 वही पृ० 75 ।

7 वही पृ० 70 ।

का काम होता था । एरियन के अनुसार भारतीय प्राय' दो वस्त्र पहनते थे । एक कमर से नीचे और दूसरा कमर मे ऊपर । कपास द्वारा निर्मित मलमल को देख-कर यवनो को बडा आश्चर्य हुआ । क्योकि ईसा पूर्व चौथी शताब्दी मे यवनो को रुई का ज्ञान न था । नियार्कस ने कामदार जूते का उल्लेख किया है ।[1] वर्षा और धूप मे बचने के लिए छाता का प्रयोग होता था ।[2] जहा तक आभूषणो का प्रश्न है एरियन ने लिखा है कि "धनी लोग कानो मे हाथी दात की बालिया पहना करते थे ।"[3]

व्यवसाय तथा व्यापार

वस्त्र एव आभूषण-निर्माण उद्योगो के अतिरिक्त चर्म उद्योग और काष्ठ उद्योग भी उन्नत दशा मे थे । मेस्थनीज[4] ने कहा है कि भारत की भूमि के गर्भ मे पर्याप्त सोना, चांदी, ताम्रा और लोहा भरा पडा है । व्यवसाय के सबध मे उसने कहा है कि भारत मे व्यवसायियो की एक अलग ही जाति थी । शस्त्र-निर्माण और जहाज-निर्माण का व्यवसाय भी उन्नत दशा मे थे । व्यवसायो पर राज्य का पूरा नियन्त्रण था । कौटिल्य के अनुसार वस्त्र निर्माण का व्यवसाय सूत्राध्यक्ष की देखरेख मे चलता था । यूनानी लेखको[6] के कथन से यह सिद्ध होता है कि पोत-निर्माण व्यवसाय उन्नत अवस्था मे था । कौटिल्य[7] के जलयात्रा के विवरण मे इसकी पुष्टि होती है । अर्थशास्त्र तथा जातको मे[8] श्रेणी एव पूग जैसे आर्थिक सगठनो का उल्लेख मिलता है । अट्ठारह व्यवसायो को अट्ठारह श्रेणियो का उल्लेख आया है, जिनमे चार प्रमुख थी—बढई, लुहार, चर्मकार और चित्रकार लोगो की श्रेणिया । अनेक श्रेणियो के ऊपर महाश्रेष्ठी होता था । श्रेणियो के विवाद का वह निपटारा करता था । श्रेणियो मे धन लगाने वाले, व्यवसाय करने वाले और श्रमजीवियो सभी का प्रतिनिधित्व रहता था । श्रेणिया आधुनिक बैंको का भी कार्य करती थी ।

---

1 ऐंशेट इडिया पृ० 220 ।

2 वही ।

3 ऐंशेट इडिया एज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर पृ० 70 ।

4 ऐंशेट इडिया पृ० 31 ।

5 अर्थशास्त्र, अधिकरण 2, अध्याय 23 ।

6 मुकर्जी कृत ए हिस्ट्री आफ इण्डियन शिपिंग, पृ० 10 तथा स्मिथ कृत अर्ली हिस्ट्री आफ इडिया ।

7 अर्थशास्त्र अधिकरण 2, अध्याय 28 ।

8 ऐंशेट इ डिया पृ० 200 और बुद्धिस्ट इ डिया पृ० 90 और अर्थशास्त्र, अध्याय 2, अधिकरण 11, अध्याय 1

यूनानी लेखकों ने सामुद्रिक व्यापार का भी उल्लेख किया है। एरियन[1] के अनुसार भारतीय व्यापारी अपना सामान बेचने यूनान जाते थे। समुद्री मोतियों को विदेशी बाजारो में बेचने के लिए ले जाते थे। नौ सेनापति, यात्रियों और व्यापारियों को जहाज किराये पर दे दिया करते थे। सस्कृत साहित्य और कौटिल्य ने इस तथ्य की पुष्टि की है कि विदेशो के साथ भारत का व्यापार होता था।

मुद्रा

चंद्रगुप्त मौर्य की सरकार मुद्रा नियत्रण पर विशेष ध्यान रखती थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र मे सोने, तावे और चादी के सिक्को के प्रचलन का उल्लेख मिलता है। सोने के सिक्के को सुवर्ण अथवा निष्क, चादी के सिक्के को धरण या पुराण और तावे के सिक्को को कार्षापण कहा जाता था। सोलह माषक मिलाकर मूल्य में एक चादी के पण के बराबर होता था। कार्षापण के साथ अर्द्धकार्षापण का प्रचलन था। यूनानी लेखकों से पता चलता है कि तक्षशिला मे राजा ने 'सिग्नेरम आर्गेटम' नामक सिक्के सिकदर को भेंट दिये थे। इस सिक्के को चादी का माना गया है।[3]

धार्मिक स्थिति

मौर्यकाल की धार्मिक स्थिति का आभास बौद्ध ग्रथो, अभिलेखो और विदेशियो के विवरणों से होता है। इन साक्ष्यों से निष्कर्ष निकलता है कि मुख्यत ये धर्म (सप्रदाय) प्रचलित थे—ब्राह्मण धर्म, बौद्धधर्म, जैन धर्म, आजीविक धर्म और आस्तिक आदोलन, जिनका विवरण इस प्रकार है—

ब्राह्मण धर्म

वैदिक यज्ञो मे कर्मकाड की प्रधानता थी। बौद्ध ग्रंथो मे वैदिक ज्ञान एवं रीतियो का वर्णन है। बौद्ध ग्रथो मे महाशाला नामक ब्राह्मणो के एक वर्ग का उल्लेख है जो राजा द्वारा दान की गयी भूमि का कर लेते थे, जिससे वे यज्ञो का अनुष्ठान करते थे और विद्यार्थियो को शिक्षा देते थे।[4] ये ब्राह्मण गण बडे विद्वान् होते थे।[5] कुछ ब्राह्मण याज्ञिक अनुष्ठान के अतिरिक्त तत्त्व-चिंतन भी

1. ऐशेंट इडिया पृ० 200, वही, स्ट्रबो, 15,46 पृ० 8 व 5।

2 मुकर्जी कृत ए हिस्ट्री आफ इंडियन शिपिंग, पृ० 69।

3 भगवती प्रसाद पाथारी कृत मौर्य साम्राज्य का सास्कृतिक इतिहास, पृ० 178।

4 एज आफ दि नदाज एण्ड मौर्याज, पृ० 22,288।

5 नलिनाक्ष दत्त, डेवलपमेंण्ट आफ बद्धिज्म इन उत्तर प्रदेश।

करते थे। यह उनका बौद्धिक एव आध्यात्मिक पक्ष था। तप एव मनन द्वारा अपने जीवन को शुद्ध बनाना तथा मन, वचन एव कर्म की विशुद्धता द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार करना उनका कर्तव्य था। ज्ञान की प्राप्ति और ज्ञान का दान उनका प्रमुख लक्ष्य था। कुछ ब्राह्मण नगरो मे दूर जाकर अनिकेतवासी होकर कठोर तप करके और सयम पूर्वक जीवन व्यतीत करके ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील रहते थे।

ब्राह्मण धर्म में बहुदेववाद प्रचलित था। अर्थशास्त्र मे अपराजित अप्रतिहत, जयन्त, वैजयत, शिव, वैश्रवण, श्री, दिग्देवताओ का उल्लेख हुआ है। मेग-स्थनीज प्रमुख देवताओ मे जिनका उल्लेख करता है उनकी पहचान शिव और कृष्ण मे की गयी है। अर्थशास्त्र में मूर्तियो और मदिरो का उल्लेख हुआ है। देवमूर्तियो के निर्माता शिल्पी 'देवताकारु' कहलाते थे। महाभाष्य[1] मे पता चलता है कि इस काल मौर्यों द्वारा धन के लिए शिव, स्कद और विशाख की मूर्तिया बनाकर बेची जाती थी। नदिया पवित्र मानी जाती थी। तीर्थयात्रा की महिमा थी। मेगास्थनीज ने गगा को सर्वाधिक पवित्र बताया है। यह ब्राह्मणो के धर्म का वाह्य पक्ष था। उसका अन्त पक्ष दार्शनिक था। मेगास्थनीज के के अनुसार ब्राह्मण अपना अधिकाश समय जन्म एव पुनर्जन्म के सिद्धातो के मनन विवेचन मे लगाते थे। उदाहरणार्थ[2] एक मेडेनिस नामक एक ब्राह्मण सन्यासी का उल्लेख ग्रीक विवरण मे आता है। सिकदर ने उसे बुलवाया और उसे यह भी धमकी दी कि यदि वह नही आयेगा तो इसे मृत्यु दड दिया जायगा। इसके उत्तर मे सन्यासी ने कहला भेजा, सिकदर मेरा शीश कटवा सकता है, परतु वह मेरी आत्मा का नाश नही कर सकता। मेरी आत्मा शरीर को एक जीर्ण वस्तु की भाति छोडकर अपने स्वामी के पास चली जायेगी, जहा से यह शरीर आया है। डाओडोरस के उल्लेखो से स्पष्ट है कि सिकदर कलनोस की विद्वत्ता और दार्शनिक प्रतिभा का बहुत आदर तथा मान करता था। दार्शनिक पक्ष निर्वाण प्राप्ति को मनुष्य का चरम लक्ष्य बताता है, किंतु लौकिक पक्ष मे स्वर्ग प्राप्ति ही उसका अभीष्ट था। अशोक के अभिलेखो मे स्वर्ग का उल्लेख अनेकश आता है। उस समय वासुदेव पूजा प्रतिष्ठित हो गयी थी।

अशोक कालीन समाज मे अनेक सप्रदाय प्रचलित थे, यथा—

1 देवो, शिव, स्कद आदि की पूजा करने वाले।

2 शाक्य मुनि गौतमबुद्ध के अनुयायी।

---

1 राय चौधरी कृत पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशेट इडिया पृ० 322।

2. मिक्रिडल कृत इनवेजन आफ एलेक्जेन्डर पृ० 315 और 388।

3 निर्ग्रन्थ अथवा महावीर के अनुयायी जैन लोग ।

4. मक्खलिपुत्त गोसाल के अनुयायी, जिन्हे आजीविक कहा गया।

5. अन्य सप्रदाय के लोग जिनका उल्लेख स्तभ लेख 7 मे हुआ है ।

अशोक के अभिलेखो से भी प्रकट होता है कि समाज मे प्रमुखत चार धार्मिक सम्प्रदाय थे—ब्राह्मण, बौद्ध, जैन और आजीविक ।

बौद्धधर्म

यद्यपि अशोक के पहले ही बौद्धधर्म की पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी, तथापि बौद्धधर्म के देशव्यापी प्रचार और विदेशो मे प्रसार का श्रेय मौर्य सम्राट् अशोक को ही है । साहित्य एव अभिलेखों[1] से स्पष्ट है कि अशोक का व्यक्तिगत धर्म बौद्धधर्म था । एक अभिलेख[2] मे अशोक ने अपने धार्मिक जीवन पर प्रकाश डालते हुए कहा है ढाई वर्ष से कुछ अधिक समय तक मैं उपासक (बौद्धधर्म का गृहस्थ अनुयायी) रहा । परतु एक वर्ष से कुछ अधिक समय पूर्व मैंने सघ की शरण ली और तबसे मैंने बहुत पराक्रम किया है जिसके फल स्वरूपसमस्त जबू द्वीप देवताओ मे परिचित हो गया है ।' इस कथन से प्रकट होता है कि सपूर्ण भारतवर्ष मे बौद्धधर्म का प्रचार एव प्रसार हुआ था । उसने बौद्धधर्म को राजाश्रय प्रदान कर उसकी उन्नति के लिए अनेक प्रयत्न किये, अशोक के शासन काल मे ही बौद्ध सगीति का अधिवेशन बुलाया गया था जिसकी अध्यक्षता आचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स ने की थी । अशोक द्वारा बौद्धधर्म अपनाये जाने और उसके प्रसार मे रुचि लेने से बौद्धधर्म विश्व का प्रमुख धर्म बन गया था । परतु अशोक का राज्य धर्मसार्वभौमधर्म था जिसमे सभी धर्मों की श्रेष्ठ और नैतिकता की बाते थी ।[3]

जैनधर्म

चद्रगुप्त मौर्य जैन धर्मावलबी था । जैनधर्म का छठा थेर (स्थविर) चंद्रगुप्त का समकालिक था । जैन अनुश्रुति है कि इसी थेर ने मौर्य सम्राट् को जैनधर्म मे दीक्षित किया था । इसी समय मगध में एक भीषण दुर्भिक्ष पडा था फलस्वरूप सन्यासियो को भिक्षा पाना भी कठिन हो गया । इसीलिए भद्रबाहु के नेतृत्व में अनेक जैन भिक्षु दक्षिणी भारत चले गये थे । इन लोगो ने श्रवणबेलगो (मैसूर) मे निवासस्थल बना लिया था और यही से उन्होने दक्षिणी भारत में जैनधर्म का प्रचार किया । पाटलिपुत्र मे जैन साधुओं ने एक जैन सगीति का आयोजन किया था जिसमे जैन सिद्धांतों को बारह अगों मे संगठित किया गया । मगध के जैन

1. स्तभ लेख 7 ।

2 लघुशिलाभिलेख 2 ।

3 'अपासिनवे बहुकयाने दया दाने सचे सोचये ।' स्तभ लेख 2 ।

मतावलबियो ने श्वेत वस्त्र धारण करना आरभ किया किंतु भद्रबाहु के शिष्यो ने नग्न रहना पसद किया। इस प्रकार जैन सघ दिगबर और श्वेताबरो मे बट गया। अशोक का पौत्र उस समय भी जैन धर्मावलबी था। उसने जैनधर्म के प्रचार हेतु भरसक प्रयत्न किये।

आजीविक सप्रदाय[1]

मौर्य काल मे आजीविक सप्रदाय का भी प्रचलन था। मखलिपुत्र गोशाल आजीविक सप्रदाय के सस्थापक थे, जो बुद्ध के समकालिक थे। ये लोग नग्न सन्यासियो की भाति रहते थे किंतु वे इद्रिय निग्रह को धर्म का अग नही मानते थे। ये भाग्यवादी थे तथा किसी प्रकार के कारण-परिणाम मे विश्वास नही करते थे। उनके अनुसार ससार मे प्रत्येक वस्तु तथा घटना नियम या नियति के अनुसार घटती है और मानव इस नियति का दास है।[2] इस काल मे अशोक के अभिलेखो[3] मे भी आजीवको का उल्लेख है। आजीविको का बौद्धो और जैनियो के साथ उल्लेख हुआ है।[4] अशोक ने गया के निकट पहाडियो की दो गुफाए आजीविको को दान मे दी थी अशोक के पौत्र दशरथ ने भी नागार्जुनी पहाडियो की कुछ गुफाए आजीविको को दी थी।[5] इन दोनो ही मौर्य सम्राटो ने आजीविक सप्रदाय को सरक्षण प्रदान किया था।

शिक्षा और साहित्य

शिक्षा

मौर्य काल मे शिक्षा का जनसाधारण मे प्रचार था। यूनानी लेखको के अनुसार चद्रगुप्त मौर्य के शासन काल मे सडको पर दूरी सूचक पत्थर लगे थे। ये जन साधारण को दूरी की जानकारी देने के हेतु लगाये जाते रहे होगे। अशोक के शिला लेख, स्तभ लेख भी जनसाधारण के लिए ही थे। इससे पता चलता है कि सामान्य जन अभिलेखो पर अकित उपदेशो को पढकर समझ सकते थे। इसी आधार पर डा० स्मिथ ने यह मत प्रतिपादित किया है कि अशोक के काल मे साक्षरता की प्रतिशत दर ब्रिटिश कालीन अनेक प्रातों की दर से ऊची थी।[6]

---

1 देखिये, बाशम कृत दि 'आजीविकाज'।

2 तीन गुहा लेख।

3 रीस डेविड्स कृत बुद्धिस्ट इडिया, पृ० 143 और दि एज आफ इपीरियल यूनिटी, पृ० 450।

4 स्तभ लेख सात।

5 तीन गुहा लेख।

6 विमल चद पाडेय कृत प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सास्कृतिक इतिहास पृ० 485।

यूनानी लेखकों के अनुसार[1] ब्राह्मण दार्शनिक उपत्यकाओं बनों मे ज्ञान का दान करते थे। इनके आश्रमो में रह कर ब्रह्मचारी शिक्षा ग्रहण करते थे। गुरुओं को राज्य से सहायता मिलती थी। प्रवचन एव तर्क-वितर्क के द्वारा शिक्षा दी जाती थी। आश्रम का जीवन नियमित तथा सयमित होता था। शिक्षा गुरुकुलं, मठों और आश्रमो मे दी जाती थी। इसके अतिरिक्त तक्षशिला, वाराणसी और उज्जैनी शिक्षा और ज्ञानार्जन के प्रमुख केंद्र थे। इनमे दो प्रकार के विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। प्रथम कोटि के विद्यार्थी आचार्य को शुल्क देकर दिन भर पढते थे। इन्हे 'आचारियाभागदायक' कहते थे। दूसरी कोटि के विद्यार्थी निर्धन होते थे। ये लोग दिन में आचार्य की सेवा करते थे और रात को शिक्षा ग्रहण करते थे।

इस काल मे तक्षशिला विश्वविद्यालय शिक्षा का विश्वविख्यात केंद्र था। कोसलराज प्रसेनजित और मगध का राजवैद्य जीवक ने यहा शिक्षा ग्रहण की थी। चद्रगुप्त मौर्य भी यही अध्ययन करता था। कौटिल्य तक्षशिला मे अध्यापन कार्य करता था। शिक्षा मुख्यतया धार्मिक और साहित्यिक होती थी। मेगस्थनीज ने लिखा है कि शिक्षा का प्रसार था। तक्षशिला के विद्यालय मे शूद्रो का प्रवेश निषिद्ध था। यूनानी लेखको के अनुसार[2] बालिकाये ब्रह्मचर्य व्रत धारण करके श्रमणो के आश्रमो मे शिक्षा ग्रहण करती थी। कौटिल्य[3] के अनुसार चूडाकर्म सस्कार होने पर बालक को लिपि और अकों का ज्ञान कराना चाहिए। तथा यज्ञोपवीत सस्कार के बाद त्रयी (ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद), अवीक्षकी, वार्ता और दड नीति आदि शास्त्रो की ज्ञानी आचार्यो द्वारा शिक्षा दी जानी चाहिए। इन मुख्य विद्याओ के अतिरिक्त अग विद्या (सामुद्रिक विद्या), मायागत (जादू इद्रजाल) धर्मशास्त्र, शकुन शास्त्र आदि का अध्ययन कराया जाता था।[4] सगीत, नृत्य एव नाट्य कला के अध्ययन का भी उल्लेख हुआ है।[5] अशोक ने सभवत ऐसे समाजो (उत्सवो) को बद कर दिया था जिनमे खून खराबी होती थी।

साहित्य

महापडित चाणक्य ने अपने ख्यातिलब्ध ग्रथ **अर्थशास्त्र** की रचना की, जो

---

1 ऐशेंट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन क्लासिकल लिटरेचर पृ० 65।

2 वही पृ० 67।

3 अर्थशास्त्र, अधि० 1, अध्याय 4।

4 अर्थशास्त्र, अधि० 1, अध्याय 10 और अधि० 3, अध्याय 11।

5. वही 1, 11 1 प्रथम अभिलेख और चतुर्थ अभिलेख, गिरनार 1 कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इडिया, पृ० 434।

तत्कालीन इतिहास का प्रमुख स्रोत है। प्रमुख बौद्ध ग्रंथ **कथावत्थु** का सर्जन तृतीय बौद्ध संगीति में हुआ था जिसके अध्यक्ष मोग्गलिपुत्त तिस्स थे। पतंजलि के **महाभाष्य** की रचना भी मौर्य काल के अंतिम चरण में हुई। पाणिनीय व्याकरण पर कात्यायन का भाष्य भी इसी युग की रचना मानी जाती है।

नंद और मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त और बिंदुसार के ब्राह्मण मंत्री सुबंधु का उल्लेख संस्कृत ग्रंथ **बृहत्कथा**, हरिषेण कृत जैन ग्रंथ **बृहत्कथाकोश** और बौद्ध ग्रंथ मंजुश्रीमूलकल्प में आया है।[1] अभिनवगुप्त के नाट्यशास्त्र के भाष्य 'अभिनव भारती' में सुबंधु को महाकवि कहा गया है।

जैन **बृहत्कथाकोश**[2] में एक अन्य मंत्री 'कवि' का उल्लेख है, जिसकी चर्चा चाणक्य और सुबंधु के साथ की गयी है। **महाभाष्य** में वररुचि कृत काव्य का उल्लेख उपलब्ध है। भोज कृत **शृंगार प्रकाश** में वसंततिलका वृत्त का श्लोक उद्धृत किया गया है, जिसे कात्यायन द्वारा प्रणीत बताया गया है। जैन धार्मिक साहित्य के सर्जन एवं संकलन की दृष्टि से यह काल महत्त्वपूर्ण है क्योंकि **आचारांग सूत्र, समवायांग सूत्र**, **भगवती सूत्र**, **उपासक दशांग** आदि ग्रंथों के अधिकांश भागों की रचना इसी काल में हुई थी। इस युग के प्रसिद्ध जैन विद्वानों में जंबूस्वामी, स्थूलभद्र, यशोभद्र, संभूति और भद्रबाहु आदि उल्लेखनीय हैं।

भाषा एवं लिपि

मौर्यकाल में धार्मिक तथा साहित्यिक भाषा के रूप में संस्कृत का महत्त्वपूर्ण स्थान था। विद्या केंद्रों में शास्त्रीय विषयों के लिए संस्कृत का ही मुख्य प्रयोग होता था। अशोक के काल में प्रतिदिन के व्यवहार और प्रशासन में तथा बौद्ध एवं जैन ग्रंथों के प्रणयन में पालि और प्राकृत भाषाओं का प्रचलन था। अशोक के अभिलेखों में तत्समय प्रचलित लोक भाषाओं का ज्ञान होता है, जो संस्कृत के तीन लौकिक रूप[3] और जिन्हें लोक भाषा या प्राकृत नाम से अभिहित करना समीचीन होगा। यथा—

1 उत्तरी पश्चिमी प्राकृत–इसके उदाहरण मानसेरा और शाहबाज गढ़ी के लेख हैं।

2 पूर्वी प्राकृत–इसके उदाहरण अशोक के पूर्ववर्ती प्रदेशों में प्राप्त अभिलेखों में मिलता है।

3 दक्षिणी पश्चिमी प्राकृत–गिरनार (सौराष्ट्र) के लेख में इसका उदाहरण देखा जा सकता है।

1. एज आफ दि नंदाज ऐंड मौर्याज, पृ० 330-31।
2. एज आफ दि नंदाज ऐंड मौर्याज, पृ० 331।
3. एज आफ दि नंदाज ऐंड मौर्याज, पृ० 312-13।

इन तीनों में पूर्वी प्राकृत अथवा मागधी मध्य देश की बोली थी। महावीर, बुद्ध तथा नद और मौर्य राजाओं की यही भाषा थी।[1] पालि हीनयानी बौद्ध सप्रदाय की साहित्यिक भाषा के रूप मे प्रसिद्ध है। डॉ० राय चौधरी के अनुसार[2] पालि प्राचीन शौरसेनी प्राकृत से समानता है, जो मध्यदेश मे प्रचलित साहित्यिक भाषा थी।

अशोक के समय में दो प्रकार की लिपियो का प्रचलन था—ब्राह्मी और खरोष्ठी। शाहबाजगढी तथा मानसेरा के चौदह शिलालेख खरोष्ठी लिपि मे लिखे गये। इसके अतिरिक्त अन्य सभी अभिलेखो की लिपि ब्राह्मी है।[3] खरोष्ठी लिपि की लेखन शैली दायें से बाये थी। ब्राह्मी लिपि की लेखन शैली बायें से दाये थी। देवनागरी लिपि के मूल मे ब्राह्मी लिपि ही है। मौर्य काल मे पश्चिमोत्तर भारत मे खरोष्ठी लिपि और शेष भारत मे ब्राह्मी लिपि का प्रचार था।

कला

मौर्य साम्राज्य के अतर्गत लगभग सपूर्ण भारत सम्मिलित था। मौर्य साम्राज्य की सुव्यवस्था, शाति, सुखसम्पन्नता एव साधनो के फलस्वरूप तात्कालिक जीवन का विकास अनेक क्षेत्रो मे हुआ। सभवत इसीलिए मौर्यकालीन कला अपनी चरम सीमा पर पहुच गयी थी।

मौर्यकाल मे दो प्रकार की कला शैलिया दृष्टिगत होती है यथा—1 राजसी कला, जिसमे स्थापत्य एव शिल्प-कला आती है और 2. लोक कला। प्रथम का दर्शन हम राजभवन, विशाल पाषाण स्तभो एव गुहा चैत्यो के रूप मे करते है। जनसाधारण की कला के अतर्गत यक्ष और यक्षणियो की मूर्तिया आती है। इस कला का आधार सम्राटो की भावना, विचारण एव आत्मतोष का निर्वाह है। इसकी शैली प्रभुतापूर्ण, मौलिक तथा पूर्णता को प्राप्त हुई है। इन स्मारको की योजना विस्तृत एवं भव्य है। दूसरी लोक कला अथवा जन-साधारण की कला मिट्टी और काष्ठ निर्मित है, प्राचीन अभिघटन कला (प्लास्टिक आर्ट) की परपरा का प्रतिनिधित्व करती है जिसका निरुपण अब प्रस्तर खडो पर होता है। इसके अतर्गत यक्ष एव यक्षणियो की मूर्तिया आती है, जो मथुरा, विदिशा, वाराणसी, पाटलिपुत्र और शिशुपालगढ (उडीसा) मे उपलब्ध है।

1 राजसी कला

क स्थापत्य एवं वास्तु—प्रारभिक स्थापत्य के विषय में जानकारी मेगस्थ-

---

1. बाद में प्राकृत के दो रूप हो गये—1—पूर्वी प्राच्य अथवा मागधी—2—पश्चिमी प्राच्य अथवा अर्ध मागधी। देखिये वही।

3 दि एज आफ इपीरियल यूनिटी पृ० 283।

4 एज आफ नदाज ऐंड मौर्याज पृ० 322-23।

नीज[1] के विवरणो से मिलती है। इसके अतिरिक्त कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** मे भी सामग्री उपलब्ध है। इन विवरणो की पुष्टि बुलदीवाग और कुम्हरार (पटना के निकट) में सम्पन्न उत्खननो से प्राप्त सामग्री से होती है।[2]

1 नगर-योजना

मेगस्थनीज[3] के कथनानुसार पाटलिपुत्र गगा और सोन नदी के सगम पर बसा था। नगर का आकार एक समानातर चतुर्भुज के समान था। वह लगभग साढे नौ मील लबा और लगभग दो मील चौडा था। नगर चारो ओर से काष्ठ की बनी दीवार से घिरा था जिसमे 570 बुर्ज और चौसठ द्वार थे। इन दीवालो पर तीर चलाने के लिए छिद्र बने थे। सामने की ओर रक्षा के हेतु एक परिखा खुदी थी, जो 600 फुट चौडी और 30 फुट गहरी थी। चीनी यात्री के अनुसार "पाटलिपुत्र की इस काष्ठ नगरी मे राजा का भव्य प्रासाद था, जो ससार के राजकीय भवनो मे सर्वाधिक सुदर था और जिसके सामने सूसा और इकवताना के राजप्रासादो का वैभव भी तुच्छ प्रतीत होता था। इस प्रासाद के मडित स्तभो पर स्वर्णिम अगूरी लतिकाए खचित हे, जिन पर चादी की चिडिया कल्लोल करती दृष्टिगत होती है। प्रासाद के निकट मछलियो के सरोवर हे जिनकी शाभा को बढाने के लिए अनेक सज्जायुक्त वृक्ष, कुज और झाडिया लगा दी गयी है। इस राजप्रासाद को देखकर गुप्तकाल मे फाहियान भी आश्चर्यचकित रह गया था। इस यात्री ने भी उक्त प्रासाद की सुदरता एव भव्यता की भूरि-भूरि प्रशसा की है तथा उसे देवताओ द्वारा निर्मित बताया है।[4] कौटिल्य के अर्थशास्त्र[5] मे स्थापत्य के सबध मे रोचक सामग्री उपलब्ध है। कौटिल्य के अनुसार नगर मे एक परिखा, प्राकार, वप्र, द्वार, कोष्ठ और अट्टालक होने चाहिए। उक्त ग्रथ मे ईटो अथवा पत्थरो के प्राचीर-निर्माण का विधान है।

2 राजप्रासाद

प्राचीन शैली के आधार पर निर्मित नगर महापथों द्वारा चार ब्लाको मे

---

1 मैक्रिडल कृत ऐशेट इडिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज ऐड एरियन, 1877।

2 बैडेल, रिपोर्ट ऑन एक्सकेवेसनस ऐट पाटलिपुत्र, 1903 पृ० 22-26 और आर्कियालोजिकल सर्वे रिपोर्ट, 1913-12 पृ० 73-75।

3 मैक्रिडल कृत ऐशेट इडिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज ऐड एरियन पृ० 65-69।

4 देखिये फाहियान—लेगी, पृ० 77।

5 देखिये अर्थशास्त्र, दुर्गविधान, 2, 21।

विभक्त था। बीच में उद्यानो के मध्य अनेक भवनों सहित विशाल राजप्रासाद निर्मित था। यह राजप्रासाद पूर्णत. नष्ट हो गया है। इसके ध्वसावशेष पटना के बुलदीबाग में प्राप्त हुए है। इनसे पता चलता है कि राजप्रासाद विशेषत काष्ठ निर्मित था। राजप्रासाद का सबसे प्रमुख भाग उसका स्तभ युक्त भव्य विशाल कक्ष था।[1] यह ऐतिहासिक काल की प्रथम रचनामूलक इमारत है, जो भारतीय कला की अभूतपूर्व देन है। शास्त्रानुसार यह राजकीय भवन तीन भागो मे विभक्त था। राजकीय हाथियो एव रक्षको का कक्ष, सभा मडप और मुख्य महल। ये सब एक ही सीध मे थे। प्रत्येक स्तभ के बीच की दूरी 15 फुट है। स्तभ अत्यत चिकने और पालिशयुक्त हैं। स्तभ युक्त सभाभवन के दक्षिण की ओर सात काष्ठ निर्मित चबूतरे मिले। इनके किनारे इतने अक्षत और निष्पन्न है कि प्रत्येक जोड की लकीर अविवेच्य है। इस सपूर्ण इमारत का निर्माण बडी सुनिश्चितता एवं सावधानी से हुआ है।[2]

चद्रगुप्त मौर्य की भाति अशोक मौर्य ने भी एक राजप्रासाद का निर्माण कराया था, जिसमे पत्थर का प्रयोग, दीवालों और तोरणो की व्यवस्था चित्ताकर्षक नक्काशी तथा सुदर मूर्तिया उत्कीर्ण थी।[3] महल के निर्माण मे काष्ठ का प्रयोग बहुलता से किया गया था। सातवी शताब्दी मे ह्रुएनसाग की यात्रा के समय यह प्रासाद नष्ट हो चुका था। कर्नल वैडेल ने यहा मौर्य-ओप से युक्त पत्थर के टुकडे प्राप्त किये थे।[4] उपरांत 1813 मे डॉ० स्पूनर ने आधुनिक पटना नगर के उत्तर मे स्थित कुम्हरार नामक स्थान पर इस राजप्रासाद के ध्वसावशेष प्राप्त किये थे। चीनी यात्री फाहियान ने भी इसका उल्लेख किया है। इस राजप्रासाद का प्रमुख अग प्रधान कक्ष था, जिसकी छत 225 विशाल स्तंभो पर आश्रित थी। ये स्तभ लकडी की आधार पीठिकाओ पर निर्मित थे।

---

1. जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, 1915 पृ० 63 और आगे तथा 403 और आगे।

पर्सी ब्राइन का कथन है कि मौर्य राजप्रासाद पर पारसीक प्रभाव है किंतु हैवेल ने कहा है कि आर्यावर्त को मैसीडोनियन आतक से स्वतत्रता प्रदान कराने वाला आर्य राष्ट्र का भाग्य निर्माता चंद्रगुप्त ईरानी मस्तिष्क की उपेक्षा को कैसे सहन कर सकता था।

देखिये हैवेल, आर्यन रूल, 75।

1 आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इडिया, 1912-13 पृ० 76।

2. स्मिथ, अशोक, पृ० 87।

3. वैडल, डिस्कवरी आफ दि एक्जेक्ट साइट आफ अशोकाज क्लासिक कैपिटल आफ पाटिलपुत्र, कलकत्ता 1892।

स्तंभ पत्थर के थे, जिन पर चमकदार पालिश थी। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल[1] के अनुसार इसका वर्णन महाभारत के वर्णन से मेल खाता है। ऋग्वेद में भी सौ स्तंभ वाले कक्ष का वर्णन है।

3. शैल गुहाए

भारत में शैल गुहाओ की प्राचीन परपरा रही हैं। मध्य प्रदेश मे अनेक प्रागैतिहासिक एव आद्यैतिहासिक काल की गुहाए मिली हैं[2] जिनमे आदिवासी निवास करते थे।[3] अशोक और उनके पौत्र दशरथ ने अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता प्रदर्शित करते हुए आजीविक सप्रदाय के भिक्षुओ के निवास के लिए गया से उत्तर 19 मील की दूरी पर स्थित बाराबार पहाडियो पर शैल गुहाओ का निर्माण कराया था।[4] इनकी भीतरी दीवालो पर चमकीली पालिश है। मौर्यकालीन सात शैल गुहाए मिली है, जिनमे चार बाराबर पहाडी मे है और तीन नागार्जुनी पहाडी पर। सामूहिक रूप मे इन्हे सतघर कहते हैं। इसके अतिरिक्त राजगृह से दक्षिण की ओर तेरह मील की दूरी पर और गया से पूर्व मे पच्चीस मील की दूरी पर सीतामढी नामक एक अन्य गुहा है जो मौर्यकालीन गुहा का ही उदाहरण लगता है। इनसे लकडी या फूस के घरो की हुबहू नकल है अर्थात् लकडी के भवन का नक्शा पत्थर पर उतारा गया है।[5] इन गुहाओ मे बाराबर पहाडी मे स्थित लोमश ऋषि और सुदामा गुहाए विशेष उल्लेखनीय है। ये सबसे पुरानी हैं। इनमे अशोक का अभिलेख खुदा हुआ है। इनके आतरिक भाग एक तरह के हैं। लोमश ऋषि का द्वार सज्जायुक्त है।[6] नागार्जुनी गुहाओ मे गोपी गुहा सबसे अधिक विशाल है। (44 × 119 × 10 फुट) जिसका आकार सुरग की भाति है। इसके द्वार पर एक लेख उत्कीर्ण है, जिसके अनुसार उसका निर्माण दशरथ ने कराया था। इन गुहाओ के भीतर की सतह चिकनी और चमकदार है। इन शैल गुहाओ के निर्माण, इन पर खुदे हुए लेखो के अनुसार, आजीविक सम्प्रदायो के भिक्षुओ के निवास और उनकी साधना के लिए स्थान की व्यवस्था करने के अभिप्राय से किया गया था।

4 शिल्प कला

(क) प्रस्तर स्तंभ—मौर्यकला की सर्वोत्कृष्ट कृतिया अशोक के एकाश्म

1 इडियन आर्ट, पृ० 85, 88।

2 देखिये जगदीश गुप्त कृत प्रागैतिहासिक चित्रकला।

3 पर्सी ब्राउन, वही, पृ० 13।

4 वही।

5 फर्गुसन, हिस्ट्री आफ इडियन एड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, 1, 130-31।

6 हुल्स, कर्पस इशक्रिप्शन इडिकेरम, 1, 181।

प्रस्तर स्तभ है। फाहियान ने (399-413 ई०) अशोक के छ स्तंभों और हुएनसांग ने (629-645) बारह स्तंभों को देखा था। किंतु उनमें से भी कुछ नष्ट हो गये है। ये स्तभ, सकिसा, निग्लीव, लुंबिनी, सारनाथ, वैशाली, साची, रामपुरवा, कोसम, प्रयाग, लौरिया अरराज, लौरियानदा गढ, टोपरा आदि स्थानों पर प्राप्त हुए है। इनके अतिरिक्त भी कुछ स्तभ थे जिनका उल्लेख चीनी यात्रियों ने किया है।

प्रत्येक स्तंभ को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—लाट और स्तंभ-शीर्ष। लाट एक शु डाकार दड है जिसकी लबाई चालीस फुट से 50 फुट तक है।[1] स्तभ-शीर्ष लाट की चोटी पर स्थापित रहता है। यह तीन अंगों मे विभक्त होता है—उल्टा कमल अथवा घटा, आधार पीठिका, पशु और कभी-कभी पशुओ के ऊपर स्थापित धर्मचक्र। इसके निर्माण में चुनार के लाल बलुए पत्थर का प्रयोग किया गया है। यह एकाश्म प्रस्तर है। ये स्तभ अपने भव्य आकार, अनुपात, सुमज्जा, चमक मे बेजोड है।[2] इनकी उत्कृष्ट कारीगरी कलाकारो की कार्यकुशलता की परिचायक है। इन स्तभों की निर्माण शैली के आधार पर उनका क्रमिक विकास निर्धारित किया जा सकता है। अशोक द्वारा निर्मित सारनाथ के सिंह शीर्ष-स्तंभ मे कला अपनी पूर्णता पर पहुंच गयी है। स्मारकीय योजना की शिल्पकला बनावट मे सौदर्यपूर्ण तथा पाश्वीर्य भागो के कार्य सपादन मे सादृश्य उपस्थित करती है। इसके अवयव इकहरे सूत्रबद्ध होकर भी चारो दिशाओ के समुख है और एक साथ संबद्ध है। इनकी फाको (कोर विन्यास) कर्ण रेखाओ, शीर्ष वृत्तो की बनावट सूत्र-बद्ध और नियत्रित प्रतीत होती है, जो कलाकार के आत्म-विश्वास का परिचय देती है।

सारनाथ स्तभ शीर्ष की प्रतीकात्मकता[3] के सबध में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। स्तंभ शीर्ष पर जिन पशुओं की आकृतिया है उनका सबध वैदिक एव पौराणिक मान्यताओं से है। हाथी पूर्व दिशा का, वृषभ पश्चिम का, सिंह उत्तर का और अश्व दक्षिण दिशा से सबधित माना गया है।[4] इन पशुओ का प्रतीकात्मक रूप में बुद्ध के जीवन से भी सबध माना गया है। हाथी उनके जन्म का, वृषभ राशि का, सिंह शाक्य सिंह का और अश्व महाभिनिष्क्रमण का प्रतीक है। डॉक्टर ब्लाक उन्हे चार देवताओ, इद्र, शिव, सूर्य और दुर्गा का रूप

1 पर्सी ब्राउन, इडियन आर्किटेक्चर (बुद्धिस्ट एंड हिंदू) पृ० 11।

2. वही पृ० 12।

3. देखिये थपल्याल का लेख 'दि सिंबालिज्म इन सारनाथ लायन कैपिटल एड इट्स पर्पज' जर्नल आफ यू. पी. हिस्टारिकल सोसायटी भाग 8 पृष्ठ 11।

4 पर्सी ब्राउन, वही पृष्ठ 12।

मानते हैं, जिनके वे वाहन थे और धर्मचक्र के नीचे इनको दिखाने का उद्देश्य यह दर्शाना था कि ये चारो हिंदू देवता बुद्ध के अधीनस्थ थे। फूशे ने उन्हे बुद्ध के जीवन की चार घटनाओं से जोडा है। वृषभ का अर्थ है जन्म, हाथी का माया का गर्भ धारण करना, (माया ने गर्भधारण से पूर्व स्वप्न मे श्वेत हाथी देखा था)। अश्व का अर्थ हैं बुद्ध का घोडे पर सवार होकर गृह त्याग और सिंह के अर्थ है शाक्य सिंह के रूप मे बुद्ध।[1] इस प्रकार निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सारनाथ का स्तभ धार्मिक लाक्षणिकता का परिणाम है। चार सिंह चक्रवर्ती सम्राट् की असीम शक्ति के प्रतीक है तथा सबसे ऊपर स्थित चक्र, धर्म-चक्र का प्रतीक है। अनेक विद्वानो का मत है कि ये स्तभ विदेशी कला से प्रभावित है। विसेंट स्मिथ स्तभो के शीर्ष पर ईरान और असीरिया की कला का प्रभाव तथा पशुओं की आकृतियो पर यूनानी कला का प्रभाव मानते है।[2]

हैवेल के अनुसार अशोक के स्तभ का गोलाकार रूप प्राचीन चद्र उपासना की स्मृति का लक्षण है।[3] बैठे हुए चार सिहो के ऊपर चक्र स्थित था। यह सिह-नाद का प्रतीक है—सिंहनाद जो धर्मचक्र प्रवर्तन सूत्र और ससार मे चारो दिशाओ मे फैला देगा। अशोक ने इसके द्वारा साकेतिक भाषा मे यह घोषित किया है कि धर्म चारो दिशाओं या समग्र ससार की रक्षा कर रहा है। दूसरे शब्दो मे इसके द्वारा अशोक ने धर्म विजय की घोषणा की है। चौकोर पट्टी, एक घटे के आकार के कमल के फूल पर, जिसकी पखुरिया उल्टी हैं, टिकी हैं। यह ब्रह्माड का वैदिक प्रतीक है ओर बुद्ध के दृढ हीरक आसन का प्रतीक है, जो सपूर्ण ससार को सागर की सीमा तक नाप सकता है, विश्व साम्राज्य का प्राचीन वैदिक प्रतीक है।[4]

(ख) एकाश्म वेदिका—सारनाथ मे अशोक के स्तूप के चारो ओर एक पाषाण वेदिका प्राप्त हुई है।[5] यह मूल गध कुटी (सारनाथ) के दक्षिणी चैत्य की नीव के नीचे तक सफाई करते हुए श्री अर्टल को मिली थी, जो आठ फुट चार इच ऊची है और एक ही पत्थर को काट कर बनाई गयी है। इस पर ऐसी पालिश और चमक है जो अशोक कालीन कलाकृतियो की विशेषता है। किसी समय यह धर्मराजिका स्तूप की चोटी पर हर्मिका के चारो ओर लगी हुई थी।

---

1 मेम्वायर्स आफ आर्क्यालाजिकल सर्वे आफ इडिया नबर 46 पृष्ठ 5।
2 स्मिथ कृत अशोक, पृष्ठ 110-111।
3 ए हैंडबुक आफ इडियन आर्ट, पृष्ठ 40-45।
4 राधा कमल मुकर्जी, भारत की सस्कृति और कला, पृष्ठ 93।
5 वासुदेव शरण अग्रवाल, सारथ, पृष्ठ 9।

इसी प्रकार विदिशा और बोधगया आदि स्थानो मे अन्य वेदिकाए मिली है । ये एकाश्म वेदिकाए कला की दृष्टि से बडी महत्त्वपूर्ण है ।

(ग) पशु आकृतियां—शिल्प कला में मौर्य स्तंभों, स्तभ-शीर्ष की पशु मूर्तियों और धौली (उडीसा) की हाथी की मूर्तियो का विशेष महत्त्व है । बखीरा (बसाढ अथवा वैशाली) का सिंह कालक्रम एव विकास की दृष्टि से प्राथमिक अवस्था का है । विकास के अग्रिम चरण में धौली का हाथी आता है, जो चट्टान काटकर अर्द्धहस्ति के रूप में कोरा गया है । इस कृति का निर्माण काल सम्राट् अशोक के शासन काल के बारहवें-तेरहवें वर्ष के मध्य आका गया है । विकास का तीसरा चरण रामपुरवा का वृषभ, चौथे चरण मे लौरियानदनगढ की सिंह मूर्ति और अतिम चरण में सारनाथ और साची के चार सिंहो की मूर्तियो को रख सकते है । इनकी कला विकास के चरण विदु पर पहुँच गयी है ।

बखीरा की सिंह मूर्ति बेडौल और निष्पादन मे अपरिपक्व एव अपरिष्कृत है । सिर के बालों और रेखाओं मे प्रवाह कम है, यद्यपि अयाल का चित्रण सफल हुआ है । केश के गुच्छो का विन्यास अनगढ है । मुखाकृति असगत और पुराने ढग की है, तथा ओजहीन है । कला अप्रौढ है । आकृति के चित्रण मे ओज और शौर्य का अभाव है, केवल सिंह का विशाल आकार दिखाई पडता है । धौली की गज मूर्ति अपेक्षाकृत सुडौल और कला की दृष्टि से प्रौढ है । गज का रूपाकन और उसकी छवि का अकन विशिष्ट है । उसकी रेखाओ का प्रवाह सुदर है । इसमे आकार की विशालता है तथा उसकी छवि मे कल्पना का पुट है । गज की की शात गरिमा अपूर्व है । गज आगे की ओर बढता हुआ दिखाया गया है और उसकी सू ड मे भी गतिशीलता है । केवल उसकी मासपेशियो के अकन मे जडता और तनाव है । डॉक्टर नीहार रजन रे का कथन है कि धौली के गज की तुलना मे साची और सारनाथ के सिंहो की शैली आडबर पूर्ण है ।

सकिसा की गज मूर्ति मूर्तिकला की दृष्टि से निम्नस्तरीय है । गज के शरीर का भाग बोझिल होने के कारण झुक गया है । उसके अगले पैर खभे की बनावट के है । कलाकार ने गति लाने का असफल प्रयास किया है क्योकि गज का विशाल और थुलथुल शरीर जड प्रतीत होता है ।

लौरियानंदनगढ की सिंह मूर्ति मे बखीरा की सिंह मूर्ति की तुलना मे अधिक तनाव और दृढता है । शिराओ और मासपेशियो का सफल चित्रण हुआ है । पशु आकृति का स्तभ के अन्य अवयवो से सामजस्य स्थापित नही होता । आकृति और निष्पत्ति के क्षेत्रों मे परंपराओ का पालन सफल ढंग से हुआ है, किंतु आकार के सूक्ष्म निरूपण और उसके यथार्थवादी प्रस्तुतीकरण में विशेष प्रगति नही हुई है ।

रामपुरवा की सिंह मूर्ति सामान्य निखार, आकृति की कल्पना और रेखाओं का प्रवाह लौरियानदनगढ की सिंह मूर्ति की तुलना मे अधिक सफल हुआ है। मासपेशियों एव पुट्ठो के निरूपण मे प्रगति दृष्टिगोचर होती है। अयालो, पैरों पंजों का स्पष्ट अकन हुआ है। यह मूर्ति कला की दृष्टि से उत्कृष्ट है।

रामपरवा की वृषभ मूर्ति[1] अशोक कालीन कला का भव्य एव उत्कृष्ट उदाहरण है। मूर्ति के आकार और छवि के अकन में कलाकार के विवेक और उसकी सूझ-बूझ का पता चलता है। इसके सपादन मे कलाकार ने प्रकृति और कलात्मक वैशिष्ट्य का सूक्ष्य अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार उसका दृष्टिकोण यथार्थवादी है। वृषभ बडे शात भाव और सयमित ढग से खडा है। प्रतिमा ओजपूर्ण है। आकृति एव रेखाकन मे योजनाबद्धता की कमी है किंतु फिर भी कृति सुंदर बन पडी है। वृषभ मे एक नैसर्गिक गतिशीलता, अग प्रत्यगो मे जीवन शक्ति और सरसता है।

"सारनाथ के अशोक स्तभ का सिंहशीर्ष भगवान तथा गत के प्रथम प्रवचन का स्मारक और अशोक की धर्मनिरपेक्षता, सहिष्णुता तथा उनके मानव मंगलकारी आदर्श का प्रतीक है। अपनी अविराम सौदर्य-सौम्यता के कारण वह मौर्य युग की उच्चतम कला कल्पना का भी साक्षी है। इस सिह-शीर्ष मे पीठ सटाये बैठे हुए चार सिह निर्मित है, जो सम्राट की चारो दिशाओ मे धर्मविजय की उद्घोषणा कर रहे है। जिनमे सर्वधर्मसमन्वय और मानवतावादी दृष्टिकोण निहित है।"[2]

सारनाथ के चार सिहो की मूर्ति[3] के नीचे एक फलक मे एक लबे डग भरते बलिष्ट वृषभ का अकन हुआ है। दूसरे फलक पर सिंह का अकन हुआ है। सिंह बडी ओजपूर्ण चाल मे जा रहा है। तीसरे फलक पर हाथी नैसर्गिक का अकन हुआ है। हाथी धीमी गति से आगे बढ रहा है। चौथे फलक पर दौडते हुए अश्व का सफल अकन हुआ है।[4]

---

1 देखिये, जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, 1908।

2 वाचस्पति गैरोला कृत भारतीय सस्कृति और कला पृ० 312।

3 भारत सरकार द्वारा राष्ट्रीय मुहर अथवा चिह्न के रूप मे स्वीकार किया गया।

4 देखिये, के० के० थपल्याल, जर्नल आफ यू० पी० हिस्टारिकल सोसायटी, न्यूसिटीज 1960 पृ० 11 और आगे।

टिप्पणी—हाथी बुद्ध के स्वप्न और विचार का प्रतीक है, वृषभ उनके जन्म का प्रतीक है (भगवान का जन्म वृषभ राशि मे हुआ था), अश्व (कन्थक पर चढ कर गृह-त्याग किया था) बुद्ध के महान त्याग का प्रतीक है और सिंह उनकी सार्वभौम सत्ता का प्रतीक है।

इस मूर्ति की कला उच्च कोटि की है। सर जान मार्शल के अनुसार[1] "सारनाथ स्तभ-शीर्ष यद्यपि अद्वितीय तो नही है तथापि ई० पू० तीसरी शताब्दी मे कला के क्षेत्र मे ससार मे सर्वाधिक विकसित कला की देन है।" इसके कलाकार को कई पीढियों का अनुभव प्राप्त था। सिंह बलशाली है। उसकी शिरायें उभरी है और पेशिया खिची हुई हैं। फलक के उद्धृत चित्रों में जीवन्त वास्तविकता है। सपूर्ण कृति मे आदिम कला का कोई चिह्न नही है। जहा तक नैसर्गिकता अभीप्सित थी शिल्पी ने आकृति का आदर्श नैसर्गिक ही रक्खा है। सिंहो की आकृति बडी स्पष्टता एव विश्वास से गढी गयी हैं। उद्धृत चित्रों की कारीगरी मे भी उतनी ही प्रौढता है। डॉ० नीहार रजन रे[2] के अनुसार "इन मूर्तियो की समग्र कल्पना एव कार्य निष्पत्ति प्रारभ से अत तक परपरागत है। चारो अर्द्धसिहो मे तकनीकी चातुरी और दक्षता के साथ-साथ सपूर्ण कृति मे योजनाबद्धता है।"

साची के सिहो की शैली सारनाथ की ही भाति परपराश्रित एव रित्यानुकूल है। सिंहो का आयाल्न का अंकन योजनाबद्ध है। ये सिंह सारनाथ के बाद के प्रतीत होते हैं। मुद्रा और आकृति मे औपचारिकता है। आकार मे ओज का प्रदर्शन और रूप का भावन सारनाथ के अनुसार हुआ है।

5 स्तूप

स्तूप (पालि थूप) वस्तुत चिता पर निर्मित टीला होता था, जो प्रारभ मे मिट्टी का बनाया जाता था। स्तूप की दूसरी सज्ञा इसीलिए चैत्य हुई। फिर मिट्टी के टीलो को ईंटो और पत्थरो से ढका जाने लगा। स्तूप शब्द का उल्लेख प्रारभिक वैदिक साहित्य[3] मे हुआ है। 'महापरिनिर्वाण सूत्र'[4] मे महात्मा बुद्ध अपने प्रिय शिष्य आनद से कहते हैं कि "मेरी मृत्यु के पश्चात् मेरे अवशेषो पर पर उसी प्रकार का स्तूप बनाया जाय जिस प्रकार चक्रवर्ती राजाओ के अवशेषो पर बनते है।" इसी सूत्र से पता चलता है कि बुद्ध की मृत्यु के बाद उनके अवशेषो पर आठ स्तूप निर्मित कराये गये परंतु आज ये प्राप्त नही होते।

कोई भी स्तूप ऐसा नहीं मिला है जिसकी तिथि निश्चयपूर्वक अशोक के काल से पहले निर्धारित की जा सके। बहुत सभव है कि वे नष्ट हो चुके हो। बौद्ध ग्रथो के अनुसार अशोक ने चौरासी हजार स्तूपो का निर्माण कराया था। पिपरावा (बस्ती जिला) नामक स्थान पर अशोक के एक स्तूप के भग्नावशेष

1 कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इडिया, भाग एक (1968) पृ० 562-563।

2 एज आफ दि नंदाज ऐंड मौर्याज, 373।

3 ऋग्वेद, 7,2,1 और 1,2,4,7 देखिये वैदिक इंडेक्स, 2,483।

4 दीघ निकाय, 14,5,11 और सेकेंड बुक आफ दि ईस्ट, 11,93।

मिलते है । तक्षशिला का धर्मराजिक स्तूप भी अशोक द्वारा निर्मित माना जाता है । चीनी यात्री हुएनसाग ने अशोक द्वारा निर्मित अनेक स्तूपो को देखा था ।

अशोक कालीन स्तूपो की बनावट सरल होती थी । सर जान मार्शल के अनुसार[1] अशोक कालीन साची के स्तूप का आकार वर्तमान स्तूप के आकार का आधा था । इसका व्यास 70 फुट होता था और ऊँचाई 35 फुट । वह ईंटो का बना था । यह अर्द्धगोलाकार था । इसके साथ उठी हुई मोधि थी । स्तूप के चारो ओर काष्ठ की वेदिका थी तथा चोटी पर पत्थर का छत्र लगा था । आगे चलकर शु ग काल मे इसे परिवर्द्धित किया गया ।

2 लोक कला[2]

लोक कला की परपरा उत्तरी भारत, बिहार और उडीसा से प्राप्त स्वतत्र रूप से स्थापित मूर्तियो मे दृष्टिगत होती है । इनमे से अधिकाश यक्ष-यक्षिणियो की है, जो अपने साथ विशिष्ट अभिघटन कला (प्लास्टिक आर्ट) की परपरा सजोये हुए है ।[3] इनका सबध राजभवन की परिष्कृत कला से नही है, वरन् इनकी कल्पना लोक जीवन से उदय हुई थी । मनुष्य जिसे महान समझता था उसकी आराधना करता था । उसकी विशालता एव महानता प्रकट करने के लिए उसे विशाल-काय, बलिष्ट एव मामल शरीरयुक्त अकित करता था । उपलब्ध विशाल यक्ष मूर्तिया इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है । ये मूर्तिया प्रारभिक मूर्ति निर्माण कला का प्रतिनिधित्व करती है । इनके कुछ महत्त्वपूर्ण उदाहरण निम्नलिखित है—

इनमें सर्वाधिक उल्लेख्य परखम (मथुरा जिला) के निकट बरोदा से प्राप्त विशाल यक्ष मूर्ति और दूसरी परखम से प्राप्त यक्ष मूर्ति है ।[4] इनका शरीर गोलाई मे गढा गया है किंतु पीठ सपाट है । आभूषणो मे भारीपन, जडता और पुरानापन है । छोटी मूर्ति मे मौर्य लेप लगा है । भारतीय परपरा मे यक्ष और यक्षिणयों की कल्पना भौतिक ऋद्धि तथा दैहिक क्षेत्र के देव और देवी के रूप मे की गयी है । पटना के यक्षो की तुलना में परखम के यक्ष अधिक पुराने लगते

---

1 ए गाइड टु साची, पृ० 33 ।

2. वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला ।

3 ये दो यक्ष मूर्तिया मथुरा सग्रहालय मे सुरक्षित है । विशेष विवरण के लिए देखिये कुमार स्वामीकृत हिस्ट्री आफ इडिया ऐड इंडोनेशियन आर्ट, पृ० 17, और आर्क्यालोजीकल सर्वे रिपोर्ट, 1909-10 पृ० 76 ।

4. एज आफ नदाज ऐड मौर्याज, पृ० 379 ।

है। यद्यपि इनके निचले भागों मे स्वाभाविकता है और धड की अपेक्षा पैर सजीव है। उनकी तोंद उभरी हुई और कुरूप है। वस्त्रों में सिलवटें पडी है।

यक्ष यक्षिणयो की मूर्तियो मे दीदारगज (पटना) मे प्राप्त यक्षिणी की मूर्ति सर्वाधिक परिष्कृत एव उन्नत है। इसके शरीर के ऊपरी भाग में थोडा झुकाव है, दाहिने पैर का घुटना थोडा झुका है जिससे आगे बढ़ने का भाव प्रकट होता है। कटि पतली है, उरोज बडे और गोल हैं। गले की माला दोनों उरोजों के बीच मे लटकती हैं। नितब पीन है। पैरो पर आभूषण है। केश रचना मनोहर है। यह नगर नवेली की सर्वाधिक सजीव एवं सुदर मूर्ति है। यह मूर्ति सर्वतो-भद्र के रूप मे निर्मित है। इसके केश लबे है। इसके पीन स्निग्ध पयोधर, भरी हुई पीठ, पतली कटि, मृदु उदर और पीन नितंब आदि कलात्मक लालित्य की दृष्टि से पूर्णता एव जीवतता के परिचायक हैं। इन मूर्तियो की आकृति और रूप विशुद्ध भारतीय है। शैली और तकनीकी दृष्टि से मौर्य दरबारी कला से वे पर्याप्त भिन्न हैं।

सारनाथ मे दो पुरुष मूर्तियो प्रस्तर खड के मुड के तीन टुकडे प्राप्त हुए है। लेप के आधार पर इन्हे मौर्य कालीन माना गया है। प्रस्तर के मुडो के ऐसे ही अनेक टुकडे भीटा और मथुरा मे भी मिले है।

इनके अतिरिक्त झिग के नगरा ग्राम (मथुरा जिला) मे यक्षिणी की मूर्ति, नोह ग्राम (भरतपुर जिला) में यक्ष की मूर्ति, बेसनगर (मध्य प्रदेश) मे यक्ष और यक्षिणियो की मूर्तिया, पवाया मे यक्ष की मूर्ति, राजघाट (वाराणसी) मे त्रिमुख यक्ष की मूर्ति, सोपारा मे यक्ष की मूर्ति आदि प्राप्त हुई है।[1]

पकायी गयी मृण्मूर्तिया भी मिली है। सारनाथ, भीटा और मथुरा, बसाढ, बुलदीबाग, कुम्हरार और अन्य स्थानो मे मृण्मूर्तिया भारी सख्या मे मिली हैं। इनमे से कुछ ऐसी भी हैं जिनके अलकरण और मुखाकृति यूनानी ढग की है।[2]

•

1. कुमार स्वामी, हिस्ट्री आफ इंडियन ऐंड इंडोनेसियन आर्ट, पृ० 19-21
2. कुछ विद्वान इन यक्ष मूर्तियो को शुंग कालीन मानते हैं।

अध्याय छह

शुंग-सातवाहनकालीन संस्कृति

शुंग काल ब्राह्मण संस्कृति के पुनरुद्धार का काल था। बौद्धधर्म का निवृत्ति-मार्ग ब्राह्मणो की दृष्टि मे समाज के लिए घातक था। युवा वर्ग, गृहस्थ वर्ग एव स्त्रियो का प्रव्रज्या ग्रहण करना समाज के लिए आपत्तिजनक था। दूसरी ओर सघ एक पवित्र सस्था थी, जो राजदड के क्षेत्र से बाहर थी। अत उसका लाभ उठाकर अनेक हत्यारे, ऋणी एव अभियुक्त सघ मे सम्मिलित हो जाते थे। अनेक आलसी लोग भिक्षु जीवन यापन करने लगे। इस प्रकार मर्यादा-विहीन निवृत्ति-मार्ग ने राष्ट्र के लिए भयावह स्थिति उत्पन्न कर दी थी। इसलिए ब्राह्मण व्यवस्था मे बौद्धधर्म द्वारा प्रचारित श्रमण विचारधारा का विरोध किया गया है और उस ब्राह्मण विचारधारा का विरोधी बताया गया है। मनु ने वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमो की अपेक्षा गृहस्थ आश्रम को श्रेष्ठ बताया है।

अशोक ने अहिंसा का प्रचार करके यज्ञो मे बलि देने की प्रथा को समाप्त कर दिया था, किंतु पुष्यमित्र शुंग ने सम्राट् होते ही यज्ञो का पुनरुद्धार किया।[1] उनके एक यज्ञ के पुरोहित स्वय महापडित पतजलि थे। अश्वमेध की पुर्नस्थापना शुंग काल मे ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठापना की सूचक है।

शुंग काल मे ब्राह्मण धर्म की उन्नति के साथ-साथ सास्कृतिक क्षेत्र मे भी खूब विकास हुआ। एक इतिहासकार का कथन है कि शुंगकालीन सस्कृति गुप्तकालीन सस्कृति की शैशवावस्था थी। शुंग सातवाहन राजाओ ने अशोक से पूर्ववर्ती मगध परपरा की अभिवृद्धि की थी। उन्होने अशोक की धर्मविजय के स्थान पर सैन्य सगठन किया। उन्होने उत्तर भारत के अधिकाश भाग पर अपना अधिकार जमाकर यवनो को परास्त किया। इसके साथ ही कला एव साहित्य को प्रोत्साहन दिया। यद्यपि सनातन धर्म की मर्यादा पुन प्रतिष्ठापित हुई और भागवत धर्म का प्रचार हुआ। ब्राह्मण राजाओ की नीति बौद्धधर्म के प्रति सहिष्णु न थी। भरहुत स्तूप पर अकित लेख के अनुसार उसे शुंगो के राज्य मे निर्माण किया गया। अब हम शुंगकालीन सस्कृति के विभिन्न उपागो का वर्णन करेंगे।

---

1 देखिये अयोध्या लेख।

सामाजिक स्थिति[1]

बौद्धधर्म के कारण देश की सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गयी थी। वर्णव्यवस्था के बंधन कुछ शिथिल पड गये थे। आश्रम व्यवस्था समाप्तप्राय थी क्योंकि लोग युवावस्था मे ही भिक्षु बनने लगे थे। शुंग-सातवाहन काल में इन प्रवृत्तियो के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। फलत: वर्णाश्रम व्यवस्था पुन:प्रतिस्थापित हुई। इस दिशा मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य **मनुस्मृति** के रचयिता ने किया। **मनुस्मृति**[2] मे शासन व्यवस्था, सामाजिक संगठन, आर्थिक सगठन, पारिवारिक जीवन आदि विषयो पर नियम दिये गये हैं। **याज्ञवल्क्य स्मृति**[3] में भी चारों वर्णों और चारो आश्रमो के आचार-विचार एव कर्त्तव्य-अधिकार आदि का विस्तृत विवरण है। धर्मशास्त्रो पर आधारित वर्ण-व्यवस्था पुष्ट रूप मे समाज में पचलित थी। परंतु सातवाहन युग के साहित्य और अभिलेखों से प्रतीत होता है कि आर्थिक दृष्टि से समाज वर्गों में विभक्त था, जिनका एक वर्ग राज्य के सर्वश्रेष्ठ पदाधिकारियो, अधिकारियो, सामन्तो और सरदारों का था। दूसरे वर्ग मे मध्यम श्रेणी के शासकीय अधिकारी, अर्धशासकीय अधिकारी और नागरिक थे। तृतीय वर्ग मे शिल्पी एवं व्यवसायी थे। समाज की सबसे छोटी इकाई परिवार थी। परिवार का प्रधान गृहपति कहलाता था।

मनु ने सामाजिक सगठन की आधारशिला ब्राह्मण धर्म को माना है। ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं। अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना, दान देना और लेना ब्राह्मणो के प्रमुख कर्त्तव्य है। शासन करना, युद्ध करना, प्रजा की रक्षा करना, विद्या एव शिक्षा का प्रसार के लिए धन का व्यय करना आदि तथा यज्ञ कराना, क्षत्रियों के कर्त्तव्य थे। पशुपालन, कृषिकार्य, ब्याज पर धन उधार देना और यज्ञ कराना वैश्यो के कर्तव्य थे। समाज की सेवा करना शूद्रो का कर्तव्य था। मनु के अनुसार वर्णव्यवस्था के भग होने से समाज दूषित तथा पतनोन्मुख हो जाता है।

आश्रम व्यवस्था पर मनु ने बल दिया है। चार आश्रम थे—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास। यह व्यवस्था द्विजो के लिए अनिवार्य थी।

इस युग मे ब्राह्मण धर्म तथा समाज के द्वार सबके लिए खोल दिये गये। विदेशियो के लिए भी हिंदू समाज मे प्रवेश दिया गया और उन्हें भी वर्ण

---

1. सपूर्ण समाज और धर्म की व्यवस्था इस युग मे निर्मित मनु स्मृति के आधार पर।

2. देखिये मनुस्मृति।

3. देखिये, याज्ञवल्क्य स्मृति।

4. इंडियन ऐंटीक्वेरी, 47, 149।

व्यवस्था मे स्थान दिया गया। फलत इस काल मे विदेशी जातिया भारतीय सामाजिक जीवन मे घुल-मिल गई। उदाहरणार्थ शको, यूनानियो और यूचियों के राजवशों को क्षत्रिय वर्ण मे सम्मिलित कर लिया गया। वे राजनीतिक शक्ति स्थापित करने मे भी सफल हो गये और उनमे मे कुछ वासुदेव कृष्ण और कुछ शिव के उपासक बन गये।

इस काल में अतर्जातीय एव वर्णांतर विवाहो का भी उल्लेख उपलब्ध है। सातवाहन राजा ब्राह्मण थे। उनके राजा शतकर्णि प्रथम ने क्षत्रिय वश की कन्या से और एक सातवाहन राजा, सभवत वासिष्ठी पुत्र पुलुमावी ने महाक्षत्रप रुद्रदामन की पुत्री मे विवाह किया था। स्त्रियो की स्थिति सतोषजनक थी। उनका सम्मान होता था। सातवाहन राजाओ मे उनके नाम के साथ माता का नाम जोडने की प्रथा थी यथा गौतमी पुत्र शातकोर्ण, वासिष्ठी पुत्र पुलुमावी। स्त्रियो को शिक्षा दी जाती थी। स्त्रिया धार्मिक एव राजनीतिक कार्यों में भाग ले सकती थी। रानी नयनिका ने अपने अल्पवयस्क पुत्र की सरक्षिका के रूप मे शासन चलाया था। इसके अतिरिक्त रानी गौतमी बलश्री विदुषी और धर्मपरायण थी। स्मृतिकारो ने स्त्रियो की स्वतत्रता पर कुछ अकुश लगा दिया था।

धार्मिक स्थिति

शुग-सातवाहन राजा ब्राह्मण थे, अत कर्मकाडी वैदिक धर्म का इस युग मे पुन उत्कर्ष हुआ। वैदिक देव मडल के इद्र, वरुण, सूर्य, चद्र आदि देवताओ के नाम प्राय तत्कालीन लेखो मे मिलते है। इसके अतिरिक्त यम, कुबेर, वासव आदि देवताओ का भी उल्लेख मिलता है। किंतु इस युग का ब्राह्मण धर्म प्राचीन वैदिक धर्म से कुछ भिन्न था क्योकि ब्राह्मणो ने स्वधर्म को लोकप्रिय बनाने के लिए आर्यो के निम्न वर्गों और अनार्यो के देवी, देवताओ को अपने धर्म मे मिला लिया था। फलत पूजा का स्वरूप परिवर्तित होने लगा। यज्ञो का प्राधान्य कम होने लगा तथा मदिरो एव मूर्तियो का निर्माण होने लगा किंतु अभी पूजा पद्धति सादी थी। मूर्तिया देवताओ की शक्ति की प्रतीक थी। भक्ति की भावना प्रबल होने लगी।

इस काल मे विष्णु की लोकप्रियता बढ रही थी। वासुदेव कृष्ण की उपासना का प्रचलन बढा। डॉ० भडारकर का कथन है कि तात्कालिक अभिलेखो मे उल्लिखित गोपाल, विष्णुदत्त, विष्णुपालित आदि नामो से वैष्णव धर्म के विकास का पता चलता है। इसी प्रकार दक्षिण मे शैव मत का विशेष प्रचलन था। भूतपाल, महादेवानंद, शिवदत्त, शिवघोष, शिवपालित, शिवमूर्ति, शिवदात, भवगोप आदि नाम शिव के नामो पर है। इस देवता की उपासना इस

देवता के साथ ही उसके वाहन नन्दि का भी धार्मिक महत्त्व था। नन्दि पर आधारित नाम मिले हैं यथा—नन्दिन्, ऋषभनक और ऋषभदात। इसी प्रकार स्कंदपालित और शिवस्कन्दगुप्त आदि नाम इस बात के सूचक हैं कि स्कंद भी उपासक थे। नागपूजा प्रचलित थी।[1] लिंग पूजा भी प्रचलित हुई। वैसे तो लिंग पूजा हड़प्पा-संस्कृति काल से चली आ रही थी किंतु आर्यों में उसका अधिक प्रचार इसी काल में हुआ। शिव को वैदिक देवता रुद्र से संबधित कर दिया गया। सूर्य पूजा का भी प्रचलन वैदिक काल से चला आ रहा था।

विदेशियों ने बौद्ध एव ब्राह्मण धर्म को ग्रहण किया और साथ ही उन्होंने हिंदू नाम भी धारण किये। कार्ले, जुन्नर और नासिक के गुहाभिलेखों में ऐसे अनेक नाम मिलते हैं।[2] हेलियोदोर, जो विदिशा के शुंग राजा भागभद्र के यहा ऐण्टिआलकिडस के राजदूत होकर आया था, वैष्णव था। इसने विदिशा मे एक गरुडस्तभ की स्थापना की थी। शक क्षत्रप रुद्रदामन ब्राह्मण मतावलबी था। इण्डो यूनानी सम्राट् मीनेण्डर ने बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया था और भारतीय साहित्य मे मिलिन्द नाम से प्रख्यात हुआ। ब्राह्मणो ने अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता बरती। उनमें से कुछ ने तो बौद्ध भिक्षुओं को दान दिये और उनके लिए गुफायें भी निर्मित कराई।

महायान धर्म

बौद्धधर्म के मतावलबियों मे आतरिक मत भेदों का श्रीगणेश तो पहले ही हो गया था। इस काल में बौद्धधर्म के अतर्गत एक नये सप्रदाय का उदय हुआ, जिसे महायान सप्रदाय कहते है। उसके समानातर बुद्ध की मूल शिक्षाओं पर आधारित सप्रदाय हीनयान सप्रदाय कहलाया।

इस युग मे महायान संप्रदाय का उदय हुआ। महायान सप्रदाय के विषय मे कुछ तथ्य ध्यान देने योग्य है—प्रथम, महायान सप्रदाय का उदय पश्चिमोत्तर भारत मे हुआ, जहा यूनानियों, पल्हव एव शक जातिया राज्य कर रही थी। इन सब जातियों ने बौद्धधर्म को ग्रहण किया किंतु अपनी प्राचीन रूढियो एव विश्वासो के अनुरूप भगवान बुद्ध की मूर्ति का निर्माण कर उसकी पूजा प्रारभ की। मौर्यों के पतनोपरात पाटिलपुत्र का महत्त्व राजनीतिक और धार्मिक दृष्टि से कुछ घट गया। गाधार के बौद्ध मठों ने नवीन विचारो को ग्रहण किया। शैव और वैष्णव धर्मों के प्रचार के कारण भक्ति की प्रधानता बढ़ गयी। बौद्धधर्म में भी भावुकता, सरसता और तन्मयता आ गयी। इसकी अपेक्षा पुराना बौद्धधर्म रूढिग्रस्त, कठिन और नीरस था। अस्थि अवशेषो के

1 इंडियन एण्टीक्वेरी, 1919, पृ० 77 और आगे।

2. वही, 1911, पृ० 15 और आगे।

ऊपर स्तूपो को स्थापित करने की अपेक्षा बुद्ध मूर्ति प्रतीक रूप में अधिक आकर्षक थी। पुराने बौद्धधर्म की अपेक्षा महायान धर्म सघोन्मुखी कम था, भावनामय अधिक था। इसमे भक्ति का रूप व्यक्तिगत अधिक था, सामूहिक नही। हीनयान सप्रदाय इसकी अपेक्षा अनुदार, कठोर एव सीमित था। महा-यान सप्रदाय के प्रमुख आचार्य नागार्जुन थे, उनके बाद आर्यदेव, असग, वसु-बधु आदि उद्भट विद्वानो ने महायान दर्शन एव साहित्य का सृजन किया। माध्यमिक योगाचार का दर्शन का उद्भव महायान से ही हुआ। महायानियो ने प्राकृत भाषा के स्थान पर सस्कृत भाषा को अपनाया। अश्वघोष, नागार्जुन, वसुमित्र आदि ने सस्कृत भाषा मे ग्रथ लिखे।

आर्थिक स्थिति

आर्थिक जीवन का मुख्य आधार कृषि और पशुपालन था। खेती हलो की सहायता से की जाती थी। भूमि कृषको की थी किंतु राजा उस भूमि का सर-क्षक माना जाता था। वह खेतिहरो से भूमि कर वसूल करता था। कृषि कार्यो मे राजा की ओर से हस्तक्षेप नही होता था।

सातवाहन काल मे दक्षिण मे सर्वत्र व्यवहृत सिक्के चादी और ताबे के 'कार्षापण' थे।[1] अभिलेखो मे दक्षिणा[2] और दान[3] के रूप मे कार्षापण दिये जाने का विवरण उपलब्ध है। एक अभिलेख से प्रकट होता है कि एक 'सुवर्ण' का मूल्य पैंतीस कार्षापण होता था।[4]

इस काल मे श्रेणियो और शिल्पियो के निकाय विद्यमान थे। नासिक गुफाओ के निकटस्थ गोवर्धन मे विभिन्न प्रकार के निकायो का उल्लेख है। ये निकाय तेलियो, जलयत्र का निर्माण करने वाले शिल्पियो, कुम्हारो और जुलाहो के थे। जुन्नर गुहा के निकट के नगर मे तीन निकाय थे[5]—प्रथम अन्न के व्यापारियो का निकाय, दूसरा बास का काम करने वालो का निकाय और तीसरा कासे के बरतन बनाने वालो का निकाय। इसके अतिरिक्त अन्य स्थानो मे भी अनेक निकाय रहे होगे। ऐसे अनेक निकायो का उल्लेख जातक साहित्य मे मिलता है। इमसे शिल्पियो के इन अनेक निकायो से आभास होता है कि भारत में स्वायत्त शासन सबधी सस्थाओ का बाहुल्य था। श्रेणिया केवल मात्र शिल्पियो

1 इन्हे चिह्नाकित (पचमार्क्ड) सिक्के भी कहा जाता है।
2 देखिये, नायनिका का नानाघाट अभिलेख।
3 देखिये उषवदात का नासिक अभिलेख।
4 एपिग्राफिया इडिका, 8,82 तथा आगे।
5. देखिये जुन्नर अभिलेख।

का निकाय ही नही थी वरन् वे आधुनिक बैंको का कार्य भी करती थी ।[1]

सातवाहन काल में विदेशी वाणिज्य और व्यापार समृद्ध अवस्था में था । इसमें दक्षिण भारत का महत्त्वपूर्ण भाग था ।[2] पाश्चात्य देशों से नौकायें लाल सागर होती हुई अरब के समुद्र तट पर आती थी, कुछ नौकाए सिंधु तक आकर भड़ौंच तक जाती थी और कुछ सीधे मलाबार के बदरगाहो में जाती थी । इस प्रदेश मे पैठन और तगर (निजाम राज्य) नामक दो व्यापारिक मंडिया थी ।[3] सोपारा और कल्याण महत्त्वपूर्ण बंदरगाह थे । कल्याण तो एक प्रसिद्ध मंडी भी थी । यज्ञश्री शातकर्णि के काल की सामुद्रिक शक्ति तथा वाणिज्य के विकास का ज्ञान उनके द्वारा चलाये गये ऐसे सिक्को से होता है, जिस पर जहाज, मछली इत्यादि अंकित है ।[4]

साहित्य और दर्शन

शुंग काल साहित्य के उत्कर्ष का काल था । इस काल में संस्कृत भाषा एव साहित्य की विशेष उन्नति हुई । प्रसिद्ध वैयाकरण महर्षि पतंजलि पुष्यमित्र शु ग का समकालिक था । उसने पाणिनि की **अष्टाध्यायी** पर महाभाष्य लिखा और इस प्रकार सस्कृत भाषा के नियमो को पुन प्रतिष्ठित किया । डॉ० काशी प्रसाद जायसवाल ने **मनुस्मृति** को शु ग कालीन रचना माना है । यह मत तर्कसगत प्रतीत होता है क्योंकि ब्राह्मण राज्य की स्थापना के साथ ही वर्णाश्रम धर्म के आधार पर समाज की नवीन व्यवस्था की गयी । इसका ज्ञान हमे **मनुस्मृति** से होता है । कुछ विद्वानो का मत है कि इसी काल में महाभारत का नवीन सस्करण तैयार किया गया और उसमे समाज की नवीन विचारधाराओं का समावेश किया गया । कुछ विद्वानों के अनुसार संस्कृत का प्रसिद्ध नाटककार भास इसी युग में हुआ । उसने अनेक नाटक लिखे जिनमे घटोत्कच, दूतकाव्य, उरुभंग और **स्वप्नवासवदत्ता** प्रसिद्ध है ।

दक्षिण के सातवाहन राजाओं मे भी साहित्य के प्रति अनुराग था । सातवाहन राजाओ ने ब्राह्मण होते हुए भी प्राकृत को बढाया और उसे राजभाषा का सम्मान दिया । हाल नामक एक सातवाहन राजा ने प्राकृत भाषा मे **गाथा-**

---

1. देखिये मजुमदार कृत, प्राचीन भारत में संघटित जीवन पृ० 37 और एपिग्राफिया इंडिका, 8,82 ।

2 देखिये पैरिप्लस आफ दि एरथ्र-सी ।

3 जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, 1901, 537 और आगे ।

4. सिरी यज्ञ सातकणिस देखिये जर्नल आफ न्यूमिस्मेटिक सोसायटी आफ इंडिया भाग 3, अंक 1,1941, पृ० 43 और आगे ।

सप्तशती नामक काव्य की रचना की। एक अन्य सातवाहन राजा के राजदरबार में गुणाढ्य नामक प्रसिद्ध कश्मीरी विद्वान् तथा लेखक रहता था। गुणाढ्य ने प्राकृत भाषा में **बृहत्कथा** नामक ग्रथ लिखा। इसी काल मे सर्ववर्मन् ने **कातंत्र** नामक एक ग्रथ (एक सस्कृत से अनभिज्ञ[1] आध्र राजा को सस्कृत सिखाने के लिए) लिखा।

शुंग-सातवाहन काल मे महायानी बौद्धो ने सस्कृत भाषा को अपनाया। नागार्जुन, वसुमित्र आदि दार्शनिक एव साहित्यकार इसी युग मे हुए। अश्वघोष का उल्लेख कुषाण काल के अतर्गत किया है। **वज्रसूची** नामक ग्रथ मे उन्होंने ब्राह्मणो की वर्णव्यवस्था का खडन किया है। नागार्जुन ने वेदो तथा ब्राह्मण ग्रथो का अध्ययन किया किंतु अतत उन्होने बौद्धधर्म ग्रहण करके महायान सम्प्रदाय के दार्शनिक के रूप मे ख्याति अर्जित की। वे महायान की माध्यमिक शाखा के प्रवर्तक थे। उन्होने बुद्ध के क्षणिकवाद को आगे ले जाकर शून्यवाद का प्रतिपादन किया। शून्यवाद की तुलना प्राय सापेक्षवाद से की जाती है। बौद्ध विद्वान नागसेन को दर्शनग्रथ **मिलिंद प्रश्न** भी इसी काल की रचना है। इससे बौद्धों के क्षणिकवाद के सिद्धात की स्थापना की गयी।

कला

शुंग-सातवाहन काल मे कला का पर्याप्त विकास हुआ। इस काल की कला की निम्नलिखित विशेषताए थी—

1 शुंगकाल से पहले अर्थात् मौर्यकाल मे इमारतो, स्तूपो आदि के निर्माण मे लकडी (चद्रगुप्त का राजप्रसाद लकडी का था), कच्ची ईंटो और मिट्टी का प्रयोग होता था, किंतु शुंगकाल मे उनके निर्माण मे पत्थर का प्रयोग किया गया।

2. मौर्यकालीन कला का विषय राजकीय एव धार्मिक था किंतु इसके विपरीत शुंगकालीन कला मे लोक जीवन के दर्शन होते है।[2] शुंगकालीन कलाकार का एकमात्र लक्ष्य मानव जीवन के ऐहिक स्वरूप का दिग्दर्शन है।[3]

3 शुंग कला भारतीय कला के विकास की एक कडी थी। मौर्यकाल में जिस स्तूप कला का श्रीगणेश हुआ वह शुंगकाल मे साची, भरहुत, बोधगया के स्तूपो मे विकसित हुई। अमरावती और नागार्जुनीकोण्डा के स्तूप भी महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त मौर्यकाल मे शैलोत्कीर्ण स्थापत्य कला का जन्म हुआ था, किंतु शुंगकाल मे यह कला भी पर्याप्त रूप मे विकसित हुई। इनमे कार्ले,

1 देखिये कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इडिया, पृ० 61।
2 डॉ० नीहार रजन रे कृत मौर्य ऐण्ड शुंग आर्ट।
3 कुमार स्वामी कृत इडिया ऐंड इडोनेशियन आर्ट।

भाजा, नासिक और अजन्ता की कलापूर्ण गुफाए उल्लेखनीय हैं। शुगकाल में मौर्यकालीन पाषाण स्तंभों की परपरा भी बनी रही। विदिशा के गरुडध्वज विशेष महत्त्वपूर्ण है।

4 शुगकाल तक बौद्धधर्म मुख्यत हीनयानी था। अत बौद्ध शिल्पकला में कही भी बुद्ध की मूर्ति का प्रदर्शन नही हुआ है। भगवान बुद्ध की उपस्थिति प्रतीको (धर्मचक्र, छत्र, पदचिह्न, स्तूप आदि) द्वारा प्रदर्शित की गयी है।

5. शुगकाल के प्रारभिक चरण मे स्थापत्य में पत्र, पुष्प लताका का प्रयोग अधिक किया गया है। मनुष्य और पशु आकृतिया भी इसी शैली में बनायी गयी। परिणामत अभिप्राय (रिलीफ) की आकृतिया उभर नही पायी है, किंतु शुगकाल के अतिम चरण में निर्मित कुछ मूर्तिया गहरी और उभरी होने के कारण स्वाभाविक लगती है।

कला के विभिन्न उपांग

इस काल की कला के तीन अग विशेष महत्त्व रखते है—गिरि गुहाए, मूर्तिकला और स्तूप।

गिरि गुहाएं

शुग सातवाहन काल में शैलकृत (पत्थर की चट्टानों को काट कर) गुहाओ का निर्माण हुआ जिनका विवरण निम्नलिखित है—

उदयगिरि-खडगिरि गुहाएं

उडीसा में (भुवनेश्वर से पाच मील उत्तर-पश्चिम) खडगिरि तथा उदयगिरि की पहाडिया है। खडगिरि की पहाडी मे 16 (नवगिरिगुम्फा, देवसभा, अनत-गुम्फा आदि) और उदयगिरि की पहाडी मे 19 (रानीगुम्फा, गणेशगुम्फा, हाथी-गुम्फा, व्याघ्रगुम्फा आदि) गुफाए हैं।

हाथीगुम्फा मे ई० पू० दूसरी शताब्दी के मध्य एक विस्तृत ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण है जिसमे कलिंगराज खारवेल के जीवन का वृतात है। इन गुफाओ का निर्माण खारवेल के समय जैन साधुओं के निवास से किया गया था। इन गुफाओ में रानीगुम्फा सबसे बडी है। इसमे दो तल है। प्रत्येक कक्ष में एक मध्यवर्ती कक्ष तथा आगन है। आगन के तीन ओर कक्ष है।

पश्चिम भारत की बौद्ध गिरि गुफाएं

पश्चिम भारत में सातवाहन और शकों के राज्यकाल में बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिए गिरिगुहाओं का निर्माण किया गया। पश्चिमी भारत की गिरि-गुहाओं का काल ई० पू० दूसरी शताब्दी से लेकर सातवी शताब्दी तक आका गया है। ई० पू० दूसरी शताब्दी से लेकर दूसरी शताब्दी ईसवी तक पश्चिमी भारत में हीनयान और तीसरी शताब्दी से सातवी शताब्दी तक महायान मत

का प्राबल्य रहा । पश्चिमी भारत मे काठियावाड की गुफाएं सर्वाधिक प्राचीन मानी जाती है । इसके बाद बबई के आस-पास की गुफाए आती है, जिनमें भाजा, कोडन, विदिशा, कार्ले और जुन्नर, नासिक, पीतलखोरा और अजंता की कुछ गुफाए प्रमुख है । तीसरा वर्ग कन्हेरी की गुफाओ का है ।

प्रथम वर्ग की गुहाए

1 **भाजा**—कार्ले मे चार मील दूर भाजा गुहाए है ।[1] भाजा वास्तुकेद्र के अतर्गत विहार, चैत्य और स्तूप आते है । विहार का मुखमडप लगभग 18 फुट लबा और लगभग 9 फुट चौडा है । अदर का मडप 16 फुट 7 इच लबा है । उसके तीनो ओर भिक्षुओ के निवास के लिए कक्ष निर्मित है । बिहार के अदर निर्मित कलात्मक प्रतिमाए बडी महत्त्वपूर्ण है । भाजा का चैत्यगृह बडा ही महत्त्वपूर्ण तथा उत्कृष्ट स्थापत्य का आकार-प्रकार प्रस्तुत करता है । यह 55 फुट लबा और 26 फुट चौडा है । इसके पास की वीथिका ढाई फुट चौडी है । चैत्यगृह मे स्थित स्तभ 11 फुट ऊचे है । भूमितल से महराब की ऊचाई 29 फुट है । अब भी समानान्तर पक्तियो मे काष्ठ की कडिया है । स्तूप ठोस चट्टान द्वारा निर्मित है । स्तूप के चारो ओर लकडी की वेदिका थी । चैत्य का द्वार अथवा कीर्तिमुख भी काष्ठ से सजा था । चैत्यगृह से थोडी दूरी पर 14 स्तूपों का एक समूह है । स्तूपो के अड के ऊपरी भाग पर वेदिका निर्मित है ।

2 **कोडन**—कार्ले चेत्य गुहा से दस मील उत्तर की ओर कोडन बिहार और चैत्यगृह स्थित है। विहार का वास्तुविशेष महत्त्व रखता है ।[2] बीच मे स्तभो पर आधारित बडा मण्डप है जिसके तीन ओर भिक्षुओ के निवास के लिए कक्ष है । यहा के चैत्य का मुखपट्ट पूर्णरूपेण भाजा के चैत्य की भाति है, जिसमे स्तभ युक्त मुखमडप है । कुछ स्तभ चट्टान काटकर बने है । अदर के गर्भगृह का आकार 66 फुट लबा और 26 फुट 6 इच चौडा है ।

दूसरे वर्ग की गुहाए

3 **पीतलखोरा**—पीतलखोरा की गुहाए (जिनकी सख्या 13 है) शत-माला नामक पहाडी पर अजता से दक्षिण-पश्चिम 50 मील की दूरी पर स्थित है ।[3] प्रमुख चैत्यगृह भाजा और कोंडन की ही तरह का है । ऊपर की महराब मे लकडी की कडिया थी किंतु अब उनके चिह्न मात्र शेष है । इस चैत्य लकडी का प्रयोग घट गया और उसके स्थान पर पत्थर का प्रयोग बढा ।

---

1 देखिये बर्गेस, बुद्धिस्ट केव टेम्पल्स ।

2. वही, पृष्ठ 8 और आगे ।

3 बर्गेस, वही, पृ० 12 आगे ।

4 **अजंता** अजंता की वास्तुकला का विकास ई० पू० दूसरी शताब्दी से ईसा की सातवी शताब्दी तक हुआ । प्रारभ से लेकर दूसरी शताब्दी तक यह हीनयान मत और चौथी से कर सातवी शताब्दी तक यह महायान मत का केंद्र रहा । अजता मे सब मिलाकर 29 गुहाएं है जिसमें 4 चैत्यगृह और 25 बिहार है ।

अजंता की गुहा सख्या 10 का चैत्यगृह सबसे प्राचीन है । इसकी तिथि ई० पू० दूसरी शताब्दी आकी गयी है । यह 96 फुट 6 इच लबा, 41 फुट तीन इच चौडा ओर 3 · फुट ऊचा है । चैत्यगृह का मध्य भाग 59 सादे अष्ट-कोणीय स्तभो के द्वार वीथिका से पृथक् होता है । इसमें भी लकडी की कडिया थी जिनके अब अवशेष मात्र दृष्टिगत हैं । अर्धवृत्त में स्थित स्तूप अलकृत है । अन्य चैत्यो की भाति इसमे भी लकडी का मुखपट्ट है ।

अजता की गुफा संख्या 9 का चैत्यगृह पहले से छोटा है और इसके मुखपट्ट मे लकडी का ढाचा नही है । इसके मुखपट्ट के बीच मे एक तोरण द्वार और दोनो पाश्वों मे खिडकिया है । इसके ऊपर सगीतशाला है और उसके ऊपर चैत्य-गृह का सर्वोत्कृष्ट भाग चैत्यवातायन है, जिसके द्वारा चैत्य मे प्रकाश और वायु का प्रवेश होता है ।

अजता के विहारो मे सबसे पुरानी गुहा सख्या 12 है, जो चैत्यगृह सख्या 10 से सबधित है । यह वास्तुकला का सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करता है । अदर का मडप 38 फुट वर्गाकार है जिसके दोनो ओर स्तभो की कतारें है । मडप के तीनो ओर चार-चार कक्ष है । इसके बाद गुहा सख्या 13 का निर्माण हुआ । चैत्य गुहा सख्या 9 और विहार सख्या 8 का निर्माण साथ-साथ हुआ । यह गुहा हीनयान मत से सबधित है ।

5 **बेदसा** बेदसा का चैत्यगृह आकार मे छोटा है । इसकी विशेषता यह है कि इसमे काष्ठ की अपेक्षा पत्थर का प्रयोग अधिक हुआ है । यहा चैत्य द्वार की जाली भी पत्थर की है । स्तभ सीधे है किंतु थोडे अदर की ओर ढालू है । द्वार के पाखे समानातर है । यहा के द्वार मडप की प्रमुख विशेषता यह है कि उसमें दो विशालकाय स्तभ है, जिनमे एक ओर हय-संघाट और दूसरी ओर गज-सघाट निर्मित है । मुखपट्ट का धरातल सलाका वातायन और जालक वातायन से ढका हुआ है । चैत्यगृह के अंदर का आकार 45 फुट 6 इच लंबा और 21 फुट चौडा है । महराबदार छत की धन्निया पहले लकडी की थी किंतु बाद में वे पत्थर की निर्मित की गई । स्तंभों और स्तूप पर चित्रित फ्रेस्को पेंटिंग के चिह्न अब भी दृष्टिगत है । इस चैत्यगृह के निकट ही आयताकार विहार है । मडप

के तीनो ओर चौकोर कक्ष है ।[1]

6 **कार्ले** कार्ले में एक विशाल चैत्यगृह और तीन विहार है । कार्ले की चैत्यगुहा बबई, पूना सडक से दो मील उत्तर की ओर स्थित है । यहा का चैत्य-गृह अत्यत सुदर है और हीनयान चैत्यगृहो मे सर्वोत्कृष्ट है ।[2] इसमे वास्तु एव शिल्पकला अपनी पूर्णता पर पहुँच गयी है । इसके द्वार मडप पर अकित एक अभिलेख के अनुसार यह चैत्यगुहा सपूर्ण जबूद्वीप उत्तम है । कार्ले के चैत्यगृह के प्रमुख अग है 1 सिह शीर्ष स्तभ सहित दो उत्त ग स्तभ, 2 स्तभो पर आधारित दुमजिला मुखमडप, 3 काष्ठ निर्मित सगीतशाला, जो मुखमडप के मध्य मे उभरी हुई है 4 द्वार मडप के पीछे की दीवार मे एक विशाल चैत्य वातायन, 5 मडप का मध्य भाग, 6. पार्श्व में स्थित दो लबी वीथिकाए (प्रदक्षिणा पथ), 7 अर्द्धचन्द्राकार रूप मे चैत्य का छोर, 8 गर्भगृह के बीचोबीच मे स्थित स्तूप, 9 37 स्तभो की दो पक्तिया (15-15 स्तभ दोनो ओर पक्तियो मे है और सात गर्भगृह के चारो ओर है), 10 सकलश महराबदार छत, 11 छत के नीचे लकडी की धन्निया, 12 चैत्यगृह के अदर और बाहर अकित अनेक अभिलेख ।[3]

चैत्यगृह के मध्य मे एक विशाल मडप है जो स्तभ पक्तियो के द्वारा वीथियो को पृथक् करता है । मडप 124 फुट लबा और वीथियो सहित 45 फुट 6 इच चौडा है । यहा की वीथिया अन्य चैत्यो की अपेक्षा अधिक विशाल और सुदर है । अर्द्धचद्राकार वृत्त गर्भगृह का रूप धारण करता है । इसी के मध्य मे स्तूप स्थित है, जिसका अड दो भागो मे विभक्त है । दोनो भाग वेदिका द्वारा मेखला धारण किये हुए है । स्तूप के ऊपर हर्मिका स्थित है, जिसके चारो ओर वेदिका है । बीच मे काष्ठ का छत्र है । चैत्यगुहा के अदर 37 शिलायुक्त स्तभ है, जो एक माला के रूप मे है । इन स्तभो का आधार पूर्ण घट है जो चौकियो पर रखे है । स्तभो के बीच का भाग अष्टकोणीय है और शीर्ष औधे पात्र की भाति है । इसके ऊपर शीर्षफलक के रूप मे शीर्षस्तंभ है, जो दो गज-सघाटो पर आधारित है । गाजो पर दम्पत्ति मूर्तिया आसीन है । चैत्य की ऊचाई नीचे से ऊपर तक 45 फुट है ।

7. **जुन्नर** . पूना से 48 मील उत्तर की ओर जुन्नर के लगभग 150 शैल-गुहाए है, जिनमे 10 चैत्य और शेष विहार है। ये गुहाए ई० पू० दूसरी शताब्दी

---

1. बर्गेस, वही, पृ० 22, 23 ।
2 वही, पृ० 23 और आगे ।
3 एक अभिलेख मे उषवदात के दामाद नहपान का उल्लेख है ।

से ईसा के प्रथम शताब्दी तक के काल की आकी गयी है। यहा के वास्तु में मूर्तिया नही है। यह हीनयान सप्रदाय का केद्र था।[1]

कुछ चैत्यगृह आयताकार हैं जिनकी छतें सपाट और मडप स्तभ रहित है। एक चैत्यगृह गोल आकृति का है ऐसी आकृति का चैत्यगृह पश्चिमी भारत मे नही मिलता। अधिकाश गुहाए सादी है। केवल कुछ गुहाओ मे श्री लक्ष्मी, कमल, गरुड, सर्प आदि का अलकरण दृष्टिगत होता है। जुन्नर से पश्चिम दो मील की दूरी पर कुल्या नामक एक गुहा समूह है। जुन्नर के चारो ओर तोरण सहित वेदिका थी।

8 **नासिक** नासिक का प्राचीन नाम 'नासिक्य' है। यह गोदावरी के तट पर स्थित है। ई० पू० दूसरी शताब्दी में यह बौद्धधर्म का केंद्र था। यहा 17 गुहाएं है, जिसमे केवल एक चैत्यगृह और शेष विहार है।[2] यहा के प्रारंभिक विहार हीनयानी है। पहला विहार नहपान, दूसरा गौतमीपुत्र शातर्कणि और तीसरा यज्ञश्री शातर्कणि के काल का है। चैत्गृह जो पाण्डुलेण कहलाता है, का निर्माण ई० पू० प्रथम शताब्दी मे हुआ था। भीतरी मडप के स्तभ सीधे है। मुखमडप दुतल्ला और अलकृत है, जिस पर अनेक ब्राह्मी लेख उत्कीण है।

मूर्तिकला

जिस समय दक्षिण भारत मे गिरिगुहाओ की परपरा चल रही थी, उसी समय उत्तरी भारत में मूर्तिकला की दो शिल्पशैलियों का विकास हो रहा था। एक शिल्पशैली का केद्र था मथुरा और दूसरी शिल्पशैली का केंद्र था गाधार। प्रथम मथुरा शैली और दूसरी गाधार शैली के नाम से विख्यात हुई। दोनो शैलियों मे बुद्ध की पृथक्-पृथक् मूर्तियां निर्मित हुई।

मूर्तिकला की मथुरा और गाधार शैली का प्रारभ

ई० पू० प्रथम शताब्दी के लगभग मथुरा मे मूर्तिकला की एक विशेष शैली का जन्म हुआ, जिसे मथुरा शैली कहते है। मथुरा के कलाकार बलुए लाल पत्थर का प्रयोग करते थे। प्रारभ मे उनको जैनधर्म से विशेष प्रेरणा मिली. अत उन्होने पद्मासन मे ध्यानमग्न बैठे हुए दिगम्बर तीर्थंकरो की सुदर मूर्तिया बनवाई। किंतु मथुरा शैली की यक्षणियो की मूर्तिया सबसे उत्कृष्ट है जो एक स्तूप की वेष्टणी पर अकित थी। इन मूर्तियो की कामुकतापूर्ण भावभंगिमा उत्कृष्ट है। यह बात उल्लेखनीय है कि भरहुत, साची और बोधगया मे बुद्ध की मूर्तियो का अभाव है। केवल पदचिह्न, चक्र, रिक्त सिंहासन और पीपल का वृक्ष आदि प्रतीको के द्वारा उनको उपस्थिति को प्रदर्शित किया गया है। मथुरा

1. बर्गेस, वही, 26 और आगे।
2. वही, पृ० 37 और आगे।

के कलाकारो ने कुषाण काल मे प्रथम बार बुद्ध और बोधिसत्वो की प्रतिमाओं का निर्माण प्रारभ किया।

पेशावर (अब पाकिस्तान) के आसपास के प्रदेश मे, जो गाधार नाम से विख्यात है, ई० पू० प्रथम शताब्दी मे मूर्तिकला की एक विशिष्ट शैली का जन्म हुआ, जिसे गाधार शैली कहते है। इस शैली का उत्कर्ष उस समय हुआ जब उक्त प्रदेश से बैक्ट्रिया के यूनानियो की सत्ता समाप्त हो चुकी थी। इस कला मे विषयवस्तु भारतीय रही किन्तु उन भावो की अभिव्यक्ति ग्रीक शैली मे की गयी। गाधार कला का वास्तविक विकास कुषाण काल मे हुआ और उसका विस्तृत विवेचन कुषाण काल के अतर्गत किया गया है।

शुग काल की मृण्मय मूर्तिया भी बहुत प्रसिद्ध है। कौशाबी मे इस काल की अनेक मृण्मय मूर्तिया मिली है। खडी नारी मूर्ति के बहुसख्यक ठीकरे प्राप्त हुए है। कुछ मूर्तियो पर ऐतिहासिक कथाओ के अनेक चित्र भी मिले है। उदयन का वासवदत्ता अपहरण चित्र भी मिला है। मृण्मय चित्रो मे पुष्पो का प्रचुर प्रयोग किया गया है।

स्तूप

शुग राजाओ के शासन काल मे भरहुत, साची और बोधगया के प्रसिद्ध बौद्ध स्तूपो का सस्कार हुआ है। इन स्मारको मे अनेक नवीन अंगो का सयोजन हुआ है।

भरहुत का स्तूप सर एलेक्जेंडर कनिघम ने 1873-74 मे भरहुत (सतना जिला, मध्यप्रदेश) मे एक स्तूप (जो पूर्णत नष्ट हो गया था) की वेदिका और तोरण द्वार ढूढ निकाले जो अब सग्रहालय मे सुरक्षित है। कुछ अन्य अवशेष भारत तथा विदेश के सग्रहालयो मे सुरक्षित है।[2]

मूल स्तूप का निर्माण मौर्य सम्राट् अशोक ने कराया था। शुगकाल (ई० पू० दूसरी शताब्दी मे) मे इसका विस्तार हुआ और स्तूप के चारो ओर पत्थर की एक परिवेष्टिनी (वेदिका और चार तोरण द्वारो का निर्माण कराया गया।[3] परिवेष्टिनी के एक द्वार के लेख मे 'सुगन रजे' मिलता है।[4] स्तूप तथा परि-के बीच 10 फुट 4 इच चौडा प्रदक्षिणा पथ था। वेदिका काल मे 7 फुट 1 इच ऊचे 80 स्तभ थे। जिनके ऊपर रखे हुए उष्णीषो की लबाई कुल मिला कर 330 फुट थी वेदिका मे स्तभो के मध्य सूचियो, और तोरण द्वारो के दोनों

1 इसका विवरण कुषाण संस्कृति के अतर्गत किया गया है।

2 कनिंघम, स्तूफ आफ भरहुत।

3 एस सी काला भरहुत वेदिका।

4 शुगो के राज्य मे।

ऊंचे स्तंभो पर तीन समातर बडेरियां है। तोरण द्वारों के स्तभ अठपहलदार तथा चौपहलदार है जिनके शीर्ष पर सिंह और वृषभ प्रदर्शित है।

भरहुत से प्राप्त अवशेषों तथा शिलाओ पर उत्कीर्ण आकृतियो से विशाल स्तूप के स्वरूप का आभास होता है। यह स्तूप घटाकार था। स्तूप के अड के ऊपर यष्टि और छत्र सहित चौकोर चौकी थी। पूर्वी तोरण द्वार पर उत्कीर्ण लेख से उनके निर्माण के इतिहास का पता चलता है।

भरहुत के तोरण द्वारो, स्तभों सूचियो एव उष्णी पर सुंदर शिल्पयुक्त चित्रण उपलब्ध है, जिनमे प्राकृतिक दृश्यो, जातको की कहानियाँ तथा लोक जीवन का सफल चित्रण है। इसके अतिरिक्त लताओ, वृक्षो पशु-पक्षियो तथा यक्ष-यक्षणियों का भी अकन किया गया है। प्रमुख दृश्यो में माया देवी का गर्भ धारण करना, धर्म यात्राएँ, पूजा दृश्य, देवी देवताओ के दृश्य, अजातशत्रु की धार्मिक यात्राओ के दृश्य, सुदत्त द्वारा जेतवन को क्रय करने का दृश्य आदि उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त कुछ हास्य व्यग्य के दृश्य है, यथा बंदर का जगली हाथी को पकडना और बदर तथा हाथी द्वारा यक्ष को सहायता देना। दैनिक जीवन के विविध अगो का समुचित दिग्दर्शन किया गया है।[1] लगभग दो दर्जन जातक कथाओ के दृश्य भरहुत कला मे अकित है। यहाँ बुद्ध के प्रतीको का अकन है, उनकी मानव प्रतिमा का नही।

सर एलेक्जेंडर कनिंघम ने सर्वप्रथम साची और उसके आसपास स्मारको की खोज की थी।[2] मौर्य सम्राट् अशोक ने यहाँ एक स्तूप और एकाश्म स्तभ का निर्माण कराया था। ई० पू० दूसरी शताब्दी के मध्य मे शु ग राजाओं के शासन काल मे यहाँ अनेक नवीन वास्तु का निर्माण और जीर्णोद्धार का बहुत काम हुआ है, यथा प्रथम अशोक के स्तूप का सवर्द्धन और उस पर पत्थर की शिलाओं का आवरण, दूसरे इस स्तूप का मूल, पीठ, सोपान मार्ग और हर्मिका के चारो ओर वेदिका का निर्माण, तीसरे मदिर सख्या 40 का पुनर्निर्माण और चौथे वेदिकाओ सहित स्तूप सख्या दो और तीन का निर्माण। पाँचवें, सातवाहन राजाओं के शासन काल मे स्तूप सख्या 1 और 3 मे सजावट के तौर पर उत्कीर्ण अलकारो वाले तोरण द्वार निर्मित किये गये।[3]

स्तूप संख्या एक

वर्तमान स्थिति में विशाल स्तूप के निम्नलिखित अग है—चोटी पर त्रिगुण छत्रावली से सुशोभित अर्द्धगोलाकार अड, चौकोर वेदिका से वेष्ठित एक भारी

1. बेनी माधव बरुआ, भरहुत और वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला।
2 देखिये कनिंघम कृत भिलसा टोप्स पृ० 5–9।
3 श्रीमती देवला मित्र, साची पृ० 3-4।

चौपहल संदूक (हर्मिका) स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणार्थ ऊँची मेधि, जहाँ पहुँचने के लिए दक्षिण की ओर सोपानो की दो शृखलाएँ है, स्तूप के मूल में पृथ्वी की सतह पर वेदिका से घिरा हुआ प्रदक्षिणा पथ, जिसमें प्रवेश के लिए चारों दिशाओ मे अलकृत तोरण द्वार है। स्तूप का व्यास 120 फुट और अड की ऊँचाई 54 फुट है।[1]

स्तूप के चारो ओर वेदिका और तोरण द्वारो का निर्माण द्वितीय शताब्दी ई० पूर्व के उत्तरार्द्ध मे हुआ। वेदिका स्तभो और सूचियों से निर्मित है। स्तंभो को समान अंतर पर गाडकर, इनके दोनो पार्श्वों मे छिद्र किये। इन छिद्रों मे चूलो वाली सूचियों को बिठाया गया है। वेदिका के सिरो पर भारी सिर दल उष्णीष रखे है। पीठ के बाह्य और माथो और सीढियो की वेष्टिनियो पर एक पूर्ण और दो आधे फुल्ले कोरे गये है। इनके बीच पुष्प तथा पशु आकृतियाँ निर्मित है। इसके विपरीत स्तूप की सबसे नीचे वाली वेदिका और हर्मिका वेदिका सादी है। मूल की वेदिका तोरण द्वारो द्वारा चार भागो मे विभक्त है। पूरी योजना देखकर लगता है कि पत्थर की वास्तुकला में लकडी की वस्तुकला की रूढियो का प्रयोग हुआ है।

एक तोरण द्वार पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार सातवाहन राजा सातकर्णि के स्थपति ने उसका निर्माण कराया था। तोरण द्वार अपनी कलात्मकता के लिए प्रसिद्ध है। प्रत्येक तोरण द्वार में दो चौपहल स्तभ लगे है, जिनके शिखर पर चार सिंह, चार हाथी अथवा चार बौने (कीचक) अपने खोपडी पर कुंडलाकार किनारों वाली तीन वक्र बडेरियो को उठाये हुए दिखाये गये हैं। चार चौकोर ब्लाको से व्यवहित बडेरियो के बीच तीन तीन स्तभ और इनके मध्य रिक्त स्थान में हाथियो और अश्वो पर आरूढ मनुष्य निर्मित है। स्तभों के शीर्षको की चौकियो के अदर की ओर बढी हुई शालभजिकाओ की मूर्तियाँ है जो सबसे नीचे की बडेरियों को अपने सिर पर उठा रही है। सबसे ऊपर वाली बडेरी के मध्य में तोरण द्वारो पर धर्मचक्र और अलकृत त्रिरत्न के लक्षण है। धर्मचक्र के दोनो ओर चामर लिये हुए यक्ष मूर्तियाँ हैं। त्रिरत्न बुद्ध, धर्म और सघ का प्रतीक है। तोरण द्वारो के रिक्त स्थान पर उभरवाँ उकेरी मे अनेक दृश्य और अलकरण दिखाये गये है। तोरण द्वारो पर उत्कीर्ण अलंकरण अभि-प्राय (रिलीफ) निम्नलिखित वर्गों मे विभक्त है—

1. **जातक कथाओं का दृश्य :** जातक कथाएँ बुद्ध के पूर्व जन्मो से संबंध रखती हैं। भरहुत की अपेक्षा साची के तोरणो पर जातक कथाओं के कम चित्र हैं। साची के तोरण पर केवल पाँच जातक कथाओ के चित्र पहचाने गये

---

1. देखिये सर जान मार्शल कृत दि मानूमेण्ट्स ऑफ साची, भाग 1।

हैं—छदंत जातक (संख्या 514), महाकपि जातक (संख्या 407), वेस्संतर जातक (संख्या 547), अलबुसा जातक (संख्या 523) और साम जातक (संख्या 540) ।

2 **बुद्ध के जीवन की घटनाएँ** बुद्ध के जन्म का संकेत कमल और कमल पर खडी या बैठी स्त्री मूर्ति से किया गया है, जिसे कुछ मे हाथी स्नान करा रहे है । संबोधि का प्रदर्शन अश्वत्थ वृक्ष के नीचे वज्रासन में किया गया है । बुद्ध के प्रथम प्रवचन (धर्मचक्र प्रवर्तन) का निर्देश स्तभ पर प्रतिष्ठित चक्र से किया गया है । बुद्ध के परिनिर्वाण का लाक्षणिक प्रदर्शन स्तूप से किया गया है । बुद्ध की अन्य घटनाओ में से निम्नलिखित का सफल अंकन हुआ है । माया का स्वप्न और गर्भ धारण करना, रथ यात्रा, महाभिनिष्क्रमण, बुद्ध के केशों की पूजा, सुजाता की भेंट, मार द्वारा प्रलोभन और चमत्कार, कपिलवस्तु मे आगमन, श्रावस्ती का चमत्कार, साकाश्य का चमत्कार और बदर द्वारा बुद्ध को मधु की भेंट आदि आदि ।

3 **बौद्धधर्म के इतिहास की घटनाएँ** इनमे धातुओं (अस्थ्यवशेषो) का बटवारा, रामग्राम का स्तूप[1] और बोधि द्रुम के दर्शन के लिये अशोक का आगमन का सफल चित्रण हुआ है ।

4. **मानुषी बुद्ध** साँची के कलाकारो ने बुद्ध से पहले के छ मानुषी बुद्धों को साकेतिक रूप से सामूहिक और व्यक्तिगत रूप मे दिखाया है ।

5 **विविध दृश्य और अलंकरण** . इन दृश्यो मे कुछ ऐसे है जो बुद्ध के जीवन की किसी ज्ञात घटना से सबध न रखने पर भी धार्मिक महत्त्व के अवश्य है । जैसे बुद्ध के प्रतीक रिक्त सिंहासन या स्तूप की पूजा न केवल मनुष्य और देवता ही वरन् पशु भी करते है । इसके अतिरिक्त कुछ सासारिक दृश्य है जिनमें स्त्री–पुरुष स्वच्छंद बिहार करते हुए दिखाये गये है । कुछ नयनाभिराम पुष्पो के अभिप्राय है, जिन्हे बडी कुशलता एव कोमलता से उकेरा गया है ।

स्तूप संख्या दो

यह स्तूप प्रथम स्तूप से उत्तर–पूर्व से लगभग 50 मीटर की दूरी पर स्थित है । यह छोटा स्तूप है जिसका व्यास 49 फुट छ इच है और जो चबूतरे पर स्थित हैं । इसके भीतर कुछ बौद्धाचार्यों एव धर्म प्रचारकों के अस्थि अवशेष हैं । इनकी बनावट प्रथम स्तूप की भाँति हैं । स्तूप के चारों ओर मूल की वेदिका

---

1 कहा जाता है कि प्रारंभ मे आठ स्तूपों को अशोक ने खुलवाया था और उनमें से बुद्ध के अवशेष निकालकर असंख्य स्तूपों का निर्माण कर उनमें सुरक्षित कराया था परतु रामग्राम के स्तूप के धातु नागों के आकार में होने के कारण अशोक को न मिल सके थे ।

पर कमल के पुष्प कोरे गये है। इस स्तूप पर केवल एक ही छत्र चढ़ा था। सोपान, पीठ और हर्मिका की वेदिकाओ सहित यह वास्तु स्तूप सख्या 1 के पुर्ननिर्माण के बाद निर्मित हुआ था (ई० पू० दूसरी शताब्दी)। तिथि का समर्थन उत्कीर्ण लेखो से होता है। इसपर निर्माण उभारदार चित्र स्तूप संख्या एक पर बने चित्रों से बहुत कुछ मिलते जुलते है।

स्तूप संख्या तीन

यह स्तूप सख्या 1 के उत्तर पूर्व की ओर स्थित है। इसका महत्त्व यह है कि कनिंघम को इस स्तूप में बुद्ध के प्रमुख शिष्य सारिपुत्र और मौद्गलायन की अस्थियाँ प्राप्त हुई थी। इस स्तूप का व्यास 49 फुट 6 इच और ऊँचाई 35 फुट 4 इच है। इस स्तूप मे केवल एक द्वार है। इसका निर्माण ऊपर उल्लिखित स्तूपो के बाद मे हुआ था। मुख्य कलाकृतियो मे माला पहने यज्ञ, नागराज, गज-लक्ष्मी और देवसभा के दृश्य उल्लेखनीय हैं।

अर्द्धवृत्तीय मंदिर

साची मे शु ग-सातवाहनकालीन दो मदिरो के (सख्या 18 और 40) अवशेष प्राप्त हुए है। इनकी कला कार्ले के शैलगृहो की तरह है।

बोधगया

बोधगया बौद्धधर्म के महान् केद्रो और तीर्थस्थलो मे से है। प्रारभ मे यहाँ एक स्तूप था, जो नष्ट हो गया है। शु ग-सातवाहन-कालीन परिवेष्टनी के अवशेष आज भी सरक्षित है। यह वेदिका भरहुत-साची की वेदिका के समान हैं। बोधगया का वास्तु भरहुत की प्रारभिकता और साची की परिपक्वता की पराकाष्ठा की कडी लगता है।

बोधगया की वेदिका पर ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण है। वेदिका में कुल 64 स्तभ थे। (ऊँचाई छ फुट आठ इंच)। स्तभो के नीचे दो फुट 2 इच का आधार और ऊपर 1 फुट 2 इच ऊँचे उष्णीष थे, जिन पर कमल पुष्पो के सुदर अलकरण है। वेदिका पर जातक कथाओ और बुद्ध के जीवन के कतिपय दृश्य उत्कीर्ण हैं। इसके अतिरिक्त शिलापट्टो पर गजलक्ष्मी, मिथुन, कल्पवृक्ष, चक्र, यक्ष-यक्षिणी और गधर्व आदि के चित्रण हुए है। सिंह, अश्व, हाथी, मकर, नरमत्स्य आदि का सजीव चित्रण हुआ है। भरहुत की अपेक्षा बोधगया की कला अधिक विकसित है। यहाँ की आकृतियाँ भावपूर्ण है, उनमें गहराई, उभार स्पष्टता और सबद्धता अधिक है।

अध्याय सात

कुषाण कालीन संस्कृति

कुषाण[1] साम्राज्य का सर्वाधिक प्रतापी एव शक्तिशाली सम्राट् कनिष्क प्रथम था। कनिष्क के काल मे देश का पर्याप्त सास्कृतिक उत्थान हुआ—धर्म, साहित्य और कला के क्षेत्र मे नवीन तत्त्वों ने जन्म लिया और भारतीय सस्कृति पर अपना प्रभाव डाला। महायान मत का उदय बुद्ध की मूर्ति का निर्माण आदि ऐसे ही तत्त्व है। कुषाण सस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इस पर विदेशी सस्कृतियो की छाप है। भारतीय सस्कृति मे समन्वय की अपूर्व क्षमता है। इसी समन्वय भावना के कारण ही कुषाण काल मे भारत का संपर्क मध्य एशिया और पूर्व एशिया से बहुत अधिक बढ गया। कुषाण काल मे भारत का विदेशी व्यापार उन्नत अवस्था मे था।

कुषाण काल भारतीय, ईरानी, रोमन और चीनी सस्कृतियों का सगम काल था। "कनिष्क के विषय मे यह प्रसिद्ध है कि वह बहुत बडा निर्माता और कला का पुजारी था। यद्यपि वह स्वय बौद्ध था किंतु उसकी प्रजा मध्य एशियायी, यूनानी, सुमरियायी, ईरानी और भारतीय देवताओ की पूजा करती थी और उन सबका सम्मान करता था।"[2] इस कथन से स्पष्ट है कि कुषाण सस्कृति भारतीय सास्कृतिक इतिहास मे समन्वयवादी सस्कृति है।

भाषा और साहित्य

कुषाण काल में भाषा सस्कृत और प्राकृत थी। प्राय सभी साहित्यिक कृतियाँ सस्कृत मे लिखी गयी। कई स्थानो में अभिलेख एवं मुद्रालेख प्राप्त हुए है। उनमें कुछ की भाषा प्राकृत है और कुछ की संस्कृत। अधिकाश ब्राह्मी लिपि में है और थोडे से खरोष्ठी में।

डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी के अनुसार "यह युग महती साहित्यिक क्रिया-

---

1. चीनी सूत्रों के अनुसार कुषाण मध्य एशिया की घुमक्कड यूची जाति के लोग थे। यूची लोग मूलत. चीन के कानसू नामक प्रात मे रहते थे जो कालातर में भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमात क्षेत्र मे आकर बस गये थे और अपना साम्राज्य स्थापित किया था। यों कुषाण राजाओं की तिथि विवादपूर्ण है।

2. बी० जी० गोखले, प्राचीन भारत, पृ० 50 और आगे।

शीलता का युग था। इस युग की साहित्यिक क्रियाशीलता की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसका रूप एकागी नही था। इस समय केवल विशुद्ध साहित्यिक ग्रथो की रचना ही न हुई वरन् दर्शन शास्त्र एव चिकित्सा विज्ञान पर भी ग्रथ लिखे गये।"[1] वास्तव मे यह साहित्य चेतना का युग था। कुषाण सम्राट् कनिष्क विद्यानुरागी एव साहित्य का उदार सरक्षक था। इस काल मे अनेक विद्वान हुए। अश्वघोष, नागार्जुन, वसुमित्र, माठर और चरक आदि इसी युग की विभूतियाँ है। कनिष्क की राजसभा का सबसे महान् विद्वान् अश्वघोष था। वह सफल कवि, दार्शनिक, लेखक और नाटककार था। उसका **बुद्धचरित** प्रसिद्ध महाकाव्य है। दूसरा प्रसिद्ध काव्य ग्रथ **सौंदरानंद** है। उसका प्रसिद्ध नाटक **सारिपुत्रप्रकरण** है। दूसरा प्रख्यात विद्वान् दार्शनिक और वैज्ञानिक नागार्जुन था। वह महायान सप्रदाय का समर्थक था। वह बौद्धधर्म के शून्यवाद का प्रवर्तक था। उसका प्रसिद्ध ग्रथ **सुहृल्लेखा** और वैज्ञानिक ग्रथ **प्रज्ञापारमिता** था। **प्रज्ञापारमिता** मे उसने सृष्टि सिद्धात अथवा सापेक्षवाद को प्रस्तुत किया। उसे "विश्व की चार मार्ग दर्शक शक्तियो मे से एक" माना है। कनिष्क की राजसभा का तीसरा प्रख्यात विद्वान् और वक्ता वसुमित्र था, जो चतुर्थ बौद्ध सगीति का अध्यक्ष था। उसने बौद्ध ग्रथो पर टीका और भाष्य लिखे थे। उसने त्रिपिटिक पर **महाविभाष सूत्र** नामक टीका लिखी। इसे बौद्ध धर्म का विश्वकोश माना जाता है। कनिष्क की राजसभा मे प्रसिद्ध विद्वान् पार्श्व भी सम्मिलित था। कनिष्क का मत्री माठर (मथर) एक सफल राज नीतिज्ञ था। इस काल का सफल राजवैद्य एव चिकित्सक चरक था, जो आयुर्वेद का प्रकाड विद्वान् था। उसका लिखा ग्रथ **चरक संहिता** आयुर्वेद का सबसे महान ग्रथ है।

आर्थिक स्थिति तथा विदेशो से सबध

कुषाण-साम्राज्य के शाति, सुरक्षा एव सुव्यवस्था होने के कारण वाणिज्य,

1. पोलिटिक्ल हिस्ट्री आफ ऐसेंट इण्डिया, पृ० 408।

"That the kushan age was a period of great literary activity is proved by the works of Ashvaghosh, Nagarjuna and others. It was also a period of religious ferment and missionary activity. It witnessed the development of Shaivism and the allied cult of Karttikeya, of the Mahayana form of Buddhism and the cult of Mihir and Vasudeo Krishna and it saw the introduction of Buddism into China. The dynasty of Kanishka opened the way for Indian civilization to the Central and Easten Asia."

व्यापार एवं उद्योग व्यवसाय को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। देश में उत्तर-पश्चिम के स्थल मार्ग और पश्चिम के समुद्री मार्ग से विविध प्रकार की सामग्री का आयात-निर्यात होता रहा। कुषाण-साम्राज्य पूर्व की ओर चीन साम्राज्य और पश्चिम की ओर रोमन साम्राज्य को छूता था। फलस्वरूप पश्चिम और पूर्व के अनेक देशों (रोम, ईरान, अफगानिस्तान, खोतन, चीनी तुर्किस्तान, काशगर, चीन, तिब्बत आदि) से भारत का सपर्क बढ गया। इन देशों के साथ भारत का व्यापारिक और सास्कृतिक आदान-प्रदान होने लगा।

भारत का विदेशो से व्यापार स्थल और जलमार्गों से होता था। स्थल मार्ग खैबर दर्रा से होकर हिंदूकुश लाघता हुआ बल्ख पहुँचता था। फिर आक्सस नदी के किनारे मे होकर कैस्पियन सागर के तट पर पहुँचता था। यहा से लोग दोनो मार्गो से काला सागर और फिर मध्य सागर पहुँचते थे। जल का एक मार्ग पश्चिम के बदरगाहो से फरात नदी के मुहाने और दूसरा मार्ग लाल सागर होकर स्वेज नदी पार करके भूमध्य सागर तक जाता था। भूमध्य सागर के किनारे गाजा और राइनोकोलुरा बदरगाह थे। **एक्सोडस** नामक ग्रथ मे एक भारतीय नाविक का उल्लेख है जो अरब सागर के मार्ग से मलाबार तट (भारत) जहाज पर सामान लाया था। मिस्र के एक प्राचीन लेख मे शोभन नामक एक भारतीय व्यापारी का उल्लेख है।[1]

रोम के सिक्के भारत आते थे। मैसूर, बबई, मध्य प्रदेश आदि स्थानो में रोमन सिक्के मिले है। भारत से रेशम, मलमल, सुगंध मोती और वैदूर्य आदि रोम साम्राज्य को जाते थे और इसके एवज में अपार धनराशि भारत आती थी। लगभग 75 ई० मे यूनानी लेखक प्लिनी ने लिखा है कि "भारतीय माल रोम से आकर कई गुने मूल्य मे बिकता था और प्रतिवर्ष भारतीय व्यापारी रोम से कम-से-कम छ लाख स्वर्ण मुद्राएँ ले जाते थे। प्लिनी ने इस पर दु ख प्रकट किया और रोम वासियो की दुर्दशा और विलासप्रियता को धिक्कारते हुए लिखा है कि "यह विशाल धनराशि हमे अपनी शृगारप्रिय बनिताओ के लिए व्यय करनी पडती है।" एक दूसरे यूनानी लेखक ने रोम की स्त्रियों की बेपर्दगी की आलोचना करते हुए लिखा है कि "रोम की नारियाँ भारत की मलमल पहनकर अपने सौंदर्य का प्रदर्शन करती थी।"[2] तमिल ग्रंथों से भी पता चलता है कि यूनानी लोग भारत से रेशम, मसाला आदि ले जाते थे।[3]

1 रालिंसन, इण्टर कोर्स बिटबिन इण्डिया एण्ड दि वेस्टर्न वर्ल्ड, 96 और आगे।

2. जयचंद्र विद्यालकार कृत भारतीय इतिहास की रुपरेखा, 2, 969।

3. देखिये आयगर कृत बिगिनिंग्स आफ साउथ इण्डियन हिस्ट्री, 134 और आगे।

मध्य एशिया मे खोतन, यारकंद, काशगर नामक प्रदेश कुषाण राजाओं के अधीन थे। कुषाण राजाओ ने भारतीय सस्कृति का प्रसार भारत के अतिरिक्त मध्य एशिया मे किया। खरोष्ठी मे लिखी भारतीय प्राकृत भाषा मध्य एशिया में प्रचलित हुई और खरोष्ठी लिपि मे लिखी गयी। खोतन नगर के निकट गोश्रृंग नामक एक विशाल बौद्ध बिहार का निर्माण किया गया। कनिष्क के दरबारी अश्वघोष द्वारा रचित **सारिपुत्रप्रकरण** नामक नाटक की हस्तलिखित पाण्डुलिपि आरिल स्टाइन को मध्य एशिया के एक स्थल मे प्राप्त हुई थी।

कुषाण काल में हिंद-चीन और हिंदेशिया के अनेक द्वीपो मे भारतीय उपनिवेश स्थापित होने के कारण चीन से घनिष्ठ सबध हो गये। चीनी रेशमी वस्त्र भारत में लोकप्रिय थे। भारतीय सुदरियो को यह पारदर्शी वस्त्र पसद था। चीनी लेखक पान चाऊ द्वारा लिखित ग्रथ **शिन-हान चाउ** से विदित होता है कि दक्षिण भारत का चीन से सामुद्रिक मार्ग द्वारा व्यापार होता था।

दक्षिण-पूर्वी देशो मे अनेक उपनिवेश बसाये गये थे। इन उपनिवेशो के नाम भारतीय क्षेत्रो और नगरो के आधार पर ही होते थे यथा कबुज (कबोडिया), मालव (हिंद चीन का लाओ प्रात), चपा (हिंद-चीन की बस्ती अनाम) आदि। भारतीय प्रवासियो ने स्थल तथा जल दोनो मार्गो द्वारा हिंद-चीन प्रायद्वीप के अनेक भागो मे और चीन तक जाने के जल एव स्थल-मार्गो की खोज की।[1] इस वाणिज्य व्यापार के साथ-साथ विदेशो मे बौद्धधर्म और भारतीय सस्कृति का प्रचार बढने लगा। बौद्धधर्म प्रचारक और भारतीय व्यापारी अपने साथ विदेशो मे भारतीय सस्कृति को ले गये और उसका प्रसार किया। दक्षिण पूर्व के देशो मे इन उपनिवेशो की स्थापना सास्कृतिक और आर्थिक इतिहास मे एक महत्त्वपूर्ण घटना है। आगे चलकर ये उपनिवेश भारतीय सस्कृति के केंद्र बन गये।

धार्मिक स्थिति

अनुश्रुति है कि कनिष्क ने अश्वघोष नामक बौद्ध विद्वान के प्रभाव मे आकर बौद्धधर्म ग्रहण कर लिया था। फाहियान, हुएनसाग, तारनाथ और कल्हण आदि के विवरण और कनिष्क द्वारा निर्मित[2] अनेक स्तूपो और विहारो से सिद्ध है कि वह बौद्ध था। उसके कुछ सोने के सिक्को पर भगवान बुद्ध का नाम और आकृति अकित है। वह अन्य धर्मो के प्रति भी सहिष्णु रहा, परतु

1 विस्तृत अध्ययन के लिए देखिये, रमेशचन्द्र मजूमदार कृत, हिंदू कालोनीज इन द फार ईस्ट।

2 कनियक ने पेशावर मे एक बौद्ध सघाराम की स्थापना की थी और एक चैत्य का निर्माण कराया था।

उसने व्यक्तिगत धर्म के रूप में बौद्धधर्म को ही स्वीकार किया था।

चौथी बौद्ध संगीति

चौथी बौद्ध संगीति का सम्पन्न होना कुषाण काल की अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटना है। इस सभा को कनिष्क ने बौद्धधर्म के विभेदो को मिटाने के लिए बुलाया था। इसका अधिवेशन कश्मीर में वसुमित्र की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ था। इस सभा मे बौद्धधर्म के विभिन्न सप्रदायो[1] पर विचार हुआ। इसमे लगभग 500 बौद्ध विद्वानो ने भाग लिया। छः मास तक इन विद्वानों ने विवाद कर 'महाविभाषा' नामक ग्रथ का संग्रह किया। कनिष्क ने इस ग्रथ को ताम्रपत्र पर अकित कराया। बुद्ध चरित के अनुसार बौद्ध ग्रथो का सग्रह किया गया और संग्रहीत ग्रथों पर टीकाएँ लिखी गयी।

जिस समय इस सगीति का आवाहन किया गया, उस समय कश्मीर में हीनयान मत का बडा प्रचार था। किंतु इसके विपरीत इस सगीति में महायान मत को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया। कनिष्क के सिक्को पर अंकित बुद्ध की मूर्ति से भी प्रतीत होता है कि उसका झुकाव भी इसकी ओर अधिक था। कनिष्क ने महायानी सिद्धात पर आधारित गधार और मथुरा कला को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया।

हीनयान मत

भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग सौ वर्ष उपरात बौद्ध सघ दो सप्रदायं. मे विभक्त हो गया—प्रथम थेरवाद, जो प्राचीन विचारो का प्रतिनिधित्व करता था और दूसरा महासाघिक जो प्रगतिशील विचारो (यथार्थवादी) का प्रतिनिधित्व करता था। आगे चलकर थेरवाद सप्रदाय हीनयान और महासाघिक सप्रदाय महायान कहलाया।

भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद शताब्दियों तक हीनयान मत का प्रभाव रहा। हीनयान मत के अतर्गत बुद्ध को अवतार नही माना जाता था, केवल महापुरुष माना जाता था। बौद्ध लोग उनका आदर करते एव उनमें श्रद्धा रखते थे। किंतु बुद्ध की साकार पूजा नही होती थी। हीनयानी बौद्धो का विश्वास था कि निर्वाण प्राप्ति का एकमात्र उपाय मनुष्य की व्यक्तिगत साधना थी, बुद्ध के प्रति भक्ति नही। हीनयानी मतावलबियों का सर्वोच्च लक्ष्य अर्हत पद[2] की प्राप्ति था। हीनयानी अवतारवाद मे विश्वास नही करते थे।

---

1. तिब्बती लेखक तारनाथ का कथन है उस समय देश मे बौद्धधर्म के 18 संप्रदाय प्रचलित थे। इस सम्मेलन में उन सबको मान्यता दी गई।

2 अर्हत उसको कहते है, जिसने अपने प्रयत्न से सम्बोधि प्राप्त कर ली हो और जो जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो गया हो।

महायान मत

भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद उनका धर्मचक्रप्रवर्तन और निर्वाण प्राप्ति के स्थान आदि बौद्धो के तीर्थस्थल बन गये। बौद्धधर्म के प्रारभिक स्वरूप में परिवर्तन होने लगा था। बौद्धो के स्तूपो और बुद्ध के अवशेषो की पूजा प्रारभ कर दी। बुद्ध ने अपनी पूजा का विरोध किया है। किंतु धीरे-धीरे बौद्धधर्म भक्तिवाद से प्रभावित हुआ और बुद्ध को अवतार मान लिया गया तथा साकार रूप में उनकी पूजा होने लगी। फलत उनकी मूर्तियो का निर्माण होने लगा। व्यक्तिगत साधना का स्थान भक्ति ने ले लिया और अर्हत के स्थान पर बोधित्व की कल्पना प्रतिष्ठापित हुई। बौद्धधर्म मे परिवर्तन के ये लक्षण प्रथम शताब्दी मे स्पष्ट दृष्टिगत होने लगे थे। इस नयी विचारधारा को महायान मत कहा गया।

महायान बौद्धधर्म के उदय का कारण बौद्ध धर्मानुयायियो का भगवान बुद्ध के प्रति अपार श्रद्धा थी, जिसका मूर्त रूप उन्होने दे दिया। दूसरे, विन्टरनित्स के अनुसार **भगवद्गीता** के भक्तिवाद ने बौद्धधर्म को प्रभावित किया, जिसके फलस्वरूप महायान मत का उदय हुआ।[1] तीसरे, भारतीय और यूनानी सभ्यताओ के पारस्परिक सपर्क मे एक नयी कला का जन्म हुआ जो गाधार कला कहलायी। बुद्ध की मूर्तियो का निर्माण इस कला शैली मे आरभ हुआ। इस गाधार कला के माध्यम से महायान लोकप्रिय हुआ।

कला

मूर्ति कला

महायान मत के भक्ति भाव ने कला के क्षेत्र मे नयी दिशा दी। कुषाण काल के पहले बुद्ध की मूर्तियो का निर्माण नही होता था। भरहुत और साची आदि के स्तूपो मे बुद्ध की उपस्थिति को प्रतीको (स्तूप, पादुका आदि) के द्वारा दर्शाया गया है। धीरे-धीरे इन प्रतीको का स्थान बुद्ध की मूर्तियो ने ले लिया। यह बौद्ध धर्मावलबियो की भक्ति भावना का परिणाम था। बुद्ध मूर्तियो का निर्माण इस काल की कला की विशेषता है। कुषाण काल में दो कलाशैलियों का विकास हुआ—गाधार कला और मथुरा कला।

गांधार कला

गाधार प्रदेश मे ग्रीक कलाकारो ने जिस शैली को अपनाया उसे गाधार कला कहते है। इस शैली के शिल्पकार ग्रीक थे किंतु उनकी कला का आधार

1. महायान मत—अवतारवाद, ईश्वरवाद, देववाद को भागवत धर्म से ग्रहण करता है इसी के आधार पर उसमे देवताओ की अर्चना की कल्पना की गयी।

भारतीय विषय, अभिप्राय और प्रतीक थे। इस प्रकार इस शैली का उदय समन्वय का परिणाम था। गाधार प्रदेश भारतीय, चीनी, ईरानी, ग्रीक और रोमन सस्कृतियो का सगम-स्थल था। गाधार कला मूर्तिकला की एक विशेष शैली है जिसका विकास ईसा की प्रथम और द्वितीय शताब्दी में गाधार और उसके आसपास के प्रदेश मे हुआ। गाधार कला के प्रमुख केंद्र थे, जलालाबाद, हद्द, बमिया, स्वात घाटी और पेशावर। गाधार कला को इण्डोग्रीक कला भी कहते हैं क्योकि इस कला की विषय-वस्तु तो भारतीय है किंतु उनकी निर्माण शैली यूनानी है। इन मूर्तियो में बुद्ध यूनानी देवता अपोलो सरीखे लगते हैं। उनकी मुद्राए तो बौद्ध है, जैसे कमलासन मुद्रा मे बुद्ध बैठे है किंतु मूर्तियो के मुखमडल और वस्त्र ग्रीक शैली के हैं। उनकी मूर्तियों को अलंकृत मूर्धजों से युक्त प्रदर्शित किया गया है, जो यूनानी अथवा रोमन कला का प्रभाव है। बोधिसत्वों की मूर्तिया यूनानी राजाओ की भाँति वस्त्राभूषणो से सजी है। जिससे वे आध्यात्मिक व्यक्ति न लग कर सम्राट् लगते हैं। इस सबध मे आनद कुमारस्वामी ने उचित ही लिखा है कि "पश्चिमी रूपो का समस्त परवर्ती भारतीय तथा चीनी बौद्ध-कला पर प्रभाव सुस्पष्ट रूप मे खोजा जा सकता है, परतु गाधार की वास्तविक कला निगूढ़ मिथ्यात्व का आभास देती है क्योंकि बोधिसत्वो की सतुष्ट अभिव्यक्ति तथा कुछ-कुछ आडवरपूर्ण वेश भूषा तथा बुद्ध मूर्तियो की स्त्रैण तथा निर्जीव मुद्राएँ बौद्ध विचारधारा की आध्यात्मिक शक्ति को अभिव्यक्ति नही प्रदान कर पाती।"[1] डॉ० नीहाररजन रे के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि गाधार की मूर्तियाँ सिद्धहस्त कलाकारो द्वारा निर्मित न होकर मशीनों द्वारा तैयार की गयी थी।[2]

गाधार कला की मूर्तियाँ गाधार मे प्राप्त सिलेटी पत्थर की है। इन्हे मोटे वस्त्र पहने दिखाया है, पारदर्शक नही। इन मूर्तियों मे मासलता अधिक है। मूर्तियो के होठ मोटे और आँखें भारी हैं तथा वे मस्तक पर उष्णीष धारण किये हैं। मुखमुद्रा प्राय. भावशून्य है। उनमे आध्यात्मिक भावना का प्राय. अभाव है।[3]

बोधिसत्व की मूर्तियो के सिर पर बहुधा लहरियादार केश, मूंछें और सारा शरीर संघाटी से ढका हुआ दर्शाया गया है। कभी-कभी वे पैरों मे चप्पल पहने हुए सिंहासन पर विराजमान है, जो प्राचीन भारतीय परंपरा के अनुरूप नही है। प्रायः इन मूर्तियो के चारों ओर प्रभामंडल निर्मित है। क्योकि

1 बुद्ध देखिये, बुद्ध एण्ड द गास्पेल ऑफ बुद्धिज्म पृ० 323।

2. देखिये, दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० 519।

3 देखिये, एस० के सरस्वती, वही।

गंधार कला में भारतीय कला के मूल तत्त्वो का अभाव है। यूनानी कला मे शारीरिक सौंदर्य को वरीयता दी जाती थी, जबकि भारतीय कला में आध्यात्मिकता को। यूनानी बौद्धिकता पर बल देते थे जबकि भारतीय भावुकता पर। इन्ही मूलभूत अतरों के कारण गधार कला भारत मे लोकप्रिय न हो सकी।

मथुरा कला

कुषाण कला का दूसरा महत्त्वपूर्ण केंद्र मथुरा और उसका निकटवर्ती प्रदेश था। इस प्रदेश मे जिस प्रकार की मूर्तिकला का उदय हुआ वह मथुरा-कला के नाम से विख्यात है। मथुरा (शूरसेन जनपद) शक-कुषाणो की पूर्वी राजधानी था।

मथुरा कला की मूर्तियां प्राय लाल बलुए पत्थर की है, जिस पर श्वेत चित्तियां है। यह लाल बलुआ पत्थर निकटस्थ प्रदेश मे उपलब्ध है। बुद्ध की प्रारभिक अवस्था की मूर्तियां खडी हुई निर्मित की गई है। अधिकाश मूर्तियों के मु डित अथवा नखाकृति केशों सहित सिर है। प्राय बुद्ध और बोधिसत्वो की मूर्तियो का एक ही स्कध ढका हुआ दिखाया है।[1] वस्त्र शरीर से चिपके हुए है। वस्त्रो पर धारीदार सिलवटे कलात्मक ढग से प्रदर्शित की गई हैं। कुषाण कालीन मथुरा की मूर्तियो मे आध्यात्मिक भावना का उद्दीपन उतना नही मिलता जितना कि बाद मे गुप्तकला मे। मथुरा कला हृदय की कला है। उसमे गधार कला के बुद्धिवादी दृष्टिकोण का अभाव है। इनमे बाह्य और आत्मिक सौदर्य का समन्वय है।

उत्तरी भारत मे मथुरा बौद्ध मूर्तियों के निर्माण का एक वृहत् केंद्र था। कुछ विद्वानो का मत है कि मथुरा कला पर गधार कला का पर्याप्त प्रभाव पडा। परतु यह मत पूर्णरूपेण माना नही जा सकता।[2] रालिन्सन का कथन है कि "उसी समय समकालिक कला की एक विशुद्ध देशी शैली जिसका भरहुत और साची से उद्भव हुआ था, मथुरा मीटा, बेसनगर तथा अन्य केंद्रो में प्रचलित थी। पहले यह धारणा थी कि बुद्ध, महावीर और हिंदू देवताओ की मूर्ति निर्माण का प्रारभ विदेशी प्रभावो के कारण हुआ। परतु अब सामान्यतया इस बात पर अधिकाश सहमत हैं कि इसका उद्भव मथुरा के देशी कलाकारो के द्वारा खोजा जाना चाहिए, न कि गधार के।"[3]

1 फोगल, कैटलाग ऑफ दि मथुरा म्यूजियम, प्लेट 15 (ए) तथा 16।
2. स्ट्रेला क्रामरिख, इण्डियन स्कल्पचर, पृ०46।
3. देखिये इण्डिया ए शार्ट कल्चरल हिस्ट्री, पृ० 101 और आगे।

बौद्ध प्रतिमाएँ

बोधिसत्त्व और बुद्ध की खडी पद्मासन में बैठी हुई अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई है। इनके अतिरिक्त शिलापट्टो पर जातक कथाओ तथा बुद्ध के जन्म, सबोधि, धर्म चक्र प्रवर्तन, महापरि-निर्वाण आदि के दृश्यो का चित्रण हुआ है।

ब्राह्मण धर्म-सबधी प्रतिमाएँ

ब्राह्मण मूर्तिकला का मथुरा में चरम विकास हुआ। यहाँ अनेक ब्राह्मण देवताओ की प्रतिमाओ का निर्माण हुआ यथा ब्रह्मा, शिव, विष्णु, कार्तिकेय, गणेश, इद्र, अग्नि, सूर्य, कृष्ण, लक्ष्मी, सरस्वती पार्वती, महिषमर्दनी, दुर्गा, अद्धनारीश्वर और मातृका आदि।

जैन प्रतिमाएँ

मथुरा मे ककाली टीला के उत्खनन मे बहुसंख्यक कलावशेष प्राप्त हुए थे जो अब लखनऊ राजकीय सग्रहालय मे सुरक्षित हैं। इन अवशेषो में अनेक जैन मूर्तियाँ है। इन जैन मूर्तियो में तीर्थङ्करो की मूर्तियाँ, देवियो की मूर्तियाँ और आयागपट्ट[1] आदि कृतियाँ है।

वैदिक स्तभो पर अकित प्रतिमाएँ

जैन एव बौद्ध स्तूपो के बाहर के घेरे के रूप मे स्तंभो सहित वेदिका निर्मित होती थी। उक्त स्तभों पर विभिन्न रूपो मे युवतियो की प्रतिमाएँ अकित रहती थी। कुछ स्तभो पर जातक कथाओ का अकन हुआ है। इसके अतिरिक्त यक्ष, गधर्व, किन्नर आदि की अनेक प्रतिमाएँ निर्मित है।

राजाओं की प्रतिमाएँ मथुरा के निकटस्थ एक टीले पर विम कैडफिसेस की एक मु ड रहित मूर्ति मिली है। मूर्ति सिहासन पर विराजमान है और लबा चोगा तथा पायजामा पहने है। मूर्ति पर राजा का नाम उत्कीर्ण है। यह मूर्ति राजकीय सग्रहालय मथुरा मे सग्रहीत है। विम कैडफिसेस की ही वेशभूषा में राजदड और तलवार लिये कनिष्क की मूर्ति मिली है। मूर्ति पर राजा का नाम अकित है। मूर्ति लम्बे जूते धारण किये है। इनके अतिरिक्त अनेक शक-कुषाण राजाओं, राजकुमारो और सरदारो की मूर्तियाँ मिली है। कुछ स्त्रियो की मूर्तियाँ भी मिली हैं जो घाघरा पहने हैं।

मृण्मय मूर्तियाँ · मथुरा में शक-कुषाण कालीन अनेक मृण्मय मूर्तियाँ मिली है जो तात्कालिक लोक-जीवन पर प्रकाश डालती है। उनके केश विन्यास आभूषण एव वेशभूषा आदि सभी बडे ही सुदर है। कुछ ऐसे पट्ट मिले हैं जिन पर लोक-कथाओं के दृश्य अकित हैं। मथुरा के अतिरिक्त कुषाण कालीन मृण्मय

---

1. आयागपट्ट प्राय· वर्गाकार शिलाखंड होते थे, जिनकी पूजा होती थी। प्रायः उन पर तीर्थंकर स्वास्तिक आदि चिंह बने होते थे।

मूर्तियाँ सारनाथ, कौशाबी, श्रावस्ती, अहिच्छत्रा, हस्तिनापुर आदि स्थानो पर मिली है। ये मिट्टी की मूर्तियाँ कलापूर्ण ढग से निर्मित की गयी है।

स्थापत्य कला कुषाण काल में अनेक धर्मों का विकास हुआ और उन धर्मों के स्मारकों का बहुसख्या में निर्माण हुआ। अशोक की भाँति कनिष्क ने बौद्धधर्म के प्रचार के लिए अनेक बौद्ध स्तूप और विहार निर्मित कराये थे। उनकी अपनी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर, अब पाकिस्तान) में 13 मजिल की 400 फुट ऊँची मीनार निर्मित करायी थी। मीनार के ऊपर लोहे का एक छत्र था। इसी मीनार के निकटस्थ शिक्षाकेंद्र के रूप मे एक प्रसिद्ध सघाराम निर्मित कराया था। चीनी यात्रियो तथा इतिहासकार अलबेरुनी ने इस सघाराम के ध्वसावशेष का वर्णन किया है।

अनेक स्तूपो का उल्लेख चीनी यात्रियो ने किया है। स्तूपो के साथ-साथ मथुरा तक्षशिला आदि स्थानो मे अनेक विहार भी निर्मित किये गये थे। शक-कुषाण काल मे अनेक ब्राह्मण मदिरों का निर्माण हुआ इनमें सर्वाधिक प्राचीन मदिर शकराज शोडास कालीन है। इसकी जानकारी मथुरा से प्राप्त एक-एक अभिलेख से हुई। यह मदिर सभवत उसी स्थान पर निर्मित था, जहाँ भगवान कृष्ण का जन्म माना जाता है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण देवी-देवताओ की अनेक मूर्तियाँ मिली है। लोगो का अनुमान है कि ये मूर्तियाँ उक्त मदिर की है। स्थापत्य के अधिक नमूने उपलब्ध नही है किंतु अवशेषो के रूप मे जो सामग्री उपलब्ध हुई है, उससे कुषाणकालीन निर्माण शैली का कुछ आभास मिलता है।

●

अध्याय आठ

गुप्त कालीन संस्कृति

भारतीय संस्कृति के विकास में गुप्त काल का विशेष महत्त्व है। ईसा की चौथी शताब्दी में गुप्त साम्राज्य के अतर्गत उत्तरी भारत में राजनीतिक एकता स्थापित हुई। देश वासियों के जीवन मे एक नव चेतना एवं नव स्फूर्ति का सचार हुआ। देश मे शक्ति, समृद्धि एव सुख को वृद्धि हुई। गुप्तो के सुदृढ एवं उदार शासन में देशवासियो की क्रियात्मक एवं सर्जनात्मक प्रतिभा जाग्रत हो उठी। अपनी महान् उपलब्धियो के कारण गुप्तकाल भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहलाता है।

डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी ने ने ठीक ही कहा है, "देश की भौतिक एवं नैतिक प्रगति का मुख्य कारण सुस्थिर राजनीतिक दशा थी।" गुप्तकाल के विशाल साम्राज्य तथा देश के एक विशाल भू-भाग में प्रचलित लगभग एक-सी शासन पद्धति ने सस्कृति तथा सभ्यता की उन्नति को उपयुक्त वातावरण प्रदान किया। गुप्त राजाओं का विशाल साम्राज्य, उनकी सुदृढ एव उदार शासन नीति तथा उनकी गुणग्राहकता और विद्वानो तथा कवियो को राजाश्रय प्रदान करने की प्रवृत्ति के कारण देश में कला, साहित्य एव सस्कृति की अभूतपूर्व उन्नति हुई। अब हम संस्कृति के कुछ अगो का विवरण प्रस्तुत करेंगे।

सामाजिक जीवन

गुप्तकालीन जीवन का आभास तत्कालीन भारतीय साहित्य, अभिलेख और फाहियान के यात्रा विवरण से होता है। फाहियान ने चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के शासन-काल मे भारत का भ्रमण किया था। उस बौद्धधर्म के ग्रंथों का अध्ययन किया था। उसके यात्रा विवरण में ऐसे तथ्य उपलब्ध है जिनसे तात्कालिक सामाजिक स्थिति का बोध होता है।

वर्णव्यवस्था भारतीय सामाजिक जीवन की एक सर्वप्रमुख विशेषता रही है। वैदिक काल से ही यह भारतीय समाज का मूलाधार रही है। फाहियान के अनुसार[1] चारो वर्ण अलग-अलग नियमो के अनुसार रहते थे और अपने वर्ण मे ही विवाह करते थे। राजा वर्णों एवं आश्रमों का रक्षक था[2] और वर्णों की

1. यात्रा वृत्तात, 1, 168।
2. रघुवंश, 5, 19, 14, 67।

सीमाओ का अतिक्रमण न करने वाला माना गया है।[1]

ब्राह्मणो को समाज मे सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। साधारणतया ब्राह्मण का कर्त्तव्य अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ एवं दान करना था। ब्राह्मणो को ब्रह्मज्ञान एव कर्त्तव्यपालन में निष्णात होना चाहिए तथा उनमे विश्वप्रेम की भावना भी चाहिए।[2] अभिलेखों[3] में तप, स्वाध्याय करने वाले और सूत्र, भाष्य, प्रवचन में पारगत ब्राह्मणो का उल्लेख हुआ है। कभी-कभी ब्राह्मण स्वाध्याय और याज्ञिक कार्यों को छोडकर अन्य कार्य भी करते थे। वे राजनीति की ओर से भी सर्वथा उदासीन नही रहते थे। राजा का पुरोहित भी ब्राह्मण होता था, जिससे राजा मत्रणा करता था। युद्ध-क्षेत्र मे भी वह राजा के साथ रहता था।

ब्राह्मणो को अनेक सुविधाएँ सुलभ थी। उदाहरणार्थ वे कर से मुक्त थे। उन्हे मृत्यु दड नही दिया जाता था। उन्हे अधिक से अधिक देश निर्वासन का दड दिया जा सकता था। गुप्तकाल से पहले देश, धर्म, भोजन और वैदिक शाखा के अनुसार ब्राह्मणो मे उपभेद आरभ हो गया था। गुप्त काल मे[4] उत्तर भारत मे यजुर्वेदिक ब्राह्मणो की प्रधानता थी और सौराष्ट्र मे सामवेदीय ब्राह्मणों की।

क्षत्रियो का कर्त्तव्य अध्ययन, यज्ञ, दान, शस्त्राजीव, रक्षा तथा प्रजापालन था। ऋग्वेद काल से ही उनका प्रधान कार्य राज प्रबध था। वे प्राय शासक और सैनिक होते थे। ब्राह्मण ग्रथो मे ब्राह्मणो के बाद क्षत्रियो का स्थान है, किंतु बौद्ध साहित्य मे ब्राह्मणो की अपेक्षा क्षत्रियो को प्रधानता दी गयी है।[5] कुल के आधार पर उनमे भी वर्गीकरण होने लगे थे, यथा सूर्यवशी सोमवशी आदि।[6] गुप्त पूर्वकाल में यवन, शक, कुषाण आदि अनेक विदेशी जातियाँ क्षत्रिय समाज मे घुल मिल गयी और क्षत्रियो की उपजातियाँ बन गयी।[7]

भारतीय समाज का तीसरा वर्ण वैश्य वर्ण था। स्मृतियों के अनुसार वैश्यो का प्रमुख कार्य कृषि, पशुपालन और वाणिज्य, व्यवसाय था किंतु धर्मशास्त्रो के अनुसार वे यज्ञ, दान और अध्ययन भी कर सकते थे। गुप्त काल मे वे समाज

1 वही, 3, 23।

2. एपिग्राफिया इण्डिया, 10, 72 और कार्पस इन्सक्रिप्शनम इण्डिकेरम, 3, 89।

3. वही, पृ० 89 पं० 7।

4. एपिग्राफिया इण्डिका, 8, 387, 9, 173–78, 11, 108।

5 देखिये जर्नल ऑफ आध्र हिस्टाट्रिकल सोसायटी, 28, पृ० 54।

6. रघुवंश, 1, 2, और विक्रमोर्वशीय, अंक 5।

7 परमेश्वरी लाल गुप्त कृत गुप्त साम्राज्य, पृ० 417।

मे प्रतिष्ठित थे क्योंकि उनमे से कुछ न्यायालयों का कार्य भी देखते थे। गुप्त-काल मे व्यापारी, गोपालक, सुनार, लुहार, बढई आदि व्यवसाय समूहों ने अपनी श्रेणियाँ स्थापित कर ली थी। फाहियान के अनुसार प्रमुख वैश्य लोग औषधालय और धर्मशालाएँ भी चलाते थे।

चौथा वर्ण शूद्रों का था। साधारणत' शूद्रों का कार्य द्विजो (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) की सेवा करना था। वे वर्ण चतुष्टय के अंग थे और द्विजों के साथ ही ग्रामो और नगरो में रहते थे। दंड विधान में उन्हे अपराधो के लिये अन्य वर्णों की अपेक्षा कठोर दड देने की व्यवस्था थी। शूद्र खेती और व्यवसाय भी करने लगे थे। शूद्र राजासन तक पहुँचने की क्षमता रखते थे।[1]

इन चारो वर्णों के अतिरिक्त समाज में चाडाल आदि भी थे, जो प्राय नगरो और ग्रामो के बाहर बस्तियो मे रहते थे। फाहियान के अनुसार उनका स्पर्श वर्जित था।[2] वे शवो को जलाने अथवा गाडने का कार्य, पशुओं का शिकार, मछलियाँ पकडना आदि कार्य करते थे। स्मृतियो में दासों की चर्चा की गयी है।[3] दासो से उत्पन्न होने वाले सतान का दास ही होना, और ब्राह्मणेतर व्यक्तियो के दास बन जाने और उनके क्रय विक्रय का उल्लेख है। केवल ब्राह्मण ही दास नही बनाये जाते थे। कात्यायन के अनुसार[4] द्विज स्त्री दास से विवाह करते ही दास हो जाती थी किंतु दास स्त्री यदि अपने द्विज स्वामी से पुत्र उत्पन्न कर ले तो वह दासत्व से मुक्त हो जाती थी। स्त्री का गोत्र उसके पति के गोत्र पर निर्भर था। दास को घर का अग माना जाता था और उन पर समुचित ध्यान दिया जाता था। यदि कोई दास अपने स्वामी के प्रतिबध को पूरा कर देता था, तो उसे आजाद कर दिया जाता था। सकट के समय यदि दास स्वामी के प्राणो की रक्षा करता था तो उसे दासत्व से मुक्त कर दिया जाता था।

आश्रम व्यवस्था

प्राचीन भारतीय समाज शास्त्रियों ने मनुष्य के जीवन को चार आश्रमो मे

1 रिकार्ड्स ऑफ बुद्धिस्ट किंगडम्स, पृ० 79।

2 गाइल्स, ट्रैवेल्स ऑफ फाहियान, पृ० 21।

3 मनुस्मृति 8, 415 में सात प्रकार के दासो का उल्लेख है। ध्वजाहृत, भक्त दास, गृहज, क्रीत, दात्रिय, पैत्रिक, दण्डदास। इसके अतिरिक्त दासी से संबंध रखने वाला व्यक्ति भी दास माना जाता था। इसी प्रकार स्वेच्छा से दास से विवाह करने वाली स्त्री दासी मानी जाती थी। देखिये कात्यायन स्मृति, श्लोक 716।

4. कात्यायन स्मृति, 10, 715 और आगे।

विभक्त किया है। जीवन के प्रारंभिक पच्चीस वर्षों को ब्रह्मचर्य आश्रम के अतर्गत रखा गया था। इसके अतर्गत शिक्षा प्राप्ति ब्रह्मचारी का लक्ष्य रहता था। पच्चीस से पचास वर्ष की आयु का काल गृहस्थ आश्रम कहलाता था। इसमें मनुष्य को विवाह करके पारिवारिक जीवन व्यतीत करना पडता था। पचास वर्ष से पचहत्तर वर्ष की आयु का काल वानप्रस्थ आश्रम कहलाता था, जिसमें वह सासारिक झझटो से मुक्त होकर बन मे जाकर धार्मिक भाव मे चितन करता था। पचहत्तर से आगे की अवस्था सन्यास आश्रम की थी, जिसमे वह संन्यास ग्रहण कर ईश्वर प्राप्ति मे लीन हो जाता था। इस प्रकार आश्रम व्यवस्था का उद्देश्य व्यवस्थित ढग मे जीवन यापन था। व्यावहारिक जीवन मे ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण के ही कुछ लोग वानप्रस्थी और सन्यासी बनते थे।

पारिवारिक जीवन

सम्मिलित कुटुंब गुप्तकालीन हिंदू समाज की आधार शिला थी। पिता अथवा ज्येष्ठ व्यक्ति के अनुशासन मे पूरा परिवार रहता था। तत्कालीन स्मृति ग्रंथो मे सम्मिलित कुटुब की प्रथा को प्रशसनीय और पिता के जीवन काल में परिवार के विभाजन की निदा की गयी है। अभिलेखो से पता चलता है कि पिता की मृत्यु के उपरात आठ वयस्क पुत्र, अनेक पौत्र और भाई संयुक्त रूप से परिवार मे रहते थे।[1] एक लेख से पता चलता है कि एक व्यक्ति अपनी मा, पत्नी, भाई, पुत्र-पुत्री, भतीजे, भतीजियो के आत्मिक सुख की व्यवस्था करता है।[2] इससे आभास होता है कि परिवार का निर्वाह पीढी दर पीढी सयुक्त रूप से होता था।

विवाह

विवाह एक प्रधान सस्कार था। अग्नि को हवि पति-पत्नी को एक साथ देनी होती थी। वर का चयन साधारणतया माता-पिता करते रहे होगे किंतु स्वय वर भी वधू के मन को विजित कर विवाह करता था। इसका अर्थ यह है कि आज के प्राग्वैवाहिक प्रसाधन (कोर्टशिप) के बीज उस युग मे विद्यमान थे। स्मृतिकारो का सामान्यत. मत है कि रजस्वला होने से पूर्व कन्या का विवाह कर देना चाहिए।[3] वात्स्यायन के अनुसार वर-वधू के बीच कम से कम तीन वर्ष का अतर होना चाहिए।[4]

राज परिवारो में बहु विवाह प्रथा प्रचलित थी। धार्मिक अनुष्ठानों मे

1. एप्रिगाफिया इंडिका, 1,6,12,2,19,120।
2. इडियन एटीक्वेरी, 11,258।
3. याज्ञवल्क्य स्मृति, 3,64,434।
4. कामसूत्र, 3,1,2।

महारानी ही प्रमुख रूप से भाग लेती थी। विधवा विवाह की प्रथा प्रचलित थी। साहित्यिक साधनों के अनुसार चद्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने अग्रज रामगुप्त की विधवा पत्नी ध्रुवदेवी से विवाह किया था। अनमेल और अतर्जातीय विवाह भी होते थे। अनुलोम (उच्च वर्ण का पुरुष और निम्न वर्ण की स्त्री) तथा प्रतिलोम (निम्न वर्ण का पुरुष और उच्च वर्ण की स्त्री) विवाह प्रचलित थे। गुप्त (वैश्य) वश की राजकुमारी (चद्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री) प्रभावती गुप्ता का विवाह वाकाटक वशीय ब्राह्मण रुद्रसेन से हुआ था।[1] इसी प्रकार चद्रगुप्त द्वितीय की पत्नी कुबेरनागा नागवंशीय थी। कदब शासको ने ब्राह्मण होते हुए भी अपनी पुत्री का विवाह गुप्त वशीय राजकुमार से किया था। इस प्रकार अनुलोम और प्रतिलोम दोनो ही प्रकार के विवाह उस समय प्रचलित थे।

कालिदास ने प्राचीन आठ प्रकार के विवाह का उल्लेख किया है—ब्राह्म विवाह, प्राजापात्य विवाह, आर्ष विवाह, दैव विवाह, असुर विवाह, गाधर्व विवाह, राक्षस विवाह और पैशाच विवाह। इसके अतिरिक्त स्वयंवर प्रथा का भी प्रचलन था।[2] प्रथम चार प्रकार के विवाह उत्तम कहे गये है और अंतिम चार निम्न कोटि के। दहेज और बाल विवाह की प्रथाएँ प्रचलित न थी।

स्त्रियों की स्थिति

कालिदास की कृतियो से पता चलता है कि कन्या को भरपूर स्नेह मिलता था और उसको उत्पत्ति दुर्भाग्य का कारण नही मानी जाती थी। यद्यपि पुत्र का महत्त्व अधिक था। कुमार संभव में कन्या को कुल का प्राण कहा गया है। स्नेह और सम्मान की दृष्टि से पुत्र और कन्या मे भेद कम था।[3] कात्यायन सपत्ति मे नारी का अधिकार स्वीकार करते है।[4] फिर भी कुछ स्थलो पर नारी की उपेक्षा भी की गयी है।[5] उन्हें पुरुष के भोग विलास का साधन कहा गया है।[6] किंतु नि संदेह पत्नी और माता के रूप में नारी का पद ऊँचा था। उसे स्त्री रत्न[7] और वीरप्रसविनी[8] कहा गया है। सती प्रथा प्रचलित थी किंतु

1 एपिग्राफिया इडिका, 15,41 और 8,31।

2. रघुवंश, सर्ग 3।

3 कुमार संभव, 6, 12।

4 921–27।

5 शकुतलम, पृ० 172।

6. रघुवंश, 14, 15।

7 वही, 7, 34।

8. मालविकाग्निमित्रम् 5, 16।

उसे समाज मे अधिक मान्यता प्राप्त न हुई थी ।[1] कालिदास और वात्स्यायन ने भी सती प्रथा का उल्लेख किया है। एरण के एक अभिलेख मे गोपराज की पत्नी के सती होने का उल्लेख है ।[2]

तात्कालिक साहित्य में वेश्याओ का भी उल्लेख हुआ है ।[3] वे शिशु जन्म[4] के अवसर पर और मंदिरो मे नृत्य करती थी ।[5] हुएनसाग ने[6] भी अपनी यात्रा-विवरण में सिंध के मंदिर मे नियुक्त नर्तकियो का उल्लेख किया है। कुछ वेश्याओं का उनके रूप और गुण सपन्न होने का कारण समाज मे आदर था ।[7] वसतसेना (**मृच्छकटिक**) ने वेश्यावृत्ति छोडकर विवाह किया था । **कामसूत्र** में स्त्रियो के कुछ कर्तव्य बताये गये है—गृहस्थी के कार्य संपादित करना, पति के आगमन पर सुदर वेश धारण कर उसका स्वागत करना और पति की आज्ञानुसार सामाजिक उत्सवों मे भाग लेना इनके अतर्गत आता है। गुप्तकाल मे स्त्री-शिक्षा का प्रचलन था । **अमरकोश** मे वैदिक मत्रो की शिक्षा प्रदान करने वाली स्त्रियो का उल्लेख है । आश्रम मे रहने वाली स्त्रियाँ विभिन्न विषयों का अध्ययन करती थी। शील भट्टारिका एक विदुषी महिला थी। **मृच्छकटिक** मे अनेक पढी-लिखी स्त्रियो का उल्लेख है। चद्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री प्रभावती गुप्ता सुशिक्षित थी । कालिदास ने शकुतला के द्वारा प्रेम-पत्र लिखने का उल्लेख किया हैं । पर्दे की प्रथा न थी ।

भोजन तथा पेय

गुप्त कालीन समाज मे शाकाहार तथा मासाहार दोनो का प्रचलन था । लोग मछली-भक्षण भी करते थे। अनेक प्रकार के आहार प्रचलित थे ।[8] लोग गेहूँ, जौ, चावल, दाल, चीनी, गुड, दही, घी और तेल का प्रमुख रूप से प्रयोग करते होंगे। रोटी, मोदक, चावल आदि भोज्य, चाटने के लिए तरल लेह्य (शिखरिणी) आदि, चोष्य (आम आदि) और पेय (दूध और शिरा आदि)

---

1 केवल वृहस्पति स्मृति (25, 11) और विष्णु स्मृति (35, 14) ने सती होने की अनुमति दी है।

2 कार्पस 3, 92 ।

3 मेघदूत पृ० 8, 8, 25, 35 और ऋतुसंहार 2, 2 ।

4. रघुवश 3, 19 ।

5. मेघदूत, पृ० 35 ।

6. बील का अनुवाद बुद्धिस्ट रेकार्ड आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड 2, 254 ।

7. कामसूत्र, 1, 320–21 ।

8. भगवतशरण उपाध्याय कृत इण्डिया इन कालिदास, पृ० 193–95 ।

प्रचलित थे। इलायची, लौंग, मिर्च और नमक का प्रयोग होता था।[1] भोजन दिन में दो-बार पूर्वाह्न और अपराह्न मे किया जाता था।

मद्यपान भी होता था। कालिदास के नाटको[2] मे इसके अनेक नामों का उल्लेख हुआ है, यथा मद्य, मदिरा, आसव, वारुणी, कादंबरी, शोधु (गन्ने की शराब), नारिकेलासव (सभवत ताडी) आदि। शराब बहुधा मधूक आदि के फूलों से भी बनती थी। इसे मध्यम वर्ग के लोग पीते थे। धनिक वर्ग के लोग सहकारमजरी और पाटल की सुगधियुक्त शराब पीते थे।[3] शराब का पान चषक नामक पात्र से किया जाता था।[4] मद्य की गध छिपाने के लिए बीजपूरक का छिलका और पान सुपारी चबाते थे।[5] शराब का नशा उतारने के लिए मत्स्यखडिका का प्रयोग किया जाता था।[6] गुप्तकालीन खान-पान के विषय में चीनी यात्री फाहियान लिखता है।[7] "बाजारो मे मास और मदिरा की दुकानें नही है। लोग सुअर तथा मुर्गियाँ नही पालते, प्याज तथा लहसुन तक नही खाते, शराब नही पीते थे। केवल चाडाल शिकार खेलते और मास बेचते थे।" फाहियान का यह कथन अतिशयोक्ति पूर्ण है कि लोग मास, प्यास, लहसुन तक नही खाते थे और शराब नही पीते थे। यात्री का यह कथन सभवतः बौद्धो के लिए रहा होगा।

परिधान एव आभूषण

तात्कालिक साहित्य से प्रतीत होता है कि स्त्री-पुरुष विभिन्न प्रकार के ऋतुसुलभ तथा अवसरोचित वस्त्र पहनते थे।[8] साधारणत श्वेत, लाल, नीले, श्याम और केसरिया आदि रगबिरगे कपडे प्रचलित थे।[9] रेशमी और ऊनी वस्त्रों का ग्रीष्म और शीतकाल मे प्रयोग होता था।[10] पुरुष बहुधा तीन वस्त्र-पगडी,

1 कुमार संभव 8, 25 और रघुवंश 5, 73।

2. ऋतुसहार 5, 10, रघुवश 4, 42, 8, 68 शाकुतलम्, अक 6 और रघुवश 4, 42, 6, 59।

3 वही, 19, 46।

4. वही, 7, 49।

5 वही, 4, 42 और मालविकाग्निमित्र, अंक 3।

6 वही।

7 फाहियान के इस वर्णन को इतिहासकारो ने स्वीकार नही किया है।

8. शकुंतलम् 7, 21।

9 ऋतुसंहार 2, 25, 6, 4, 6 विक्रमोर्वशीयम् 3, 12, पृ० 68, 4,17 रघुवंश 1, 46, 6, 6, 9, 43, 15, 77 कुमार सभव 3, 54 आदि।

10. ऋतुसंहार 5, 8 मालविकाग्निमित्रम् पृ० 105, 5, 12।

उत्तरीय और अधोवस्त्र पहनते थे। स्त्रिया भी प्राय तीन वस्त्र चोली, घाघरा और उत्तरीय पहनती थी।[1] मथुरा और लखनऊ सग्रहालय की अनेक मूर्तियों तथा अजता के चित्रो में नारी के इन वस्त्रो का प्रदर्शन हुआ है। धनिक वर्ग के लोग जूते पहनते थे।[2] जैकेट, ब्लाउजो और फाको का प्रयोग केवल विदेशी नारिया करती थी।

स्त्री और पुरुष दोनो आभूषणो का प्रयोग करते थे, जो रत्नो, सोने और मोती के होते थे। साधारणत आभूषण सिर पर, कानो में, गले, बाहो, उगली, कमर और पैरो मे धारण किये जाते थे। राजपरिवार के लोग सिर पर चूडामणि, शिखामणि, किरीट, मुकुट आदि प्राय धारण करते थे।[3] स्त्री-पुरुष दोनो ही कर्णाभूषण, कण्ठाभूषण[4] और कराभूपण पहनते थे। स्त्रिया कटि[6] और पैरो[7] के आभूषण भी पहनती थी, तत्कालीन सिक्को, चित्रो और मूर्तियो पर इनके अनेक रूपो का प्रदर्शन हुआ है।

प्रसाधन

गुप्तकाल में साजसज्जा एव प्रसाधन मे नारियो की विशेष रुचि थी कालिदास के ग्रथो में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। स्त्रिया केशो मे तेल लगा कर, कघा कर माग निकाल कर वेणिया गूथ कर अनेक प्रकार के जूडे बनाती थी। स्नान के बाद वे अपने गीले केशो को धूप, अगरु और चदन के धुए से सुखाती थी। फूल, गजरे, सुगध, द्रव्य, पाउडर, अजन, अगराग, होठो और पैरो को रगने के लिए आलता और मुह को सुगधित करने के लिए अनेक प्रसाधन सामग्री का प्रयोग होता था।[8] स्त्रिया चदन और कुकुम का व्यवहार करती

1 रघुवश 6, 75, 11, 4 कुमारसभव, 1, 14 ऋतुसहार, 1, 7, 4, 3, 6, 4 विक्रमावशीयम् 3, 12, 4, 17 देखिए उपाध्याय कृत इडिया इन कालिदास, पृ० 198–201।

2. रघुवश 12, 17 और मालविकाग्निमित्र अक 5।

3. रघुवश, 17, 2ड, 16, 1ड, 619, 10, 75, 9, 13,3,85,18,38, कुमारसभव, 6,81,7,35,5,79।

4. रघुवश, 5,65,13,48,5,52, ऋतुसहार, 1,6,1,8,2,25, कुमारसभव, 8,68,5,70।

5 रघुवश, 6,14,53,16,60,6,68,7,50, कुमारसभव, 7,69 और 16, 56।

6 रघुवश, 7,10, कुमारसभव, 5,10, मालविकाग्निमित्र अंक 5।

7 कुमारसभव, 1,34, रघुवंश, 8,63।

8. इडिया इन कालिदास पृ० 204 और आगे तथा अमरकोष, 2,7, 129–36।

थी और कपोलों को विविध प्रकार के पत्रलेखों से सजाती थी । प्रसाधन के संदर्भ में दर्पण का भी प्रयोग होता था ।[1] अजता के भित्तिचित्रों में केश सवारने की विविध कलाओ का प्रदर्शन हुआ है ।

आमोद प्रमोद और उत्सव

गुप्तकाल में द्यूतक्रीडा[2] और चौपड का खेल[3] नागरिकों के प्रमुख मनोरंजन के साधन थे । पानगोष्ठियो का प्रचलन था, जहा लोग सामूहिक रूप से सुरापान करते थे ।[4] आखेट और मृगया भी मनोरंजन का प्रिय साधन थे ।[5] जलक्रीडा और नौका विहार भी प्रचलित था ।[6] लडके, लडकिया कदुक (गेद) खेलते थे ।[7] मुर्गे और मेढे लडाना भी लोगो के मनोरजन का साधन था ।[8] सारिका, कोयल, काक, तीतर, चातक, कबूतर, मोर और हस पाले जाते थे ।[9] वर्ष मे सार्वजनिक उत्सव भी मनाये जाते थे, जैसे कौमुदी महोत्सव शरदपूर्णिमा को मनाया जाता था ।[10] चैत्र की पूर्णिमा को वसतोत्सव मनाया जाता था ।[11] जिसमे लोग नाटक खेलते थे । फाहियान के अनुसार पाटिलपुत्र मे रथयात्रा का उत्सव प्रति वर्ष मनाया जाता था ।

आर्थिक जीवन

गुप्तकाल मे जितनी प्रगति सम्यता और ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र मे हुई, उतनी ही आर्थिक क्षेत्र मे हुई । विशाल साम्राज्य के अतर्गत एक सुगठित शासन व्यवस्था द्वारा स्थापित शाति से देश के आर्थिक उन्नति के स्रोतो मे अभिवृद्धि हुई । कृषि उद्योग धधो और व्यापार की बहुत अधिक उन्नति हुई फलत देश समृद्ध हो गया ।

---

1 इडियन कल्चर खड 1, अक 4,1935, पृ० 660–61 और इंडिया इन कालिदास, पृ० 208 ।

2 मृच्छकटिक, अक 2 ।

3 रघुवश, 6,18 ।

4 इडिया इन कालिदास, 212 ।

5. वही ।

6 रघुवश, 9,37,16,13,19-9,6,48,16,54, मेघदूत, 1,37 ।

7. रघुवंश 18,28 ।

8. नारदस्मृति, 17,1, बृहस्पति स्मृति, 26,3 और मालविकाग्निमित्र, अक 1 ।

9. मृच्छकटिक, अंक, 4 ।

10. मुद्राराक्षस अंक 6, कामसूत्र, 1,4,42 ।

11 शाकुतलम्, अंक 6

कृषि

गुप्तकालीन आर्थिक जीवन कृषि प्रधान था। खेती राज्य की आय का मुख्य साधन थी। वर्ष मे अनेक फसलें बोई और काटी जाती थी। वराहविहिर की बृहत्संहिता से रबी, खरीफ और तीसरी साधारण फसल उपजाने का ज्ञान होता है।[1] हुएनसाग[2] ने अनेक अन्नो का उल्लेख किया है। जौ, गेहूँ, चावल, दाले, तेल, (तिल और सरसो आदि), अदरख, ईख, सब्जिया, शक्कर और गुड का उल्लेख कालिदास के ग्रथो मे हुआ है। चावल की कुछ किस्मे ऐसी थी जो साठ दिनो मे तैयार होती थो।[3] इत्सिग के अनुसार उत्तर-पश्चिम और पश्चिम मे चावल और जौ की और मगध मे चावल की प्रधानता थी।[4] वराहमिहिर ने फलों की विस्तृत खेती का उल्लेख किया है जिनमे आम, केला, इमली, नारियल और कटहल प्रमुख है। केसर की खेती होती थी।[5] मलय की उपत्यका मे गरम मसालो—काली मिर्च इलायची, लौग, चदन, कपूर आदि की खेती होती थी।[6] चरक और सुश्रुत मे अन्नो की विस्तृत तालिका दी है।[7] हल बैलो से खेती होती थी।[8] कृषि की दशा अच्छी थी। देश मे खाद्य-पदार्थो की बहुलता थी।

कृषि के तौर तरीके परपरागत थे। वर्षा और झीलो, तालो आदि से खेत सिचते थे। भूमि उपजाऊ थी और वर्षा पर्याप्त होती थी। स्कदगुप्त के **जूनागढ़ अभिलेख** मे राज्य का सिचाई के लिए बाध की मरम्मत का उल्लेख उपलब्ध है। गिरनार पर्वत पर सुदर्शन नामक झील का निर्माण चद्रगुप्त मौर्य के शासन काल मे हुआ था। अशोक के समय मे सिंचाई के लिए इस झील से एक नहर निकाली गई थी। इसका बाध टूट जाने के कारण रुद्रदामा ने उसे बधवाया था और अत मे उनके पुन टूटने पर स्कदगुप्त ने उसका जीर्णोद्धार करा कर खेती

1 बृहत्संहिता, 5,21,9 42,10,18, 25,25 और अमरकोष, 2,9।

2. बील का अनुवाद, 1,177 और आगे।

3. अमरकोष, 3,9।

4. हुएनसाग ने भी इसकी पुष्टि की है और लिखा है कि उसकी सुगध बडी भीनी होती थी। इसे उच्च वर्ग के लोग खाते थे। बील, वही।

5. ईत्सिग का वृत्तात, 43–44।

6 रघुवंश, 4,45–48, अमरकोष, 2,6,31 और बील का अनुवाद, 2,193 और 288।

7. चरक सहिता, सूत्र स्थान, 27,5–10, 27,26–33, सुश्रुत सूत्र स्थान, 46, 9–12, 46, 139–204।

8 देखिए अमरकोष।

की रक्षा की थी।[1] वन-संपत्ति का महत्त्व समझा जाता था। अमरकोष में अनेक प्रकार के बनों का उल्लेख है।

उद्योग-धंधे एवं पेशे

साहित्यिक एवं पुरातात्विक सूत्रों से ज्ञात होता है कि गुप्त काल मे वस्त्र व्यवसाय पर्याप्त विकसित दशा में था। अमरकोष[2] में चार प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख हुआ है—1 रेशो के बने हुए कपडे। 2 रूई के कपडे, 3 रेशमी वस्त्र और 4 ऊनी कपडे। वस्त्र तैयार करने की प्रक्रिया का विवरण भी दिया हुआ है। वस्त्र के निर्माण के साथ रगने का व्यवसाय भी उन्नत अवस्था में था। यद्यपि अधिकतर लोग बिना सिले कपडे पहनते थे। किंतु गुप्त सम्राट के कुछ सिक्को पर तथा अजता की चित्रकारी से पता चलता है कि सिले हुए कपडे भी पहने जाते थे। फाहियान ने लिखा है कि कपडा रगने की कला भी उच्च अवस्था मे थी।

विविध प्रकार के आभूषणों के प्रयोग से पता चलता है कि स्वर्णकारी का व्यवसाय उन्नतावस्था मे था। वास्तव मे सुवर्णकार की कला इतनी विकसित थी कि उसके द्वारा विज्ञान की एक नयी शाखा का जन्म हुआ जिसका नाम रत्न-परीक्षा था।[3] वृहत्संहिता में चौबीस प्रकार के आभूषणो की तालिका उपलब्ध है।[4] इस काल के जौहरी रत्न परीक्षा मे विशेष निपुण थे। हाथी दात के आभूषण भी बनते थे। कालिदास के ग्रथो मे मछली पकडना,[5] राजसेवा,[6] शिक्षण,[7] पौरोहित्य,[8] नर्तकी-गायिका-गायिका कार्य, उद्यान कार्य,[9] शिकार,[10] शिल्प-वास्तु कर्म आदि व्यवसायो का उल्लेख है।

वाणिज्य एव व्यापार

गुप्त कालीन साहित्य में तात्कालिक वाणिज्य पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। वाणिज्य के बल पर देश धन धान्य पूर्ण हो गया था। वाणिज्यपतियो का

---

1. कार्पस इसक्रिप्शनम् इकिरम, 3, पृ० 58 पक्ति 15–23।
2. देखिये, अमरकोश, 2, 6,113–119।
3. देखिये कामसूत्र, 80,4–18, 81,1–31,82,1–10।
4. देखिये, क्लासिकल एज पृ० 588।
5. शाकुंतलम्, पृ० 183।
6. राज्य के कर्मचारी।
7. मालविकाग्निमित्र, पृ० 17।
8. शाकुतलम् पृ० 183।
9. मेघदूत पृ० 26।
10. शाकुतलम् पृ० 26, और रघुवंश, 16, 38।

समाज में विशेष आदर होता था। वणिक्पथ दो प्रकार के थे—जल मार्ग और स्थल मार्ग।

जल मार्ग के अतर्गत नदी और समुद्री मार्ग द्वारा व्यापार होता था। फाहियान ने पाटिलपुत्र से चपा तक नाव से यात्रा की थी। चीन लौटते समय उसने सागर की यात्रा की थी। लौटते समय अनेक भारतीय उसके सहयात्री थे। तूफान आने पर कुछ यात्रियो ने भारतीय सागर मे तूफान के सकट का कारण बौद्ध चीनी यात्री को समझ कर, उसे सागर मे फेंक देने को तत्पर हो गये। बडी मुश्किल से उसके प्राण बचे। इन उल्लेखो से पता चलता है कि देश विदेशो (अरब, मिश्र, रोम आदि) गुप्तकालीन महान् जलसार्थवाह, जब द्वीपातरो से स्वर्ण—रत्न लेकर लौटते थे तब वे स्वर्ण का दान किया करते थे।[2] गुप्तकाल मे पश्चिमी समुद्र तट पर मरुकच्छ, शूरक कल्याण और पूर्वी तट पर ताम्रलिप्ति के प्रसिद्ध बदरगाह थे। श्री कुमारस्वामी के अनुसार भारत मे जहाज-निर्माण की कला का गुप्त और हर्ष का काल विशिष्ट रहा होगा, जबकि भारत वासियो ने पेगु, कबोडिया, जावा, सुमात्रा और बोर्नियो आदि मे अनेक उपनिवेशो की स्थापना की थी तथा चीन, अरब और फारस मे व्यापारिक सस्थानो की स्थापना कर महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था।[3] गुप्तकाल मे पोत निर्माण कला ने भी अपूर्व प्रगति की थी। चीनी यात्री जावा चे बोरोबुदूर नामक बौद्ध मदिर मे जहाज के अनेक चित्र अकित है, जो पोत-निर्माण कला प्रगति के सूचक है। वराहमिहिर के अनुसार समुद्र से मोती निकालना भी एक राष्ट्रीय व्यवसाय था।

कास्मास इडि-कोप्लाएस्टस नामक भूवेत्ता (छठी शती) का कहना है कि सिहल समुद्री व्यापार का बडा केंद्र था। वहा ईरान और अरब के जहाज आते थे और वहीं से विदेशो को जहाज जाते थे।[4] फाहियान ने समुद्र की कठिनाइयो का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।[5] चीनी यात्री इत्सिग कई सौ सौदागरो के साथ ताम्रलिप्ति से बोध गया था।[6] हुएनसाग के अनुसार ताम्रलिप्ति स्थल और जलमार्ग से मिलने के कारण वस्तुओ के वितरण का बडा केंद्र था।[7]

---

1. लेगी, रिकार्ड आफ बुद्धिस्ट किंगड्म्स, 165।
2. वही, पृ० 113।
3. आर्ट ऐंड क्राफ्ट इन इडिया पृ० 166।
4. मैक्क्रिडल, ऐशेंट इडिया, पृ० 160।
5. लेगी, रेकार्ड आफ बुद्धिस्ट किंगडंस, पृ० 111।
6. यात्रा विवरण, 2,190,194,196।
7. वही।

इसी प्रकार उडीसा सागर तट पर कोगोद नामक बडा बदरगाह था।[1] देश के अदर अनेक वणिक् पथों का उल्लेख हुआ है। उज्जयिनी नगर लगभग सारे प्रमुख उत्तरी नगरों से वणिक् पथो द्वारा जुडा हुआ था।

आयात-निर्यात

चीन से 'चीनाशुक' नामक रेशम भारत आता था।[2] ईरान और यूनान से घोडे भारत आते थे।[3] अरबी घोडे अपनी अलग विशेषता रखते थे। विदेशो से भारत आने वाली वस्तुओ मे सुरा, टिन, शीशा, मूगा, वस्त्र, काच, सिंदूर, मरहम, चादी के बरतन, गाने वाले लडके, अत पुर के लिए सुदरिया, पुरानी मदिरा आदि आती थी। सोमाली देश, वक्षु प्रदेश, यूनान, अरब, फरगाना, बलख, फारस, सिहल आदि से भारत मे दास-दासिया लायी जाती थी। भाषा न जानने के कारण उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम केवल सकेत होते थे।[4] हिमालय और सिंधु की कस्तूरी और काली मिर्च मलाबार के बदरगाहों से विदेश आती थी। 'कोस्मास' के उल्लेख के अनुसार सुगधित लकडी का निर्यात कल्याण के बदरगाह से होता था।[5] भारतीय केसर और चदन का निर्यात ताम्लिप्त, चपा आदि को होता था।[6] चदन को लकडी की मूर्तिया बनती थी। भारतीय चदन की निर्मित एक बुद्ध मूर्ति 519 ई० मे फूनान के राजा रुद्रवर्मा ने चीनी सम्राट को भेजी थी।[7] भारतवर्ष से चीन को जाने के लिए अनेक मार्ग थे। प्रथम सुलेमान की पहाडियो से बाल्त्री मध्य एशिया होकर चीन जाता था। चीनी यात्री फाहियान और हुएनसाग इसी मार्ग से आये थे। दूसरा काश्मीर और कराकोरम होकर जाने वाला मार्ग था। तीसरा मगध और पुड्रवर्धन (बगाल) और कामरूप और (असम) होकर चीन जाता था।[8]

---

1 द क्लासिक एज, पृ० 597।

2. कुमारसंभव, 7,3।

3. रघुवंश, 4,62,5,73 और मालविकाग्निमित्र, पृ० 102।

4. अंतगडदसाओ (बार्नेट का अनुवाद), पृ० 28–29।

5. कोस्मास, पृ० 266–67, द्रष्टव्य गुप्तकाल का सास्कृतिक इतिहास, पृ० 258।

6 सिरो-इरानिका, पृ० 45, द्रष्टव्य गुप्तकाल का सास्कृतिक इतिहास, पृ० 257।

7 बुलेटिन, हनोई, पृ० 270–71 द्रष्टव्य गुप्तकाल का सास्कृतिक इतिहास, पृ० 257।

8. द क्लासिकल एज, पृ० 599।

श्रेणियां और निगम

प्राचीन काल में आर्थिक जीवन मे व्यापारियों और व्यवसायियों की श्रेणिया और निगमो का बडा महत्त्व रहा है। समान व्यवसाय करने वाले लोग सामूहिक सहयोग के रूप मे अपना सघटन बना लेते थे और उसी के माध्यम से अपना कार्य करते थे।[1] गुप्तकालीन अभिलेखों में श्रेणियो के अनेक उल्लेख उपलब्ध है। इन अभिलेखो में श्रेणिप्रमुखों, व्यापारियो और कारीगरो के समूहो तथा इसी प्रकार की अन्य सस्थाओ के उल्लेख द्वारा गुप्तकालीन आर्थिक सगठन का स्वरूप दृष्टिगत होता है।[2] मदसौर में प्राप्त एक अभिलेख मे रेशमी कपडा बुनने वालो की श्रेणी[3] का और इदौर से प्राप्त एक ताम्रलेख मे तैलिक श्रेणी[4] का उल्लेख है। बौद्ध साहित्य मे श्रेणियो के रूप मे शाखिक (शख का काम करने वाले), मणिकार, प्रास्तरिक (पत्थर का कार्य करने वाले), गधी, काशाविक (रेशमी और ऊनी कपडे बनाने वाले), दंतकार (हाथी दात का काम करने वाले), वारिक (पान बेचने वाले), कार्पासिक (कपास का व्यवसाय करने वाले), खडकार (मिठाई बनाने वाले), फल वणिज (फल बेचने वाले), शर्कर वणिज (चीनी बेचने वाले) आदि का वर्णन उपलब्ध है।[5] इसी प्रकार गुप्तकालीन ग्रथ **जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति** मे अठारह श्रेणियो का नाम वर्णित है।[6]

वाणिज्य और व्यवसाय मे लगे हुए लोगो का एक और सगठन था, जो निगम कहलाता था। निगम किसी एक व्यवसाय के लोगो का सगठन न होकर अनेक व्यवसायो के समूहो का सगठन था। यह तीन वर्गो मे विभक्त था—एक निगम उद्योग का काम करने वाले लोगो का था, जो कुलिक कहलाते थे। दूसरा निगम देश-विदेश मे सामग्री लाने वाले सार्थवाह लोगों का था और तीसरा निगम स्थायी व्यवसायी लोगो का था, जो एक स्थान पर अपनी दूकान खोलकर स्थानीय लोगो की आवश्यकता पूर्ति किया करते थे। इन्हे श्रेष्ठि कहते थे। अभिलेखो और मुहरो पर कुलिक और श्रेष्ठि निगमो का उल्लेख हुआ है।[7] इन तीनो वर्गों का अपना सामुदायिक निगम होने के अतिरिक्त पारस्परिक

---

1 देखिये रमेशचंद्र मजुमदार कृत 'प्राचीन भारत में संघटित जीवन' (अनुवादक—कृष्णदत्त बाजपेयी)।

2. दाडेकर कृत ए हिस्ट्री आफ दि गुप्ताज, 195।

3. कार्पस, 3,81।

4. वही, 3,70।

5 महावस्तु, 3,113।

6. देखिये सार्थवाह, 176।

7 आर्क्यालोजिकल सर्वे आफ इंडिया एनुअल रिपोर्ट, 1911–12, पृ० 56, मुहर 55अ और 1913–14, पृ० 184 मुहर 8ब।

सयुक्त संघटन भी था। तीनो ने मिलकर श्रेष्ठि-सार्थवाह-कुलिक निगम की स्थापना की थी। इनकी मुहरे वैशाली मे मिली हैं।[1] इन श्रेणियों और निगमों के संबंध मे डॉ० ब्लाक की धारणा है कि आधुनिक 'चेंबर आफ कामर्स' अथवा 'मर्चेंट एसोसियेशन' की भाति सस्थाएँ रही होंगी। गुप्तकाल मे व्यवसायी श्रेणियो मे सगठित थे। गुप्तकालीन मोहरों और शिलालेखो से पता चलता है कि जुलाहे और तेलियो आदि की व्यावसायिक श्रेणिया थी। **कुमार गुप्त प्रथम के मंदसोर लेख** मे रेशमी वस्त्र के निर्माताओ की एक श्रेणी का उल्लेख है, जो लाट देश से आकर दशपुर मे बस गयी थी। स्कदगुप्त के एक शिलालेख में तैलको की एक श्रेणी का उल्लेख है। इसी प्रकार कुम्हार, शिल्पकार, वाणिक आदि की भी श्रेणियो के उल्लेख इस काल के लेखो मे उपलब्ध है। गुप्तकाल में श्रेणी और निगम बैंक का कार्य भी करते थे। वे सूद लेकर धन दिया करते थे। लोग उसमे धन जमा करते थे, जिसके बदले उन्हें निश्चित व्याज मिलता था।

गुप्त मम्राटो ने सोने चादी और ताबे के सिक्के चलाये थे। भूमि क्रय-विक्रय का मूल्य निर्धारण स्वर्ण मुद्राओ से होता था। भू-कर के रूप में हिरण्य का उल्लेख मिलता है। कालिदास ने 'निष्क' नामक सिक्के का उल्लेख किया है।[2]

धर्म

गुप्त काल धार्मिक विकास और धार्मिक सहिष्णुता के लिए विशेष रूप से प्रसिद्ध है। हिंदू धर्म का आधुनिक रूप बहुत अशो मे गुप्त काल में संवारा गया। गुप्तकालीन धार्मिक जीवन की प्रमुख विशेषता रही है कि इसने धर्म की जनवादी परपरा को जन्म दिया, जिसकी अभिव्यक्ति शैव वैष्णव एव महायान के द्वारा हुई पुराणो और स्मृतियो को उन्होने नये सिरे से सपादन किया। गुप्त काल के हिंदू धर्म मे प्राचीन और नवीन तत्त्वो का समन्वय था।[3] अधिकाश गुप्त सम्राट् वैष्णव थे और अपने को 'परम भागवत' कहते थे यों राजाओ के वैष्णव धर्म अपनाने से उसे राजधर्म का सा पद मिल गया होगा किंतु अन्य मतों और धर्मों के विकास मे उन्होने न तो बाधा पहुचाई और न हठ धर्मी ही दिखाई, वरन् उन्होंने अनेक मतों एव धर्मों (शैव, शाक्त, बौद्ध और जैन) को विकास का अवसर प्रदान किया और सहिष्णुता का व्यवहार किया। गुप्तकालीन सुख शाति, समृद्धि और सहिष्णुता का सभी धर्मों ने लाभ उठाया।

1. आर्क्यालोजिकल सर्वे ऑफ इडिया एनुअल रिपोर्ट, 1903–4 पृ० 101।

2. मालविकाग्निमित्र, अंक, 5।

8. द क्लासिकल एज, पृ० 367 और वाकाटक गुप्त एज, पृ० 101।

था ।[1] विष्णु उपासना के अतर्गत लक्ष्मी की पूजा भी गुप्तकाल मे प्रचलित थी। उसका अविर्भाव वैदिक काल मे ही हो चुका था गुप्त काल मे उनका रूप निखर कर आया और वे धन, ऐश्वर्य एव समृद्धि की देवी मानी जाने लगी। उनकी कल्पना विष्णु पत्नी के रूप में की गयी। इस रूप मे उनका उल्लेख स्कंदगुप्त के जूनागढ अभिलेख में होता है।[2]

इस प्रकार गुप्तकालीन वैष्णव धर्म का रूप नाना लोक-आस्थाओ का समन्वय था और उसमे अनेक देवी देवताओ विष्णु के साथ एकाकार होते हुए भी अपनी स्वतत्र सत्ता बनाये हुए थे।

कुछ विद्वानो[3] ने गुप्त सम्राटो के वैष्णव होने मे सदेह व्यक्त किया है किंतु यह मत संगत नही प्रतीत होता। मेहरौली के लौह स्तभ के अनुसार (चद्रगुप्त द्वितीय) ने विष्णु ध्वज स्थापित किया था और उसके कुछ सिक्को पर चक्रपुरुष का अकन है लेखो मे उमे परम भागवत कहा गया है। वैष्णव होने का पुष्ट प्रमाण है। इसी प्रकार भितरी स्तंभ लेख से प्रकट है कि स्कदगुप्त ने शारगिणि प्रतिमा स्थापित की थी। समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त प्रथम ने अश्वमेध यज्ञ किये थे, जो वैदिक धर्म के द्योतक है। फिर भी समुद्रगुप्त के शासनकाल मे वैष्णव धर्म का खूब प्रचार हुआ। मु डेश्वरी (शाहाबाद, बिहार) से प्राप्त अभिलेख में श्रीनारायण के मदिर का उल्लेख है। इसमे राजा के नाम का उल्लेख नही है। लेख और लिपि के आधार पर एन० जी० मजूमदार ने[4] इसे समुद्रगुप्त कालीन माना है। उदयगिरि (विदिशा) की एक गुफा पर अकित चंद्रगुप्त-कालीन लेख में एक चतुर्भुजी विष्णु[5] और वराह की[6] मूर्तियो का अकन हुआ है। चद्रगुप्त की पुत्री प्रभावती गुप्ता और उसके पति वाकाटक नरेश रुद्रसेन (द्वितीय) के वैष्णव होने का प्रमाण उसके लेखो मे उपलब्ध है।[7] भीतरगाव (कानपुर जिला) मे गुप्तकालीन मदिर सभवत वैष्णव मदिर है। जूनागढ के अभिलेख का श्रीगणेश विष्णु की स्तुति से हुआ है। इसमे विष्णु मदिर की स्थापना का

---

1 वासुदेव शरण अग्रवाल कृत स्टडीज इन इडियन आर्ट पृ० 222।

2 कार्पस, 3, पृ० 57।

3. देखिये, दीक्षितार कृत गुप्त पालिटी, पृ० 292।

4 इडियन ऐटिक्वरी, 1920, पृ० 25।

5 कार्पस, 3, पृ० 21।

6. कुमारस्वामी कृत हिस्ट्री ऑफ इडियन एड इंडोनेशियन आर्ट, फलक, 174।

7. एपिग्राफिया इडिका, 25, पृ० 41, कार्पस, 3,336।

उल्लेख है।[1] मंदसौर, एरण और खोह (मध्यप्रदेश) से प्राप्त अभिलेखों तथा दामोदरपुर (बगाल) ताम्रलेख पत्र लेख गुप्तकाल के वैष्णवधर्म के प्रचार का ज्ञान प्राप्त होता है।[2] देवगढ (ललितपुर) स्थित दशावतार मदिर, एक मौखरी राजा के जौनपुर अभिलेख[3] दूसरे मौखरी राजा के बराबर (गया जिला) गुहा-भिलेख[4] तथा पहाडपुर (पूर्वी बगाल) से प्राप्त कई मिट्टी के फलक[5] वैष्णव धर्म से सबधित है।

शैव मत

शैव धर्म का मुख्य आधार साधना और तपस्या है। शैव धर्म की उपासना मे योगसाधना और विधि (जप आदि) का विशेष महत्त्व है। शिव की उपासना के अनेक अभिलेख प्रमाण मिले हैं।[6] शिव के अनेक नाम प्रचलित थे, यथा महाभैरव भूतपति, हर, कपालेश्वर, महेश्वर, पशुपति, शभु, शूलपाणि आदि। शिव की उपासना लिग और मानवरूप मे गुप्तकाल मे प्रचलित थी। कभी-कभी उनका लिंग और मानव सयुक्त रूप भी प्रचलित था, जिसमे लिंग पर मानव मुख दिखाये गये हैं। चद्रगुप्त द्वितीय के मत्री वीरसेन ने उदयगिरि में एक शिव मदिर का निर्माण कराया था।[7] इसी सम्राट् का मथुरा से एक अभिलेख है जो शैव धर्म के पाशुपत सप्रदाय से सबधित है। कुमारगुप्त प्रथम के काल का **करमदांडा लिग अभिलेख** मे प्रकट होता है कि तात्कालिक भक्त शिव का जुलूस निकालते थे। समुद्रगुप्त[8] की **प्रयाग प्रशस्ति** मे शिव तथा उनके जटाजूट से गगा के उद्भव का उल्लेख है। इसके आधार पर आर० डी० बनर्जी ने प्रशस्तिकार हरिषेण के शैव होने का मत प्रतिपादित किया है।[9] भूमरा और खोह में इस काल के शैव मदिर निर्मित हुए। राजघाट (वाराणसी) की मिट्टी की मुहरें, वहा पर गुप्तकाल मे अनेक शिवालय होने की सूचना देती है। कालिदास ने उज्जयिनी मे महाकाल मदिर का उल्लेख किया है।[10] कालिदास स्वय शैव थे।

1 क्लासिकल एज, पृ० 512।

2 कार्पस, 3, पृ० 89।

3. वही, 3, पृ० 229-30।

4 वही, 3, पृ० 222-23।

5 देखिये, एक्सकेवेशन्स ऐट पहाडपुर।

6 कार्पस, 3 225-226-236, 283, 289 आदि।

7 एपिग्राफिया इडिका, 21, 189।

8. वही, 100, पृ० 71।

9 100, पृ० 71।

10 बनर्जी, दि एज आफ दि इम्पीरियल गुप्ताज पृ० 102।

वलभी के मैत्रक[1] मौखरि नरेश अनंतवर्मन्[2] और गुप्तो के समकालीन कई वाकाटक राजा भी शैव थे।[3] गुप्तो के शत्रु यशोवर्धन[4] और हूण भी थे।[5]

गुप्तकाल मे शिव के साथ-साथ शक्ति देवी की, जो पार्वती, दुर्गा, महिष-मर्दिनी आदि नामो से प्रख्यात थी, पूजा होती थी। उदयगिरि मध्यप्रदेश की एक गुफा में दुर्गा की मूर्तिया हैं। भूमरा (मध्यप्रदेश) मे भी महिषमर्दिनी की मूर्ति निर्मित की गयी थी। सूर्य की पूजा प्रचलित थी। स्कदगुप्त के **इदौर ताम्र-पत्र लेख** मे सूर्य की उपासना की गयी है।[6] भूमरा मे सूर्य की एक मूर्ति प्राप्त हुई है। कुमारगुप्तकालीन एक रेशमी वस्त्र बनानेवालो की श्रेणी के लोगो ने मदसौर में एक सूर्यमदिर का निर्माण कराया था।[7] **मदसौर शिलालेख** के प्रारभ में सूर्य की स्तुति की गयी है। भूमरा मे एक सुदर सूर्य की मूर्ति भी मिली है। कुमारगुप्तकालीन एक अभिलेख मे कार्तिकेय के मदिर निर्माण का उल्लेख है।[8] इस काल मे सप्तमातृकाओ की पूजा भी प्रचलित थी।[9] इनके अतिरिक्त अन्य अनेक देवताओ के प्रति लोगो की आस्था थी।

बौद्धधर्म

गुप्तकाल मे हिंदू धर्म की विशेष उन्नति हुई, किंतु बौद्धधर्म भी फला-फूला। गुप्तवश के प्रारभिक सम्राट् श्री गुप्त ने एक बौद्ध मदिर का निर्माण कराया था।[10] चीनी यात्रियो के अनुसार समुद्रगुप्त ने सिहल के राजा को भारत को बौद्ध-विहार के निर्माण की अनुमति दी थी।[11] कुमारगुप्त और उसके उत्तरा-धिकारियो ने नालदा मे अनेक सघाराम निर्मित कराये थे।[12] इन उदाहरणो से

---

1 मेघदूत, 1, 34।

2 कनिंघम 3, पृ० 167-169, 181-89।

3. कार्पस, 240-41।

4 वही, 147।

5 वही 162-63।

6 वही, 3, पृ० 83।

7 वही, 3, पृ० 8-42।

8 वही, 3, पृ० 49, 76।

9 इडियन एटीक्वेरी, 10, 110 और जर्नल आफ एशियाटिक सोसायटी 13, (एन० एल०) पृष्ठ 571।

10 सी० य० की० बील कृत अनुवाद।

11. कनिंघम, 3 पृ० 32 33।

12 वही, पृ० 162 और 281।

सिद्ध है गुप्त सम्राटों ने बौद्धधर्म को परोक्ष रूप से संरक्षण प्रदान किया था। फाहियान ने वर्तमान उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल और मध्य भारत में बौद्धधर्म को विकसित अवस्था में पाया था।

अभिलेखिक सूत्रों से ज्ञात होता है कि काकनदबोट के एक बिहार को चद्रगुप्त विक्रमादित्य के एक अधिकारी ने पाच भिक्षुओ के भोजन और रत्नगृह मे जलाने के लिए दान दिया था।[1] गुप्तकाल मे भगवान बुद्ध की मूर्तियो के निर्माण एव स्थापना के अनेक उदाहरण प्राप्त होते है।[2] चीनी यात्री फाहियान के अनुसार मथुरा मे तीन सहस्र भिक्षु रहते थे। संकास्य (फरुखाबाद जिला मे स्थित सकिसा) में उसने हीनयान और महायान सप्रदायों के एक सहस्र भिक्षुओ को देखा था। कन्नौज मे उसने एक महायानी और एक हीनयानी दो विहार देखे थे। वाराणसी मे भी उसने बौद्ध भिक्षु देखे थे। उसने लिखा है कि "इस काल मे साकेत, श्रावस्ती, कोसल, कपिलवस्तु आदि का महत्त्व बौद्ध धर्म की दृष्टि से घट गया था। यहा के बिहार उजड चुके थे। फाहियान के अनुसार मथुरा, कौशाबी, कुशीनगर और सारनाथ अब भी बौद्धधर्म के प्रधान केंद्र थे।

नालंदा विश्वविद्यालयो को गुप्त सम्राटो ने सहायता दी थी। यह बौद्ध विहार और विद्या का महान केंद्र था। अजता, एलोरा, बाघ आदि में बौद्ध गुहाए (बिहार और चैत्य) बनी। गुप्तकाल मे आध्र देश बौद्धधर्म का महत्त्वपूर्ण केंद्र था। काची भी बौद्धधर्म का अन्य प्रसिद्ध केंद्र था जहाँ अनेक बौद्धभिक्षु रहते थे। वसुबधु और असग का भी प्रादुर्भाव भी इसी युग में हुआ, वे बौद्ध दार्शनिक थे। यही प्रसिद्ध तार्किक दिङ्नाग उत्पन्न हुआ था। नालंदा विश्वविद्यालय का उद्‌भट बौद्ध आचार्य धर्मपाल यही का था। वलभी (सौराष्ट्र) भी बौद्धधर्म का प्रसिद्ध केंद्र था। इसके अतिरिक्त सिंहलद्वीप हीनयान सप्रदाय का केंद्र था। यही बौद्धधर्म के ग्रथ दीपवंश और महावंश की रचना हुई। महायान सप्रदाय ब्राह्मण धर्म के भक्तिमार्ग से अत्यधिक प्रभावित था। इसी कारण संभवत बुद्ध को अवतार मान कर उनकी पूजा होने लगी थी। गुप्तकाल में भगवान् बुद्ध की असख्य मूर्तिया बनी। अवलोकितेश्वर, मजुश्री आदि की मूर्तिया भी बौद्धकाल में निर्मित हुईं। अनेक स्तूपो, चैत्यो और बिहारों का निर्माण हुआ। बौद्धधर्म के अनेक ग्रथ **दिव्यावदान, विशुद्धिमग्ग, अभिधम्मकोश, प्रमाणसमुच्चय** और **न्यायप्रवेश** आदि इसी काल मे लिखे गये हैं।

---

1 वही, 263, 272-4, 279, 283।

2. देखिये, लेगी, ए रिकार्द आफ बुद्धिस्ट किंगडम्स।

जैनधर्म

गुप्तकाल में जैनधर्म को भी अपनी उन्नति और विकास का अवसर प्राप्त हुआ। उत्तर प्रदेश मे मथुरा और कहाव सौराष्ट्र मे वलभी, मध्यप्रदेश मे उदयगिरि (विदिशा) और बगाल मे पुड्रवर्द्धन जैनधर्म के प्रमुख केंद्र थे। गुप्तकालीन तीर्थंकरो की अनेक कास्य प्रतिमाए चौसा (बक्सर, बिहार राज्य) मे प्राप्त हुई है।[1] बुद्धगुप्त के शासनकाल का एक ताम्रलेख पहाडपुर (पूर्वी बगाल) मे प्राप्त हुआ है जिससे पता चलता है कि एक जैनाचार्य ने जैन विहार का निर्माण कराया था।[2] स्कदगुप्त के शासनकाल का कहाव (देवरिया जिला) मे प्राप्त एक स्तभ-शीर्ष पर तीर्थंकरो की चार मूर्तिया है और नीचे तल मे पार्श्वनाथ की एक विशाल प्रतिमा अकित है।[3] इस स्तभ के निकट ही एक अन्य तीर्थंकर की खडी हुई मूर्ति प्राप्त हुई है।[4] मथुरा मे कुमारगुप्त के शासनकाल की एक तीर्थंकर की मूर्ति मिली है।[5] रामगुप्त के शासनकाल की लेखयुक्त तीन मूर्तिया विदिशा मे प्राप्त हुई है।[6] इसके अतिरिक्त उदयगिरि के गुहाद्वार पर कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल की पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित किये जाने का उल्लेख एक अभिलेख मे मिलता है।[7] जैन तीर्थंकरो की पूजा एव उपासना होती थी। देवरिया (उ० प्र०) जिला मे प्राप्त स्कदगुप्तकालीन एव अभिलेख[8] से पता चलता है कि वहा पर एक जैन धर्मानुयायी ने पाच तीर्थंकरो की मूर्तिया प्रतिष्ठित की थी। इसी काल मे जैनधर्म के मतभेदो के निवारण के लिए श्वेतांबर सप्रदाय का प्रथम सम्मेलन 313 ई० मे बलभी मे संपन्न हुआ। इसकी अध्यक्षता जैनाचार्य नागार्जुन ने की थी। इसके उपरात इसका दूसरा सम्मेलन 453 ई० मे पुन वलभी में हुआ। इसकी अध्यक्षता जैनाचार्य क्षमा श्रवण ने की थी। इसमे जैनधर्म के मतभेदो के निवारण के साथ-साथ जैनधर्म के ग्रथो मे सशोधन भी हुआ और धर्मग्रथो पर टीकाए तथा भाष्यो की रचना की गयी। भारत मे जैनधर्म के श्वेताबर सप्रदाय

1 पटना म्यूजियम कैटलाग आफ एटीक्वेरीज, पृ० 116-117।
2 एपिग्राफिया इडिका, 20, पृ० 66।
3 कार्पस, 3, पृ० 67-68।
4 यह मूर्ति कहाव ग्राम मे ही है।
5 एपिग्राफिया इडिका, 2, 210 और आगे।
6. जनल आफ ओरियटल इस्टीच्यूट, बडौदा, 18, पृ० 247 और आगे।
7 कार्पस, 3, पृ० 259-60।
8 कार्पस, 3, 67-68।

का प्रचार पश्चिमी भारत में था। मथुरा और वलभी इसके केंद्र थे। दिगबर संप्रदाय का प्रचार मुख्यतया पूर्वी और दक्षिणी भारत मे था। पूर्वी भारत का केंद्र पुड्रवर्धन था और दक्षिण मे कर्नाटक। मैसूर तथा तमिल प्रदेश प्रमुख केंद्र थे। दक्षिण भारत में कदंब, गग, पल्लव और पाड्य वंशों के कुछ राजाओं ने जैन-धर्म को राज्याश्रय प्रदान किया था। मदुरा में 470 ई० में एक जैन सभा का आयोजन किया था। इसकी अध्यक्षता आचार्य वज्रनंदि ने की। इसके बाद जैन धर्मग्रथो पर भाष्य और टीकाएं लिखी गयी तथा तामिल भाषा में जैन ग्रथ रचे गये। आरकाट जिला में पाटलिकापुरी नामक प्रख्यात जैनमदिर में मुनि सर्वनंदि ने 458 ई० में लोकविभग और सिद्धसेन ने न्यायवार्ता नामक ग्रंथो की रचना की। फलत जैनदर्शन तथा न्यायदर्शन का विकास हुआ। गुप्तकाल में अनेक जैन धर्मग्रथ प्राकृत की अपेक्षा सस्कृत में रचे गये।

शिक्षा और साहित्य

शिक्षा-प्रणाली

प्राचीनकाल मे शिक्षा का आरभ अक्षर-ज्ञान से होता था।[1] गुरुकुल जाने से पूर्व प्रारभिक शिक्षा घर पर दी जाती थी।[2] अक्षर ज्ञान के लिए लकडी की की तख्ती का प्रयोग होता था।[3] इससे पता चलता है कि शिक्षा का आरंभ लिपि-ज्ञान से होता था। फाहियान के कथन से प्रतीत होता है कि मौखिक शिक्षा ही अधिक प्रचलित थी।

पाठ्य विषय

मनुस्मृति के अनुसार वैदिक साहित्य के अतिरिक्त धर्मशास्त्र (स्मृति) इतिहास, पुराण, अर्थशास्त्र, अन्वीक्षकी तथा दडनीति शिक्षा के मुख्य विषय थे।[4] पुराणो मे चौदह विद्याओ का उल्लेख है।[5] गुप्तकालीन लेख साक्ष्य मे भी चौदह विद्याओ की पुष्टि होती है।[6] ये चौदह विद्याए है—चार वेद, छ वेदाग (छद, शिक्षा, निरुक्त, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष), पुराण, न्याय, मीमासा और धर्मशास्त्र। अन्यत्र अठारह विद्याओ का उल्लेख किया गया है।[7]

1 रघुवश 3, 28 और 18, 4८।
2 वही 3, 31 और 17, 3।
3. देखिये कटाहक जातक।
4. मनुस्मृति, 2, 10, 8, 232 और 9, 329।
5 गरुण पुराण, 213, 3 और वायुपुराण, 1, 61 और आगे।
6. एपिग्राफिया इडिका, 8, पृ० 287।
7. दि, क्लासिकल एज, पृ० 587।

शिक्षा के केंद्र

विद्या एव शिक्षा के केंद्र प्राय. गुरुकुल, विद्यापीठ, मठ तथा विश्वविद्यालय थे। कालिदास के ग्रथो से पता चलता है कि राजाओ के प्रासादों मे विशेष रूप से राजपरिषद् की स्त्रियो तथा कुमारियो आदि के शिक्षण की व्यवस्था थी।[1] गुरुकुल दो प्रकार के थे—एक तो गृहस्थ गुरु के आवास और दूसरे प्रव्रजित गुरु के वनस्थ आश्रम। जब कोई आचार्य विद्या और ज्ञान मे ख्याति अर्जित करता था तो उसका विद्यार्थी-परिवार बढ जाता था। इस प्रकार छोटे गुरुकुल विकसित होकर बडे गुरुकुल बन जाते थे। इनमे से कुछ विश्वविद्यालय का-सा रूप प्राप्त कर लेते थे। गुरुकुल का प्रधान 'कुलपति' कहलाता था।

तीसरे प्रकार के शिक्षा केंद्र विद्यापीठ अथवा विश्वविद्यालय थे। पाटलिपुत्र, मथुरा, उज्जयिनी, वाराणसी और नासिक शिक्षा के प्रमुख केंद्र थे। गुप्त सम्राटों के सरक्षण के फलस्वरूप नालंदा महाविहार का उत्कर्ष एक विश्वविद्यालय के रूप मे हुआ था। हुएनसाग (सातवी शताब्दी मे) के अनुसार यहा रहकर पढनेवालो की सख्या दस हजार थी।[2] नालदा के महल और प्रख्यात आचार्यों के व्यक्तित्व और ज्ञान से आकर्षित होकर चीन आदि देशों के बौद्ध भिक्षु ज्ञानार्जन के लिए आते थे।[3] नालदा मे व्याख्यान, प्रवचन, विवाद और विमर्श के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। जिस प्रकार मगध में नालदा का विश्वविद्यालय बौद्ध दर्शन एवं ज्ञानदान के लिए प्रसिद्ध था उसी प्रकार ब्राह्मण दर्शन एव विद्याओ के लिए काठियावाड स्थित वलभी प्रसिद्ध विद्यासंस्थान था। इसका शुभारभ गुप्तकाल से ही हुआ था।

स्त्री-शिक्षा

गुप्तकालीन साहित्य मे 'उपाध्याया', उपाध्यायी और आचार्या का उल्लेख हुआ है।[4] वात्स्यायन के साक्ष्य के अनुसार सामान्यत स्त्रिया शिक्षित होती थी।[5] उन्हें शास्त्रो का ज्ञान प्राप्त करने का भी अवसर प्राप्त था। वे इतिहास, कथा-साहित्य तथा काव्य-रचना आदि भी पढती थी। इसके अतिरिक्त उनको नृत्य, सगीत, चित्रकला तथा गृहसज्जा आदि की भी शिक्षा दी जाती थी।[6]

---

1 रघुवंश, 8,67।
2 बील, का अनुवाद, पृ० 112।
3 ईत्सिग, वृत्तान्त, पृ० 177।
4 अमरकोष, 2,6,14।
5 कामसूत्र, 1,3,32।
6, वही,

रघुवंश में इंदुमती को कलामर्मज्ञ दिखाया गया है।[1] **अभिज्ञानशाकुन्तल** में शकुन्तला के कमलपत्र पर प्रेमपत्र लिखने का उल्लेख है। **मेघदूत** में यक्ष-पत्नी का अपने पति के नाम पर पद्यबद्ध पत्र लिखने का उल्लेख है। प्रभावती गुप्ता ने अपने पति के निधन के बाद योग्यतापूर्वक शासन का सचालन किया था।

भाषा

गुप्तकाल के पूर्व बौद्धधर्म और जैनधर्म के प्रभाव के कारण पालि और प्राकृत भाषाओ का काफी प्रचार था। गुप्तकाल में हिंदूधर्म विशेषतया वैष्णव और शैव मत के प्रभाव और अन्य के कारण से पालि और प्राकृत का स्थान संस्कृत भाषा ने ले लिया। सस्कृत की जो अजस्र धारा ऋग्वेद काल से चली आ रही थी, किन्तु बाद में कुछ धीमी पड गयी थी, वह गुप्तकाल में अधिक वेगवती हो गयी। पालि और प्राकृत भाषाओ का प्रचलन भी बना रहा। गुप्त-काल में श्वेताबर जैनो के धार्मिक ग्रथ अर्धमागधी प्राकृत मे है। दक्षिण के दिगबर जैनो ने महाराष्ट्री और शौरसेनी प्राकृत मे अपने ग्रंथ लिखे।

साहित्य

गुप्तकालीन साहित्य को निम्नलिखित कोटियों में विभाजित किया जा सकता है —प्रशस्तिया, काव्यग्रथ और नाटक, नीतिग्रथ, स्मृतिग्रथ, कोश और व्याकरण, दर्शनग्रथ और विज्ञान।

प्रशस्तिया

गुप्तकालीन साहित्य का एक विशिष्ट रूप गुप्तकालिक सम्राटो, शिलाओं एव स्तभो तथा सिक्को पर अकित अभिलेख है। स्तंभो पर अकित अभिलेखो में प्रशस्तिया काव्यमय सस्कृत भाषा में लिखी गयी है। समुद्रगुप्त के राजकवि महादडनायक और विदेशमत्री हरिषेण ने राजा की प्रशस्ति स्वयं रची जो अशोक के प्रयाग-स्तभ अकित है।[2] चद्रगुप्त विक्रमादित्य ने महरौली के लौहस्तभ पर अपनी विजयी की प्रशस्ति अकित करायी।[3] गिरनार पर्वत और सैयदपुर भितरी स्तभ पर स्कदगुप्त की विजय और अन्य उपलब्धिया अंकित है।[4] **मंदसौर का सूर्यमंदिर का अभिलेख** कुमारगुप्त द्वितीय के शासनकाल का है और इसे वत्स-भट्टी ने रचा था।[5] वासुल कवि और प्रशस्तिकार था। उसकी रचना के रूप में मदसौर की प्रशस्ति है, जिसमें यशोवर्मन का यशोगान है। गुप्तकाल मे काव्य-

1 रघुवंश, 8,67।

2 इलाहाबाद का स्तभ लेख, फ्लीट, कार्पस भाग 3।

3 कार्पस, 3,32, पृ० 141।

4 वही, पृ० 53 और आगे।

5. मंदसौर का प्रस्तर लेख, कार्पस, 3,18, पृ० 79-88।

शैली का इतना प्रचार था कि गुप्त सम्राट् के सिक्को पर अंकित लेख भी छंद मय हैं।[1]

काव्य ग्रथ और नाटक

कालिदास की गणना संस्कृत साहित्य के मूर्द्धन्य कवियो मे होती है।[2] उन्हें कविकुलगुरु कहा गया है। कवि कालिदास ने **रघुवंश** और **कुमारसंभव** नामक महाकाव्य, **ऋतुसंहार** नामक गीतिकाव्य और **मेघदूत** नामक खंडकाव्य की रचना की।[3] संस्कृत का दूसरा महाकवि भारवि था जिसका चालुक्य राजा पुलकेशी द्वितीय के ऐहोल के अभिलेख मे कालिदास के साथ उल्लेख हुआ है। **किरातार्जुनीय** इसकी कीर्ति का आधार स्तंभ है। इस युग का अन्य प्रसिद्ध कवि वत्सभट्टि था। यह कुमारगुप्त द्वितीय का समकालीन था। भट्टि ने **रावणवध** नामक महाकाव्य की रचना की। इस काल के कवियो मे लंका के नृपति कुमार-दास की भी गणना होती थी।[4] सिंहल के इस राजा ने 517 से 526 ई० तक राज्य किया। उसने **जानकीहरण** नामक महाकाव्य की रचना की। इसके अति-रिक्त कुछ अन्य कवियो का उल्लेख करना उचित होगा। इसमे मातृगुप्त के काल का और उसी का आश्रित कवि भर्तृमेंट (दूसरा नाम हस्तिपक) था। इसका उल्लेख कल्हण ने किया है।[5] बुद्धघोष ने **पद्मचूडामणि**, भौमक ने **रावणार्जुनीयम्** नामक महाकाव्य की रचना की। **रावणार्जुनीयम्** मे जैसा कि नाम से स्पष्ट है रावण और अर्जुन से संबद्ध **रामायण** और **महाभारत** की कथा युगपत् श्लेष के आश्रय से कही गयी है। इस युग मे कुछ शतककार हुए, इनमें भर्तृहरि ने **नीति-शतक**, **शृंगारशतक** और **वैराग्यशतक**, अमरु अथवा अमरुक ने **अमरुशतक**, मयूर के **मयूरशतक**, मातंगदिवाकर ने **भक्तामरस्तोत्र** की रचना की।

नाटककारो मे कालिदास का नाम सर्वोपरि है, जिन्होंने **मालविकाग्निमित्रम्**, **विक्रमोर्वशीयम्** और **अभिज्ञानशाकुंतलम्** नामक उत्कृष्ट नाटको की रचना की। भास के **स्वप्नवासवदत्ता**, **मध्यमव्यायोग**, **दूतकाव्य** और **चारुदत्त** नामक नाटकों

---

1 देखिये, समुद्रगुप्त के ध्वजाधारी सिक्के "समरशत वितत विजयो जिता-रिपुराजितो दिव जयति।" और देखिये, चंद्रगुप्त द्वितीय की अश्वमेध मुद्राए "राजाधिराज पृथ्वी विजित्वा दिव ज्यात्याहृतवाजिमेध ।

2 देखिये, लोकोक्ति 'पुरो कवीना गणना-प्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदास'।

3. देखिये भगवतशरण उपाध्याय कृत इंडिया इन कालिदास।

4 देखिये कुमारगुप्त द्वितीय का मंदसौर अभिलेख।

5 देखिये राजतरंगिणी, 3, 264-66।

की रचना की। अन्य नाटकों में शूद्रक कृत **मृच्छकटिकम्** और विशाखदत्त का **मुद्राराक्षस** तथा **देविचंद्रगुप्तम्** लिखे गये।

3 **स्मृति ग्रंथ** **मनुस्मृति** के आधार पर गुप्तकाल मे स्मृतिया लिखी गयी। यद्यपि इन स्मृतियों का निश्चित काल निर्धारण करना कठिन है तथापि कुछ विद्वानों का मत है कि स्मृति ग्रथो का प्रणयन गुप्तकाल मे हुआ था। इनमें **याज्ञवल्क्य स्मृति, कात्यायन स्मृति, बृहस्पति स्मृति** और **पाराशरस्मृति** उल्लेखनीय हैं। इन स्मृतियो मे तत्कालीन प्रचलित विधिविधानो का विस्तृत विवरण है। इनके अध्ययन से पता चलता है कि गुप्तकाल मे दीवानी (सिविल) कानूनो और न्याय सबधी नियमो का पर्याप्त विकास हो रहा था।

4 **नीति ग्रंथ**—कामदक ने '**कामंदकीय नीतिसार** की रचना की। उसने कौटिल्य के सिद्धातो और शिक्षाओ को अपने ग्रथ का आधार बनाया। इस ग्रंथ में विषय का सपादन एवं प्रतिपादन अधिक सुगम रीति से हुआ है। गुप्तकाल में ससार प्रसिद्ध गल्प ग्रथो मे पंचतत्र और हितोपदेश की भी रचना हुई है। इन ग्रथो मे उल्लिखित कथाए मनोरजक रूप से कथाओ द्वारा नीति की शिक्षा देती हैं। **पचतत्र** के लेखक प० विष्णु शर्मा है। ससार की अधिकाश भाषाओ मे इस ग्रथ का अनुवाद हो चुका है जो इस ग्रथ की लोकप्रियता का द्योतक है।

5 **कोश और व्याकरण—कोश रचना साहित्य का आनुषगिक विषय है।** साहित्य की व्याख्या और रचनाओ के सर्जन मे कोश सहायक होते है। यास्क कृत **निघटु** और **निरुक्त** से वैदिक साहित्य के अध्ययन मे सहायता मिलती है। गुप्तकाल भी कोशकारिता के लिए ख्याति प्राप्त रहा है। प्रसिद्ध कोशकार अमरसिह ने **अमरकोश** की रचना की।

व्याकरण के क्षेत्र मे सूत्रकाल मे अध्ययन सम्पन्न हो रहा था क्योंकि वेदाध्ययन मे यह सहायक विषय था। गुप्तकाल मे भी इस दिशा मे कार्य हुआ। भट्टि, भौमक आदि व्याकरण के विद्वान थे। इसी काल मे **चद्रगोमी** नामक बौद्ध व्याक्यपदीय (व्याकरण) के प्रणेता भर्तृहरि भी हुए। चद्रगोमी ने **चद्रव्याकरण** की रचना की। इस व्याकरण की पद्धति पाणिनि से भिन्न है।

7. **दर्शन ग्रंथ—ब्राह्मण**, बौद्ध और जैन धर्मों ने अपने-अपने सिद्धातो का प्रतिपादन किया, फलत' अनेक ग्रथो की रचना हुई। साख्य दर्शन पर सबसे पहले टीकाकार ईश्वरकृष्ण थे जिन्होंने **सांख्यकारिका** नामक ग्रंथ लिखा। ईश्वरकृष्ण कृत **सांख्यकारिका** पर गौडपाद ने एक भाष्य लिखा। जैमिनी के **मीमांसा** सूत्रो की रचना गुप्तकाल से पूर्व हो चुकी थी, किंतु उस पर प्रामाणिक टीका **शबर भाष्य** है। न्याय सूत्रों पर **वात्स्यायन** ने न्याय भाष्य लिखा। उद्योतकर ने **न्याय भाष्य** पर **न्यायवार्तिक** नामक टीका लिखी। **वैशेषिक** दर्शन पद्धति पर आचार्य

प्रशस्तपाद ने पदार्थधर्मसग्रह नामक ग्रथ लिखा। चद्र नामक विद्वान ने **दशपदार्थ-शास्त्र** लिखा।

गुप्तकाल मे बौद्धधर्म की दो प्रमुख शाखाओ की दो-दो उपशाखाए हो गयी। यथा हीनयान की थेरवाद (स्थविरवाद) और वैभाषिक (सर्वास्तिवाद) शाखाए थी। महायान की माध्यमिक और योगाचार शाखाएं थी। असग योगाचार सप्रदाय के प्रधान योगाचार्य थे। इन्होने **महायान सपरिग्रह**, **प्रकरण आर्य वाचा**, **महायानाभिधर्मसंगीतशास्त्र**, **वज्रछेदिका टीका**, **योगाचार भूमिशास्त्र**, नामक ग्रथ लिखे। **अभिधर्मकोष** वसुबधु की प्रसिद्ध कृति है। बौद्धो के धार्मिक साहित्य मे आचार्य दिङ्नाग की रचनाओ का विशेष महत्त्व है। **प्रमाण समुच्चय** और **न्याय प्रवेश** इनकी प्रसिद्ध कृतिया है। **विशुद्धिमग्ग** नामक ग्रथ मे शील समाधि आदि पर बुद्धघोष ने विषद विवेचन किया। **समतपासादिका** नामक ग्रथ **विनयपिटिक** की टीका है। यह तात्कालिक भौगोलिक तथा ऐतिहासिक तथ्यो का भडार है। **सुमगलविलासिनी** बुद्धघोष की सुविख्यात रचना है, जिसमे **दीघनिकाय** की व्याख्या की गयी है। गुप्तकाल मे जैन ग्रथो को भी लिपिवद्ध किया गया। और जैन दर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रथो की भी रचना हुई। जैनाचार्य सिद्धिसेन का ग्रंथ **न्यायावतार** न्याय की प्रामाणिक कृति है। उन्होने **तत्वानुसारिणी तत्वार्थटीका** नामक मौलिक ग्रथ की रचना की।

विज्ञान

गुप्तकाल मे विज्ञान के विकास का पता चलता है किंतु उसका क्षेत्र सीमित था। गुप्तकालीन विज्ञान के अतर्गत मुख्यत गणित, ज्योतिष और आयुर्वेद का विशेष विकास हुआ। भारतीय ज्योतिष और गणित के तीन प्रमुख स्तभ है, आर्यभट्ट, वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त। ये सभी गुप्तकाल की ही विभूतिया है। आर्यगुप्त का प्रसिद्ध ग्रथ **आर्यभट्टीय** है। उसने गणित को अन्य विषयो से मुक्त कर स्वतत्र रूप दिया। उसके अन्य ग्रथ **दशगीतिक सूत्र** और **आर्याष्टशतक** है। उसने सर्वप्रथम पृथ्वी को गोल बताया, और उसकी परिधि का सही अनुमान किया। उसने सर्वप्रथम ग्रहण का राहु-ग्रास वाला जन-विश्वास निर्मूल कर प्रमाणित किया कि चद्रग्रहण चद्रमा और सूर्य के मध्य पृथ्वी के आ जाने और उसकी चद्रमा पर छाया पड जाने के कारण लगता है। उसके इन वैज्ञानिक तथ्यो का तत्कालीन परपरागत विश्वासो से प्रभावित होकर वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त ने खडन किया। उसने पाचवी शताब्दी में रचित ग्रथ **आर्यभट्टीय** में दशमलव प्रणाली का वर्णन किया है।[1] ज्योतिष ग्रथो मे **वैशिष्ट सिद्धांत** (सिद्ध

---

1. नवी शताब्दी के इब्नवाशिया, दसवी शताब्दी के अलमसूदी और ग्यारहवी शताब्दी के अलबेरुनी आदि अरब के विद्वानो ने यह माना है कि भारतीयों

किया गया कि वर्ष में 366 दिन न होकर 365· 2591 दिन होते हैं); **पोलिस सिद्धांत** (सूर्य-चद्र ग्रहण के नियम) और **रोमक सिद्धांत** तथा सूर्य सिद्धात विशेष महत्त्व के हैं। आर्यभट्ट द्वारा निकाला गया वर्षमान, टालमी द्वारा निकाले हुए काल से अधिक वैज्ञानिक है। संसार में गणित-इतिहास में उसका विशिष्ट स्थान है।

आर्यभट्ट के बाद दूसरा प्रसिद्ध गुप्तकालीन गणितज्ञ एवं ज्योतिषी वराहमिहिर है। अपने ग्रथ **पंचसिद्धांतिका** में पाच प्राचीन सिद्धातो (पैतामह, रोमक, पौलिश, वासिष्ठ, सूर्य) का निरूपण है। वराहमिहिर ने ज्योतिष शास्त्र को तीन शाखाओ में विभाजित किया—तत्र (गणित और ज्योतिष), होरा (जन्मपत्र) और सहिता (फलित ज्योतिष)। इन विषयो पर उसने छ ग्रथ लिखे—**पंचसिद्धांतिका, विवाह पटल, योगमाया, वृहत्सहिता, वृहज्जातक** और **लघुजातक**।

गुप्तकाल का तीसरा प्रसिद्ध ज्योतिषी और गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त था। उसने **ब्रह्मसिद्धांत** नामक ग्रथ लिखा। उसके बाद लगभग 37 वर्ष के प्रयत्न के बाद अपना विख्यात ग्रंथ **खंडखाद्य** लिखा। उसका तीसरा ग्रथ ध्यानग्रह है। उसने न्यूटन से कही पहले यह घोषित कर निरूपित किया था "प्रकृति के नियमानुसार सारी वस्तुए पृथ्वी पर गिरती है क्योंकि पृथ्वी का स्वभाव सभी वस्तुओ को अपनी ओर आकृष्ट करना और रखना है।"

गुप्तकाल के अन्य ज्योतिषियो मे कंडुरग, नि शकु और लाटदेव उल्लेखनीय है। लाटदेव ने रोमक सिद्धात की व्याख्या की थी। अलबेरुनी उसे सूर्य सिद्धात का रचयिता बताता है। लाट द्वारा रोमक और पौलिश दृष्टियों मे सुधार करने के कारण वराहमिहिर का कार्य सरल हो गया। लाटदेव को "सर्वसिद्धात गुरु" कहा गया है।

आयुर्वेद का इतिहास बहुत पुराना है। **चरक संहिता** और **सुश्रुत संहिता** गुप्तकाल से भी प्राचीन है। एक पाडुलिपि मध्य एशिया से मिली है जिसको लिपि के आधार पर गुप्तकालिक आका गया है। इस ग्रथ के सात भाग है। जिनमे प्रथम तीन में आयुर्वेद की चर्चा है। प्रथम भाग में आयु बढाने, नेत्र ज्योति बढाने के उपाय दिये गये हैं। दूसरा भाग **नवनीतक** है जिसमें प्राचीन आयुवदिक ग्रंथो का सार संगृहीत है। इसमें रसों, चूर्णों, तेलो आदि का वर्णन है। इसमे बालको के रोग, निदान और चिकित्सा की व्यवस्था है। गुप्तकाल का प्रख्यात तत्रशास्त्री नागार्जुन था। यह बौद्ध था। अब तक जो चिकित्सा चलती थी वह काष्ठ औषधियो

ने ही सबसे पहले दशमलव प्रणाली का आविष्कार किया और इससे अरब जाति ने भारतवासियों से सीखा और उपरात उन्होंने योरोप मे इसका प्रचार किया।

के आधार पर थी । किंतु गुप्तकाल मे नागार्जुन ने 'रस चिकित्सा' का आविष्कार किया, जिसके अनुसार सोना, चादी, ताबा, लोहा आदि खनिज धातुओ से भी रोगो का निदान हो सकता है । नागार्जुन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आविष्कार 'पारद' का है । इस धातु के आतरिक गुणो की खोज करके और उसे भस्म करने की क्रिया का आविष्कार करके उसने आयुर्वेद और रसायन के इतिहास मे युगातकारी नवयुगारभ किया । शल्य-शास्त्र का ज्ञान भी तात्कालिक चिकित्सको को था । वाग्भट्ट ने आयुर्वेद के एक प्रसिद्ध ग्रथ **अष्टांग हृदय** की रचना की । चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की राजसभा मे आयुर्वेद का प्रसिद्ध विद्वान और चिकित्सक धन्वतरि था ।

कला

कला के क्षेत्र मे गुप्तकाल अपनी उत्कृष्टता की चरम सीमा पर पहुँच गया । कला दो प्रकार की मानी गयी है[1] —स्थित और गतिशील । स्थित कला के अतर्गत, स्थापत्य कला, शिल्पकला और चित्रकला आते है । गतिशील कला मे गति, आरोह-अवरोह तथा भाव-व्यजना का बाहुल्य रहता है । नृत्य, सगीत और नाटक आदि इसके अतर्गत आते है । किसी देश की कला को देखने से ही उस देश के मनुष्यो की मनोवृत्तियो एव मनोभावो का पता चलता है । गुप्तकाल की कला के अंगो का विवरण निम्नलिखित है—

1 स्थापत्य एव वस्तुकला

गुप्तकाल की वास्तुकृतियो मे मदिरो के निर्माण का ऐतिहासिक महत्त्व है । गुप्तकाल तक आते-आते हिंदुओ ने निर्गुण और निराकार ईश्वरोपासना के स्थान पर सगुण एव साकार ईश्वरोपासना को अधिक लोकप्रिय बना दिया था । गुप्त-काल तक अवतारवाद का सिद्धात समाज मे भली-भाति प्रतिष्ठित हो चुका था । इस काल मे मूर्तियो का निर्माण बहुसख्या मे हुआ और मदिरो का विकास किया गया ।

गुप्तकालीन भवन निर्माण कला की दो प्रमुख विशेषताए थी । एक तो विदेशी प्रभाव से मुक्त होकर मौलिक रूप से भारतीय कला का विकास हुआ । इसके अधिकाश उदाहरणो मे ईंटो के स्थान पर पत्थरो का प्रयोग किया गया । दूसरे उन्होने सौदर्य प्रदर्शन और अलकरण मे विदेशी प्रभाव को हटा कर भारतीय अभिप्रायो का प्रयोग किया । गुप्तकाल मे निर्मित वास्तुकला के अधिक उदाहरण उपलब्ध नही है । गुप्तकालीन वास्तुकला के पाच प्रकार उपलब्ध है—

गृह, मदिर, स्तूप, विहार और स्तभ ।

1 सामायत साहित्य म 64 कलाओ का उल्लेख हुआ है किंतु वात्स्यायन कृत कामसूत्र मे 66 कलाओ की सूची उपलब्ध है ।

1. गुहावास्तु

देश के प्राचीनतम गुहामंदिर तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से निर्मित हुए थे।[1] ब्राह्मण धर्म के प्राचीनतम गुहामदिर गुप्तकाल मे निर्मित हुए। ये भिलसा (मध्य-प्रदेश) के समीप उदयगिरि की पहाड़ियों मे स्थित है। गुहावास्तु श्रम एव अर्थ-साध्य है। ये गुहाए चट्टाने काटकर निर्मित हुई थी।[2] इनमे से दो गुहाओ में चद्रगुप्त विक्रमादित्य के अभिलेख उत्कीर्ण है।[3] गुहा के द्वार-स्तभ तथा बाहर की दीवालो पर मूर्तिया निर्मित है। द्वार के दोनो ओर चार द्वारपालो की प्रतिमाए बनी है। चौखट के ऊपरी भाग मे गगा और यमुना की मूर्तिया अकित है। गुहा के बाई ओर बराह अवतार की एक विशाल मूर्ति निर्मित है। उदयगिरि के अतिरिक्त अजता, एलोरा और औरगाबाद और बाघ की कुछ गुफाए भी गुप्तकालिक है।

अजता मे कुल 29 गुफाए है। उनमे से 5 ईसा पूर्व की शताब्दियो की है कुछ अन्य भी गुप्तकाल मे पहले की है। गुप्तकालिक गुहाओ मे दो (19 और 26) चैत्य और शेष विहार है।[4] इन विहारो मे प्राचीनतम विहार 11, 12 और 13 कहे जाते है (समय लगभग 400 ई०) 16 और 17 विहारो का समय 500 ई० है और एक तथा दो छठी शताब्दी के माने जाते है। गुफाओ के स्तभो की सुदरता अनुपम है। 16वे और 17वे गुफा की ख्याति के चित्रों के कारण है। सातवी शती के मध्य अजता मे गुफा निर्माण समाप्त हो गया।

एलौरा मे बौद्ध ब्राह्मण और जैनधम की गुफाए है। बौद्ध गुफाए अन्य दोनो धर्मों की गुफाओ से पूर्व की है। सख्या एक से बारह तक की गुफाए बौद्धधर्म की है। इनका निर्माणकाल 550 से 750 ई० के मध्य माना गया है। इन बारह गुफाओ मे केवल 5 गुप्तकालिक है। पाचवी गुफा के अतिरिक्त अन्य सभी गुफाए अजता की गुफा विहारों के समान वर्गाकार है। केवल पाचवी गुहा आयताकार है। औरगाबाद मे केवल 12 गुफाए है, जिनमे एक चैत्य और शेष विहार है। चैत्य का काल निर्धारण तीसरी शताब्दी और विहारो का छठी शताब्दी किया गया है। ये सभी अजता की गुफाओ के समान है किंतु उनकी

---

1. देखिये पीछे के पृष्ठों में।

2 कनिंघम कृत आर्किलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, 10, पृ० 46-54।

3. देखिये उदयगिरि गुहा लेख, सख्या 6।

4 विहार मे भिक्षुगण वर्षावास मे निवास करते थे। चैत्य (बौद्ध-संघ का पूजा गृह) शब्द के मूल में 'चि' धातु है जिसका अर्थ है 'चयन' अथवा 'राशि एकत्र करना' इससे वेदिका के अर्थ में 'चित्य' बना और फिर 'चैत्य' के रूप में वह महान् व्यक्तियो के स्मारक मे और देवालय के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ। बाद मे पूजागृह के अथ मे रुढ़ हो गया।

अपेक्षा कम आकर्षक हैं । बाघ में 9 गुफाएं है जो सभी विहार हैं । अनुमानत उनका निर्माण पाचवी और छठी शताब्दी ई० के लगभग हुआ होगा ।[1] मंदागिरि नाम पहाडिया भागलपुर (बिहार जिला) में स्थित हैं । यहा विष्णु का एक भग्न मदिर है और उसी के निकट एक गुफा है जिसमे सिह,[2] वामन, मधु और कैटभ की मूर्तिया है । इसमे चौथी, पाचवी शताब्दी की गुप्तकालिक ब्राह्मी लिपि मे एक अभिलेख अकित है जिसमे तिथि भी उल्लिखित है ।[3]

2. मदिर

गुप्तकाल मे ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान हुआ । धार्मिकता के कारण देवताओ के मदिरो का निर्माण होने लगा था । यद्यपि भिन्न-भिन्न मदिर मे भिन्न देवताओ की मूर्तिया स्थापित की गयी थी परतु उन सबकी कला में साम्य दिखायी पडता है ।[4] इन मदिरो का निर्माण शैली, सज्जा आदि के आधार पर इनकी निम्नलिखित विशेषताए है—

1 मदिरो का निर्माण ऊचे चबूतरो पर हुआ है ।

2 चबूतरे पर चढने के लिए चारो ओर सीढिया है ।

3 प्रारभ मे मदिरो की छतें चपटी होती थी (सपाट) । किंतु बाद मे शिखरो का निर्माण प्रारभ हुआ ।

4 मदिरो की बाहरी दीवारे सादी होती थी । उन पर किसी प्रकार का अलकरण नही होता था ।

5 मदिर के भीतर गर्भगृह होता था, जिसमे मूर्ति की स्थापना होती थी । साधारणत गर्भगृह मे एक अलकृत द्वारा होता था । द्वार स्तंभ पर गगा और यमुना की मूर्तिया अकित होती थी ।

6 गर्भगृह के चारो ओर प्रदक्षिणा पथ रहता था जो छत से आवृत होता था ।

7 मदिर की छत चार अलकृत स्तभो पर टिकी होती थी । स्तभो के शीर्ष भाग पर एक-एक वर्गाकार पाषाण खड रखा जाता था । प्रत्येक पाषाण खंड पर चार-चार सिंह एक दूसरे पीठ सटाये हुए आधे बैठे दिखाये जाते थे ।

8 मदिर के आगे बहुधा एक द्वार मडप होता था, जो स्तभो पर आश्रित रहता था ।

---

1 द बाघ केव्ज, पृ० 6 और आगे ।

2 कनिंघम कृत आर्क्यालोजिकल सर्वे रिपोर्ट, 130-36 ।

3 एपिग्राफिया इडिया, 36, 305 ।

4. कनिंघम, वही, 10, पृ० 60 और स्मिथ, हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट्स, पृ० 33 ।

गुप्तकालीन मदिरों की वास्तुकला को ध्यान में रखकर उनका दो श्रेणियों में वर्गीकरण किया गया है—प्रारंभिक गुप्तकालीन (319-550) मंदिर, जिनमे भूमरा को नचना के मदिर आते हैं। इनकी छतें सपाट हैं। दूसरे उत्तर गुप्त-कालीन (551-605 ई०) मदिर जिसमे देवगढ (जिला ललितपुर) का मदिर आता है। यह मदिर शिखरयुक्त है।[2]

गुप्तकाल के अभिलेखो में भी अनेक मदिरो का उल्लेख है।[3] गुप्तकालीन प्रमुख मंदिर निम्नलिखित है—

1 एरण के वैष्णव मदिर

विष्णु और वराह के मदिरो मे सपाट छत, गर्भगृह और स्तभोपर आधृत द्वार मडप हैं। एरण के वर्तमान विष्णुमंदिर का पुनरुद्धार गुप्तकाल के बाद हुआ।[4]

2 भूमरा का शिव मदिर

सतना (मध्यप्रदेश) मे भूमरा नामक स्थान पर शिव मदिर का निर्माण पाचवी शताब्दी के लगभग मध्य काल में हुआ।[5] इस मदिर का केवल गर्भगृह

---

1 वासुदेव उपाध्याय, गुप्त साम्राज्य का इतिहास, 228।

2 बनर्जी, दि आफ इंपीरियल गुप्ताज, पृ० 135 और आगे।

3 अ–बिलसड मे प्राप्त कुमारगुप्त प्रथम के काल के अभिलेख मे महासेन के मदिर का उल्लेख है (कार्पस, 3, 36 और आगे)।

आ–भितरी (जिला गाजीपुर) स्थित स्कदगुप्त के स्तभ लेख में विष्णु के मदिर की स्थापना का उल्लेख है (कार्पस 3, 53)।

इ–कराव (जिला देवरिया) स्थित स्कंदगुप्त के काल के स्तभ लेख (कार्पस, 3, 65) के निकट बुकानन ने दो ध्वस्त मदिर देखे थे।

ई–इदौर (जिला बुलंदशहर) से प्राप्त स्कदगुप्त के काल के ताम्र लेख मे सूर्य मंदिर का उल्लेख है (कार्पस, 3, 68)।

उ–बुधगुप्त के काल का दामोदरपुर ताम्रलेख में दो देवकुला के बनाने का उल्लेख है (एमि 15, 138)।

ऊ–बुधगुप्त के शासनकाल के एरण स्थित स्तभ लेख मे दो भाइयों द्वारा विष्णुध्वज स्थापना का उल्लेख है, जिसका सबध मदिर से रहा होगा। (कार्पस, 3, 89)।

ए–एरण स्थित तोरभाण का अभिलेख वराह मूर्ति पर है (कार्पस, 3, 159, 35, 10, 82-83)।

4. देखिए कृष्णदत्त बाजपेयी कृत सागर थ्रू द एजेज् और कनिंघम, वही, 10 पृ० 823।

5. मेम्वायर आफ आर्कियालोजीकल सर्वे नं० 16 (भूमरा का मंदिर)।

विद्यमान है। इसके चारो ओर का चबूतरा प्रदक्षिणा-पथ का द्योतक है। गुप्त-कालीन मदिरो के प्राय सभी लक्षण इसमे विद्यमान है। द्वार स्तभ के दाये-बाये गंगा और यमुना की मूर्तिया अकित है। मदिर मे एकमुखी शिवलिंग की मूर्ति स्थापित है। इसके गर्भगृह का प्रवेश द्वार और मडप प्रारभिक गुप्त मदिरों की अपेक्षा अधिक अलकृत है।

3. नचना का पार्वती मदिर

भूमरा के समीप (प्राचीन अजयगढ राज्य मे) यह मदिर स्थित है। इस स्थान पर दो मदिर है किंतु पार्वती मदिर पहले का है और दूसरा सातवी शताब्दी का है। पार्वती मदिर की साधारण योजना भूमरा मदिर के समान है किंतु यह दुमंजिला है और इसम अलकरण न्यून कोटि का है।

देवगढ का दशावतार मदिर

ललितपुर जिला मे बेतवा नदी के तट पर स्थित देवगढ मे एक ध्वस्त विष्णु मदिर है।[1] इसमे अनतशायी विष्णु की प्रतिमा है। मदिर की जगतीपीठ ऊँचे चबूतरे पर है। चबूतरे के चारो ओर साढे पद्रह फुट लबी सीढिया है। राखालदास बनर्जी का अनुमान है कि गर्भगृह के चारो ओर ढका प्रदक्षिणा पथ रहा होगा।[2] गर्भगृह बाहर से वर्गाकार साढे अठारह फुट और भीतर से पौने दस फुट है। उसके चारो ओर की दीवारे तीन फुट सात इंच मोटी है। भूमरा की तरह ही इसके द्वार है। इस मदिर का विशेष महत्त्व इसलिए है कि इसमे शिखर है जो सभवत भारत मे शिखर का सबसे प्राचीन उदाहरण है। उससे परवर्ती काल के मदिरो मे सपाट छत का स्थान शिखर लेने लगता है।

भीतर गाव का मदिर

कानपुर जिला मे कानपुर नगर से लगभग दक्षिण मे भीतरगाव[3] स्थित है, जहा गुप्तकालीन एक भव्य मदिर है। यह ईटो का प्राचीनतम शिखरयुक्त मदिर है। यह मदिर एक ऊँचे चबूतरे (जगतीपीठ) पर निर्मित है। इसकी तीन ओर की बाहरी दीवारे बीच मे आगे की ओर निकली हुई है। पूर्व की ओर (सामने) ऊपर जाने की सीढिया और द्वार है, द्वार के भीतर मंडप है और फिर उसके आगे गर्भगृह मे जाने का द्वार है। गर्भगृह के ऊपर एक कमरा है। मदिर की छत

1 देखिये, माधव स्वरूप वत्स कृत, गुप्त टेम्पुल ऐट देवगढ (मेम्वायर्स आफ आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इडिया न० 17) और कनिंघम कृत आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, 10, 105।

2 दि एज आफ दि इम्पीरियल गुप्ताज, पृ० 145 और आगे।

3 कनिंघम कृत आर्कियालोजिकल सर्वे रिपोर्ट 11, 40 और आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इडिया, एनुअल रिपोर्ट, 1908-09, पृ० 8।

शुंडाकार है। इसकी बाहरी दीवारो को देवी-देवताओं की मूर्तियो से सजाया गया है।

तिगवा का मंदिर

जबलपुर जिला (मध्यप्रदेश) मे तिगवा नामक स्थान पर ऊँचे टीले पर एक मदिर स्थित है। कनिंघम के मतानुसार उस स्थान पर दो मदिर थे, एक सपाट छतवाला और दूसरा आमलकयुक्त शिखरवाला। यह उदयगिरि के गुप्त मदिर के समान है। कनिंघम ने इसे पाचवी शताब्दी का माना है।[1] काष्ठ के उपकरण का पत्थर मे अनुकरण, वस्तु की प्रारभिक अवस्था की ओर सकेत करता है। बचे हुए वर्तमान मदिर का गर्भगृह वर्गाकार आठ फुट है। उसके भीतर नृसिंह की मूर्ति प्रतिष्ठित है।

साची का मदिर

साची के महास्तूप के दाहिनी ओर एक छोटा सा गुप्तकालीन सपाट छतो-वाला मदिर है और चार स्तभो पर आधृत है। इसमे द्वार मडप है। स्तभो के अतिरिक्त भवन मे कही भी अलकरण नही है।[2] यह भीतर से वर्गाकार 8 फुट 2 इच और बाहर से 20 फुट लम्बा और पौने तेरह फुट चौडा है।

उदयगिरि का मंदिर

विदिशा से 34 मील उत्तर की ओर उदयगिरि मे साची के मंदिर के समान एक गुप्तकालिक मदिर है। इसमे भी गर्भगृह और मंडप है। छत सपाट है।[3]

मुकुंद दर्रा मदिर

कोटा (राजस्थान) मे एक पहाडी दर्रे के अदर मुकुद दर्रा नामक एक छोटा-सा मदिर है। इसकी छत सपाट है। स्तभों पर आधृत मडप है। मंडप से लगभग चार फुट हटकर तीन ओर दो-दो अर्ध स्तभ हैं। उन पर शीर्ष, शीर्ष पर सिरदल और सिरदल पर कमल अकित चौकोर पत्थर रखे है। मदिर के चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ है। अर्धमडप भी है।[4] इसे गुप्तकाल के प्रारभ का मदिर माना जाता है।[5]

---

1 कनिंघम, वही, 9, 41-44।

2 कनिंघम, वही, 10, 62।

3 हरमन गीयत्स, इपीरियल, रोम ऐंड जेनेसिस आफ क्लासिकल इडियन आर्ट, ईस्ट ऐंड वेस्ट, 10,153।

4 फर्गुसन, इंडियन आर्किटेक्चर, 132, पर्सी ब्राउन, इंडियन आर्किटेक्चर, 50-51 और वासुदेवशरण अग्रवाल, स्टडीज इन गुप्त आर्ट पृ० 226-27।

5. जर्नल आफ एशियाटिक सोसायटी, (चौथा सीरीज) पृ० 79-81।

शंकरमढ़ का मंदिर

तिगवा (जबलपुर) से तीन मील पूरब की ओर कु डा नामक ग्राम मे एक लाल पत्थर द्वारा निर्मित छोटा-सा शिवमदिर है, जो शकरमढ के नाम से पुकारा जाता है । यह लबे पत्थर द्वारा निर्मित है जिसमे चूने या गारे का प्रयोग नही किया गया है । इसे प्रारंभिक गुप्तकालिक माना गया है ।[1]

ऐहोलि का मंदिर

महाराष्ट्र मे बीजापुर जिला के अतर्गत ऐहोलि मे एक गुप्तकालिक मंदिर है ।[2] इसकी बनावट अन्य गुप्त-मदिरो से मेल खाती है । यहा गगा और यमुना की मूर्तिया अकित है ।

कहौम (कहांव) का मंदिर

देवरिया जिला मे कहाव नामक स्थान पर जैन ध्वज स्तभ के निकट एक गुप्तकालीन मदिर है । यह भीतरगाव और बोधगया के मदिरो के समान है ।[3] कनिघम, ने भी मदिर के ध्वसावशेष का उल्लेख किया है । उसका गर्भगृह केवल नौ वर्गफुट है और उसकी दीवार केवल डेढ फुट मोटी है ।[4]

अहिच्छत्र का मदिर

अहिच्छत्र (जिला बरेली) मे उत्खनन के फलस्वरूप एक शिव मदिर के अवशेष मिले हैं । मदिर का निर्माण अनेक तल्लो की पीठिका पर हुआ था और पीठिका का प्रत्येक तल अपने ऊपर के चौकोर स्वरूप के चारो ओर प्रदक्षिणा-पथ का कार्य करता था ।[5] पुराविदो का अनुमान है कि वहा एक शिवलिंग स्थापित रहा होगा । सीढियो और गगा-यमुना की मूर्तियो के चिह्न मिले हैं । इसे 450 और 650 ई० के बीच का माना गया है ।

पवाया का मदिर

अहिच्छत्र के समान ही तीन तल्लो का ईंटो का निर्मित एक चौकोर वास्तु पद्मावती (पवाया) से प्रकाश मे आया है । नीचे तल्ले का ठोस भाग सादा है । ऊपरी तल्लो के बाहरी भाग अनेक फलको एव अर्धस्तभो से अलकृत था और उनके ऊपरी भागो मे गवाक्षो की कतार थी । तलो के ऊपर गर्भगृह के

1. देखिये जर्नल आफ एशियाटिक सोसायटी, 8, 79-81 ।

2. आक्यालोजिकल सर्वे रिपोर्ट, 1907-8, पृ० 189 और पर्सी ब्राउन, इडियन आर्किटेक्चर, पृ० 63 और आगे ।

3. बुकानन, ईस्टर्न इडिया ।

4. कनिघम, वही, 1,941 ।

5. ऐशेंट इडिया, 1,34 और 4, 133,167 ।

होने का अनुमान किया गया है और नीचे के तल प्रदक्षिणा-पथ का काम करते थे। संभवत यह विष्णु मदिर था।[1]

महाबोधि मंदिर

बोधगया के महाबोधि मंदिर को चीनी यात्री हुएनसांग ने देखा था। इसमें गवाक्षो की अनेक पक्तिया थी, जिनमें बुद्ध की मूर्तिया रखी थी।[2] भीतरगाव के मंदिर की भाति यह भी ईंटो द्वारा निर्मित था। इसमें भी शिखर, गवाक्षों की पंक्तिया, ऊपर कमरे और द्वार के सिरे बृत्ताकार थे।[3]

इन मदिरो के अतिरिक्त गुप्त मदिरो के समान नालदा और कुशीनगर आदि स्थानो मे भी गुप्त कालीन सरीखे मदिर बने थे।

3. स्तूप और विहार

स्तूपो का सबध बौद्धधर्म से अधिक था। ये मूलत भगवान बुद्ध के शरीर के अवशेष (अस्थि एव भस्म) पर निर्मित होते थे। सारनाथ का धमेख स्तूप गुप्त काल का है। इसकी खुदाई मे कनिंघम महोदय को एक लेख मिला है,[4] जिसमे इसका गुप्तकालिक होना सिद्ध होता है। धमेख स्तूप के प्रस्तर पर अंकित कलाकृतिया भी गुप्तकला का उत्कृष्ट नमूना प्रस्तुत करती है।[5] इसी आकृति का एक दूसरा स्तूप राजगृह मे है, जो 'जरासध की बैठक' के नाम से विख्यात है। यह भी सभवत गुप्तकालिक है।

विहार में भिक्षुलोग निवास करते थे। गुप्तकालीन विहारों के भग्नावशेष सारनाथ (वाराणसी) और नालदा (पटना) में उपलब्ध है। सारनाथ के विहार न० 3 और 4 मे प्राप्त सामग्री तथा गवाक्ष से सिद्ध होता है कि ये गुप्तकालीन विहार थे।[6] हुएनसाग का कथन है कि नालदा में गुप्त राजाओं ने विहार निर्मित कराये थे[7] जो भिक्षुओ के निवास ही न थे, अपितु वहा उच्च शिक्षा भी दी जाती थी।

---

1. पुरातत्व विभाग (ग्वालियर राज्य) का वार्षिक प्रतिवेदन, 1927, पृ० 19।

2 कनिंघम, महाबोधि आर द ग्रेटेस्ट बुद्धिस्ट टेम्पुल एट बोधगया, पृ० 18।

3. कुमारस्वामी, हिस्ट्री आफ इंडियन ऐंड इडोनेशियन आर्ट, पृ० 81 और क्लासिकल एज, पृ० 517-18।

4. कनिंघम कृत आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, 1,111।

5. स्टेला क्रैमरिश, इडियन स्कल्पचर प्लेट 46, 107।

6. आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, 1907-8 पृ० 58।

7. देखिये वाटर्स कृत युवान च्वांग, 2,164।

4 राजप्रासाद

यद्यपि गुप्तकालीन राजप्रासादो के भग्नावशेष आज उपलब्ध नही हैं, तथापि साहित्य में उनका उल्लेख मिलता है। कालिदास के ग्रंथो से पता चलता है राज-प्रासाद का निर्माण विशाल स्तर पर होता था। इसमे चित्रकला, सगीतशाला, नाटयशाला आदि विविध शालाए होती थी। कालिदास ने नगरो की अट्टालि-काओं का भी वर्णन किया है। इनकी छतें स्तभो पर आधृत होती थी, वे प्राय सपाट होती थी। स्तभ अलकृत और राजमहल सज्जायुक्त होते थे। **मृच्छकटिक** की वसन्तसेना के महल की सज्जा का विस्तृत वर्णन है।[1] मंदसौर की प्रशस्ति में लिखा है कि दशपुर के महल कैलासशिखर के समान ऊचे थे।[2] राजप्रासाद का भीतरी भाग अन्त शाला कहलाता था। जिसमे अन्त पुर और शयनागार होते थे तथा बाह्य भाग मे विद्वानो से मिलने और विचारविमर्श के लिए अग्नि-गृह, सभागृह, न्यायगृह तथा सहन आदि होते थे। महल के चारो ओर अथवा मुख्यद्वार से सलग्न प्रमोद वन होते थे। पशुओ का सग्रहालय, तालाब, बावली आदि भी वही होते थे और उसी से सलग्न अश्वशालाए, गजशालाए, आदि होती थी।

5 स्तभ

मौर्यसम्राट् अशोक के स्तभो की परपरा गुप्तकाल मे भी चलती रही। किंतु गुप्त स्तभो की रचना का कारण धर्म-प्रचार न था। डॉ० आचार्य[3] ने गुप्त-कालीन स्तभो को निम्नलिखित भागो मे विभक्त किया है—कीर्ति-स्तभ, ध्वज-स्तभ, स्मारक-स्तंभ और सीमा-स्तभ।

कीर्ति-स्तभ

समुद्रगुप्त की दिग्विजय का विवरण मौर्य सम्राट अशोक के इलाहाबाद स्तंभ पर अंकित है।[4] समुद्रगुप्त की कीर्ति का वर्णन किया है। कहाव का स्तभ स्कद-गुप्त की कीर्ति का उल्लेख कराता है।[5]

ध्वज-स्तभ

गुप्तवशीय राजा वैष्णव धर्मानुयायी थे और उनकी उपाधि परम भागवत थी। इसी कारण उनके ध्वज, सिक्को और प्रस्तर स्तभो पर विष्णु के वाहन

1 मृच्छकटिक, अक 4।
2 कुमारगुप्त का मदसोर अभिलेख (गुप्त लेख 18)
3 डिक्सनरी आफ हिंदू आर्किटेक्चर, 359-61।
4 गुप्त लेख न० 1, इलाहाबाद स्तंभ लेख।
5 गुप्त लेख न० 15, कहाव स्तंभ लेख।

गरुड की मूर्ति अंकित मिलती है।[1] गुप्त सम्राट बुद्धगुप्त के काल में सामत मातृविष्णु और धन्यविष्णु ने भगवान जनार्दन का एक ध्वज-स्तभ एरण में निर्मित कराया था जो आज भी विद्यमान है।[2] दिल्ली के निकट मेहरौली गाव में कुतुबमीनार के पास लोहे का स्तंभ खडा है, जिसे गरुड-ध्वज कहा गया है।

स्मारक-स्तंभ

गुप्त राजाओ ने कुछ विशिष्ट अवसरों की घटनाओ को चिरस्थायी बनाने के लिए लेख उत्कीर्ण कराये थे। कुमारगुप्त प्रथम ने स्वामी महासेन के मंदिर के स्मारक के रूप में बिलसद में एक स्तभ निर्माण कराया था।[5] सम्राट् स्कंद-गुप्त ने भितरी (जिला गाजीपुर) में भगवान विष्णु की मूर्ति स्थापना मे एक स्तंभ निर्मित कराया था।[4] गुप्त नरेश भानुगुप्त का सेनापति गोपराज एरण के युद्ध में मारा गया था, जिसके स्मारक स्वरूप एक स्तभ गुप्त नरेश ने निर्मित कराया था।[5]

2. तक्षण कला (शिल्प-कला)

गुप्तकालीन तक्षण कला ने भारतीय कला मे नवयुगारंभ उपस्थित किया। गुप्त मूर्तिकारो ने विदेशी प्रभावो को त्याग कर भारतीय परपरावादी शैली को अपना आधार बनाया। गुप्त कलाकारो की प्रतिभा अपूर्व थी। कला की स्वाभाविकता, अग सौंदर्य, आकार-प्रकार एव सजीव रचना कौशल प्रशसनीय है। विवेक एव सौंदर्य से अनुप्राणित होने के कारण गुप्तकालीन शिल्प-कला अद्वितीय है। सौदर्य एव भावो की अभिव्यक्ति की दृष्टि से गुप्तकालीन शिल्प कला पराकाष्ठा तक पहुँच गयी है। गुप्तकालीन शिल्पी रुढिवादिता से जकडा नही है। कला में लावण्य और लालित्य का सम्मिश्रण है। मूर्तियों की रचना बडी सुचारु और उनकी भावभंगी मनमोहक है। गुप्तकालीन कला रूप-प्रधान और भाव-प्रधान है। शिल्पी रूप को सर्वांगसुदर बनाने में जितने प्रवीण थ उतने ही अपने आतरिक और आध्यात्मिक भावो को सुंदर कृतियों के प्रदर्शन में भी।

गुप्तकाल में कला के तीन प्रमुख केंद्र थे। मथुरा, सारनाथ और पाटलिपुत्र। मथुरा-कला कुषाणकाल में अपनी पराकाष्ठा पर थी। गुप्तकाल में भी मथुरा में मूर्तिनिर्माण की परपरा बनी रही, किंतु गुप्तकाल में निर्माण

1 गुप्त लेख न० 32 मेहरौली स्तभ।
2 गुप्त लेख नं० 19 बुद्धगुप्त का एरण लेख।
3 गुप्त लेख नं० 10, बिलसद स्तंभ।
4. देखिये भितरी स्तभ लेख।
5 फ्लीट, गुप्त लेख नं० 20।

शैली में परिवर्तन पाते है। उदाहरणार्थ कुषाणकालीन मूर्तियो का प्रभामडल सादगीपूर्ण था किंतु गुप्तकाल मे वह अलकृत हो गया। दूसरे कुषाणकालीन मथुरा की मूर्तियों में दाएं कंधे पर संघाटी (कमर के ऊपर का वस्त्र) नही दिखलायी पडती परन्तु गुप्तकाल मे दोनो कधे ढके रहते है। कुछ ऐसी भी मूर्तिया हैं जिनमे कुषाण और गुप्तकालीन लक्षणो का मिश्रण है।

गुप्तकालीन शिल्प-कला का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण केंद्र सारनाथ था। बौद्धो का प्रधान तीर्थस्थल होने के कारण सर्वाधिक मूर्तिया यहा निर्मित हुई है। गुप्त राजा वैष्णव धर्मानुयायी थे इसलिए ब्राह्मण-मूर्तिया भी निर्मित हुई है। सारनाथ में जैन मूर्तिया अल्पसख्या में प्राप्त हुई है। पाटलिपुत्र मे नालदा शैली की धातु की मूर्तिया अधिक सख्या मे मिली है, पत्थर की कम सख्या मे मिली है। पाटलिपुत्र मे प्राप्त अधिकाश मूर्तियों की बनावट सारनाथ की मूर्तियों से मिलती है।

गुप्तकालीन तक्षण कला को सुविधा के लिए हम तीन श्रेणियो मे विभाजित कर सकते है—1 मूर्तिकला, 2 अलंकरण प्रकार और 3 मृण्मय मूर्तिया।

मूर्तिकला

गुप्तकालीन शिल्पी की छेनी ने पाषाण को स्थायी सौदर्य, लालित्य और अलकरण प्रदान किया। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल[1] के अनुसार "गुप्तकाल को स्वर्णयुग कहलाने का जो सम्मान प्राप्त है वह मुख्यत. मूर्तिकला के कारण है।" गुप्तकालीन मूर्तियो को सुविधा के लिए तीन श्रेणियो मे विभक्त किया जा सकता है, बौद्ध मूर्तिया, ब्राह्मण मूर्तिया और जैन मूर्तिया।

1 बौद्ध मूर्तिया

प्रमुख विशेषताये

बुद्ध की मूर्ति-निर्माण की प्रथा प्राचीन है। गाधार और मथुरा में कुषाणकालीन मूर्तिया बनती रही थी। गुप्तकालीन बौद्ध प्रतिमाओ की निम्नलिखित विशेषताए है—

1. मूर्तियो के वस्त्र चिकने और पारदर्शक प्रदर्शित किये गये है। मथुरा केंद्र की बनी मूर्तियो को छोडकर गुप्तकालीन किसी बुद्ध प्रतिमा के वस्त्रो मे सिलवटे नही है।

2. दक्षिणावर्त कुटिल केश और उष्णीष गुप्तकालीन बौद्ध मूर्तियों की विशेषता है।

3. गुप्तकालिक मूर्तियो की भौंह तिरछी नही वरन् सीधी प्रदर्शित की गयी है।

---

1. देखिये, गुप्त आर्ट।

4. गुप्तकालीन मूर्तियों के सिर के पीछे प्रभामडल के रहने का सकेत मिलता है।

5 मूर्तियो के वक्ष स्थल विकसित बनाये गये है। कधों को प्रमुखता दी गयी है।

6. सारनाथ में गुप्तकाल की मूर्तियो के लिए चुनार के सफेद बालूदार पत्थर का प्रयोग किया गया है।

7 भावो को दिखाने के लिए विभिन्न मुद्राओ का सहारा लिया गया है।

बुद्ध की खडी हुई मूर्तियां

अभय मुद्रा मे दाया हाथ और करतल बाहर की ओर रहते है। बाया हाथ सघाटी का छोर पकडे दिखाया गया है। इसमे भगवान बुद्ध अभय मुद्रा में ससार को अभयदान दे रहे है। वरद् मुद्रा मे दाहिना हाथ नीचे की ओर और करतल सामने है। बाए हाथ मे सघाटी है। सारनाथ के सग्रहालय में बुद्ध की अनेक मूर्तिया संग्रहीत है जो अधिकाश खडित है।

बुद्ध की बैठी हुई मूर्तिया

भगवान बुद्ध की मुद्राए उनके जीवन से संबधित है। उदाहरणार्थ मार-विजय के समय भूमिस्पर्श मुद्रा तथा सारनाथ में धर्म-प्रचार के समय धर्म-चक्र-प्रवर्तन मुद्रा। बोधगया मे बोधि प्राप्त कर और मार को विजय कर पद्मासन मे बैठे बुद्ध पृथ्वी को साक्षी बनाते हुए उसे आवाहन करते है। इस भाव में बुद्ध के हाथ की उगली भूमि की ओर इगित कर रही है। सारनाथ केंद्र की निर्मित भूमि स्पर्श मुद्रा की अनेक प्रतिमाए सारनाथ सग्रहालय मे सुरक्षित हैं। भूमि को स्पर्श करती हुई मुद्रा मे स्थित समस्त मूर्तियो मे सघाटी दायें कंधे को ढकती हुई नही प्रदर्शित की जाती है। सिर के चारों ओर अलकृत प्रभामडल तथा मस्तक के ऊपर बोधिवृक्ष बना होता है। मूर्ति के दाएं ओर धनुषधारी मार तथा बाईं ओर मार की पुत्रियो की आकृतिया बनायी गयी है। प्रभामडल के ऊपरी भाग के दोनों ओर दो-दो राक्षस दिखाये गये है। इस प्रकार की अनेक मूर्तिया खडित है परंतु अनेक लक्षणो से युक्त होने के कारण उनकी पहचान सरलता से हो जाती है। धर्मचक्र मुद्रा मे भगवान बुद्ध पद्मासन मे बैठे है। दोनों हाथ वक्षस्थल के सामने स्थित है। दाएं हाथ का अगूठा और कनिष्ठिका बाए हाथ की मध्यमिका को छूती दिखलाई पडती है। सारनाथ में दिया गया पहला उपदेश जिसे धर्मचक्र प्रवर्तन की संज्ञा दी गयी है, को शिल्पकला मे सुदर रीति से प्रदर्शित किया गया है। भगवान बुद्ध इसिपतन में पद्मासन में बैठे धर्म की शिक्षा दे रहे है। क्योकि बुद्ध ने नवीन धर्म का प्रवर्तन किया इसलिए यह घटना 'धर्मचक्रप्रवर्तन' के नाम से प्रसिद्ध है। धर्मचक्रप्रवर्तन की मुद्रा मे सार-

नाथ की एक मूर्ति कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरणो मे है। इसमे बुद्ध मूर्ति के आसन के मध्यभाग में एक चक्र बना है जिसके दोनो ओर दो मृगो की आकृतिया दिखलाई गयी है। इस चक्र के दाए तीन और बाए मनुष्यो की दो मूर्तिया हैं, जिन्हें पच भद्र-वर्गीय भिक्षु माना गया है। यह बुद्ध की सर्वोत्कृष्ट मूर्ति है, जिसमें अगों की भाव-भगी, सौदर्य, औचित्य और भावव्यजना अनुपम है।[1] इसी तरह की कुछ बुद्ध की मूर्तिया कलकत्ता संग्रहालय मे सुरक्षित हैं।[2] किसी-किसी मूर्ति के अधोभाग मे पच-भद्र-वर्गीय भिक्षुओ की आकृतिया नही बनी हैं। इसके अतिरिक्त कुछ मूर्तिया ध्यान मुद्रा में मिली है। इसमे पद्मासन में बैठे बुद्ध ध्यानमग्न हैं। दोनो करतल गोद में एक के ऊपर दूसरा प्रदर्शित किया गया है। यह बुद्धत्व प्राप्ति के लिए ध्यानावस्थित होने की ओर सकेत करता है।

बुद्ध के जीवन संबंधी घटनाएं

गुप्तकालीन शिल्पकार ने भगवान बुद्ध के जीवन की अनेक घटनाओ का चित्रण प्रस्तर खंडों पर किया है। वैसे गधार और मथुरा आदि मे बुद्ध के जीवन से संबद्ध अनेक घटनाओ का अकन किया गया है, किंतु सारनाथ मे केवल आठ (चार प्रमुख और चार गौण) घटनाए अकित है।[3] लगभग सभी घटनाओ का सबंध किसी न किसी स्थान से जुडा है।[4]

चार प्रमुख घटनाए

सारनाथ सग्रहालय मे सुरक्षित एक आयताकार प्रस्तर के ऊर्ध्वपट्ट मे बुद्ध के जीवन की चार प्रमुख घटनाओ का चित्रण हुआ है।[5] जिसका व्यौरा निम्न-लिखित है—

1 **बुद्ध-जन्म**—यह दृश्य पट्ट के निचले भाग मे है। दृश्य के बीच मे माया देवी दाए हाथ से शाल वृक्ष की शाखा पकडे खडी है। दाए इद्र बालक सिद्धार्थ को लिये है। बायी ओर माया की बहिन प्रजापति खडी है। प्रजापति के बाई ओर नागराज नद और उपनद बालक को स्नान करा रहे है। सिद्धार्थ का जन्य उस समय लु बिनी मे हुआ जब माया देवी कपिलवस्तु से मायके जा रही थी।

2 **संबोधि**—महाभिनिष्क्रमण के उपरात सिद्धार्थ उरुवेला मे तपस्या करके बोधगया आये और वही उन्हे सबोधि प्राप्त हुई। इस तरह की मूर्ति में

1. हैवेल कृत इण्डियन स्कल्पचर ऐंड पेंटिंग, 39।
2. एंडरसन हैंडबुक ऑफ स्कल्पचर इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता।
3. देखिये, फोगल, कैटलाग म्यूजियम सारनाथ, पृ० 21।
4. कर्न, मैनुअल आफ बुद्धिज्म, 43।
5. साहनी, वही, प्लेट 19।

बुद्ध पीपल वृक्ष के नीचे भूमि स्पर्श मुद्रा मे बैठे है। दाए मार और बाए की दो पुत्रियां (अप्सराएं) खडी हैं। प्रस्तर के दोनों कोनो में दो सशस्त्र राक्षसो की मूर्तिया अंकित हैं। आसन के नीचे पृथ्वी की मूर्ति बनी है।

3 **धर्मचक्र प्रवर्तन**—इस प्रकार की मूर्ति में बुद्ध धर्म-चक्र-प्रवर्तन मुद्रा में बैठे है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

4 **महापरिनिर्वाण**—इस तरह की मूर्ति में भगवान बुद्ध शैय्या पर लेटे दिखाये गये है। उनके सम्मुख भिक्षु भिक्षुणियाँ रो रहे हैं। शैय्या के पीछे कुछ परिव्राजक बैठे है। भगवान के पैरो के पास महाकश्यप और सिर की ओर भिक्षु उपालि बैठे है। कुछ ऐसे भी उदाहरण है जिनमे चारो घटनाओ का चित्रण है।

चार गौण घटनाए

प्रथम घटना का कथानक इस प्रकार है। सिद्धार्थ के जन्म लेने के उपरात मायादेवी का स्वर्गवास हो गया। अत बुद्धत्व प्राप्ति के बाद अपनी माता को धर्म-शिक्षा देने के लिए बुद्ध स्वर्ग गये, और उन्हे शिक्षा देकर सकिसा (जिला फरुखाबाद, उ० प्र०) में उतरे। इस दृश्य मे ब्रह्मा और इद्र के बीच बुद्ध चित्रित है। बुद्ध की मूर्ति के पीछे सीढिया बनी है जो स्वर्ग से पृथ्वी पर उतरने की सूचना देती है। किसी-किसी मूर्ति में सीढिया नही है।

दूसरे दृश्य की कथा इस प्रकार है कि पाच सौ भिक्षुओ के साथ भगवान बुद्ध राजगृह में एक ब्राह्मण के घर भोजन करने के लिए जा रहे थे। तो भगवान के एक विद्वेषी ने उन्हे मारने के लिए एक बिगडैल हाथी को उनपर छोड दिया। बुद्ध के पास आते ही वह बिगडैल हाथी उनके तेज एवं प्रताप से उनके चरण छूने लगा। चित्र मे बुद्ध के एक ओर विनम्र हाथी और दूसरी ओर शिष्य आनद खडे है।

तीसरी घटना वानर द्वारा बुद्ध को मधुदान की है। एक मूर्ति आसन पर बैठे बुद्ध भिक्षा-पात्र लिये है। दाए एक वानर पात्र लिये हुए बुद्ध के समीप आ रहा है और बाए कुए में एक आदमी गिर रहा है। बौद्ध साहित्य के अनुसार मधुदान के बाद वह कुएं मे गिर पडा और तुरत एक देवता के रूप मे उत्पन्न हुआ।[2] किसी-किसी दृश्य में देव भी दिखाया गया है।[3]

चौथी घटना श्रावस्ती में राजा प्रसेनजित के सम्मुख बुद्ध ने एक ही समय में अनेक स्थानों पर विधर्मियो जो शिक्षा देनी थी इस घटना को अंकित करनेवाली

---

1 फोगल वही, पृ० 125, साहनी, वही।

2 राहुल साकृत्यायन कृत बुद्धचर्या।

3. साहनी, वही।

मूर्तियों मे बुद्ध पद्मासन पर धर्म-प्रवर्तन-मुद्रा मे बैठे है । उसी कमल से अनेक कमल निकलते है, जिन पर अनेक बुद्ध बैठे है। आसन के नीचे एक ओर आराधनायुक्त मूर्ति और दूसरी ओर पाषडी की मूर्ति बनी है।[1]

अन्य घटनाए

उपर्युक्त घटनाओ के अतिरिक्त बुद्ध के जीवन की अन्य घटनाए भी प्रस्तर खडों पर अंकित मिली है।[2] यथा सारनाथ के एक प्रस्तरखंड पर मायादेवी का स्वप्न तथा सिद्धार्थ का महाभिनिष्क्रमण अंकित है। प्रथम दृश्य मे मायादेवी शैय्या पर सो रही है। स्वर्ग से श्वेत हाथी उतर रहे है और एक हाथी गर्भ मे प्रवेश कर रहा है। दूसरे दृश्य मे सिद्धार्थ कंथक नामक अश्व पर आरूढ है और अपने राजकीय वस्त्र छदक को दे रहे है।

बोधिसत्व की मूर्तिया

गुप्तकालीन शिल्पी बुद्ध और उनके जीवन की कुछ विशिष्ट घटनाओ को ही अकित कर सतुष्ट न हुआ वरन् उसने बुद्ध के पूर्व जीवन मे धारण किये स्वरूपो को भी अंकित किया है। बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए जो रूप धारण किये थे उन्हे बोधिसत्व कहा जाता है। ये बोधिसत्व मनुष्यो की श्रेणी मे ऊचे किंतु मे नीचे है। इनकी सख्या अनेक है। इनका शरीर अलकारो से सुशोभित है। बौद्ध मूर्तिकला मे कुछ ध्यानी बुद्धो-अमिताभ, रत्नसभव, अमोघ-सिद्धि, बैरोचन—की मूर्तिया मिलती है जिनसे बोधिसत्वो की उत्पत्ति की कल्पना की गयी है।[3]

बोधिसत्व की मूर्तिया दो प्रकार की मिलती है—खडी मूर्तियाँ और बैठी मूर्तिया। खडी हुई मूर्तियो में अवलोकितेश्वर, मैत्रेय और मजुश्री की मूर्तिया आती है। अवलोकितेश्वर की उत्पत्ति अमिताभ से मानी जाती है। साधारणत इन्हे कमल पर खडा दिखाया गया है।[4] इसका दाया हाथ वरद मुद्रा मे और बाये हाथ मे कमल रहता है। इसी कारण उनको पद्मपाणि भी कहा जाता है। एक मैत्रेय की खडी मूर्ति है जो सारनाथ सग्रहालय मे सुरक्षित है। अमोघसिद्धि मे मैत्रेय की उत्पत्ति मानी जाती है। मैत्रेय के बाये हाथ मे कमंडलु और दाया हाथ वरद मुद्रा मे है। मजुश्री को बुद्धि का देवता माना गया है। इसकी एक मूर्ति कमल पर खडी है। दाया हाथ वरद मुद्रा मे है और बाये हाथ मे नील-कमल धारण किये है। एक मूर्ति मे बोधिसत्व पर्यक आसन में बैठे है।

1 वही, 6, प्लेट 21।
2 साहनी, वही।
3 विनयतोष भट्टाचार्य, बुद्धिस्ट आइक्नोग्राफी, पृ० 18।
4. बनर्जी, एज आफ इम्पीरियल गुप्ताज, प्लेट 23।

2. ब्राह्मण-धर्म की मूर्तिया

इस काल की मूर्तियो मे भगवान विष्णु और उनके अनेक अवतारो की मूर्तियो का बाहुल्य है। इसके अतिरिक्त शिव और दुर्गा की भी कुछ मूर्तिया मिली है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल की उदयगिरि गुफा (विदिशा म० प्र०) की दीवाल पर चतुर्भुज विष्णु की एक मूर्ति निर्मित है। वे अधोवस्त्र और मुकुट धारण किये हुए हैं। इसी प्रकार की एक दूसरी चतुर्भुज मूर्ति एरण (सागर, म० प्र०) मे भी प्राप्त हुई है।

देवगढ (ललितपुर, उ० प्र०) के वैष्णव मदिर मे शेषशायी विष्णु की मूर्ति मिली है।[1] भगवान सिर पर किरीट मुकुट, कानों में कुंडल, गले मे हार, केयूर, वनमाला और हाथो मे ककण पहने हैं। पैरों की ओर लक्ष्मी बैठी हैं। उनके पास दो आयुध पुरुष खडे है। आसन के नीचे पृथ्वी और अन्य आयुध पुरुष है। नाभि से निकले कमल पर कमडलुधारी ब्रह्मा विराजमान हैं। दाए ऐरावत पर इंद्र और मयूरवाहन कार्तिकेय हैं। बायें शिव-पार्वती हैं। इसके अतिरिक्त उदयगिरि (विदिशा, म० प्र०) मे भी शेषशायी विष्णु की मूर्ति निर्मित है।[2] उदयगिरि (विदिशा, म० प्र०) गुफा की दीवार पर विष्णु के अवतार वराह की एक विशाल मूर्ति निर्मित है। मूर्ति का शरीर मानवाकृति का है, केवल मुह वराह का है। इसे आदि वराह कहा गया है।[3] मूर्ति वनमाला पहने है। दाया पैर सीधा है और बाये पैर के नीचे आदि शेप की आकृति निर्मित है। इसी के पास एक स्त्री की मूर्ति बनी है। वराह के बाए कधे पर पृथ्वी की आकृति बनी है। पुराणों के अनुसार भगवान ने पृथ्वी को बचाने के लिए वराह का अवतार लिया था।

पहाडपुर (राजशाही, उत्तरी बगाल) के मंदिर की दीवारो पर अनेक प्रस्तर की मूर्तिया निर्मित हैं, जिनमे रामायण और महाभारत के दृश्य तथा कृष्ण-चरित्र का चित्रण हुआ है। यहा की राधाकृष्ण की मूर्ति बहुत सुदर है। इसके अतिरिक्त कृष्ण-जन्म, कृष्ण का गोकुल ले जाया जाना तथा गोवर्धन धारण आदि घटनाओं का सफल चित्रण हुआ है। भारत-कला-भवन वाराणसी मे कार्तिकेय की एक बड़ी सुदर मूर्ति है। कार्तिकेय मयूर पर सवार है। सिर पर मुकुट, ककण, कानो में कुडल और गले मे हार तथा केयूर पहने है।

सारनाथ से एक अत्यत कलात्मक शिव की मूर्ति का सिर पाया गया है। इसमे जटाजूट बहुत ही सुदर दिखाया गया है। कुमारगुप्त के काल की शिव-

1. गोपीनाथ राव, एलीमेंड आफ हिंदू आइक्नोग्राफी, पृ० 112।
2 बनर्जी, वही।
3. गोपीनाथ राव, वही।

लिंग की मूर्ति करमदडा (फैजाबाद) से प्राप्त हुई है, जिसका ऊपरी भाग गोलाकार तथा नीचे का भाग अष्टकोणीय है। नीचे के भाग पर लेख अकित है।[1] एक अन्य एकमुखी शिवलिंग खोह (नागौद, म० प्र०) मे प्राप्त हुआ है। गुप्तकाल मे सूर्य पूजा भी प्रचलित थी। कुमारगुप्त के मंदसौर के लेख मे उसका पूरा विवरण उपलब्ध है।[2] भारत कला भवन वाराणसी मे गुप्तकालिक एक सूर्य-मूर्ति सुरक्षित है। गुप्तकाल में कुछ आकृतिया प्राप्त हुई है जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि दुर्गा-पूजा प्रचलित थी। उदयगिरि (भिलसा के समीप) की गुफा मे अष्टभुजी महिषमर्दिनी दुर्गा की आकृति निर्मित है।[3] दूसरी दुर्गा की मूर्ति भारत कला भवन, वाराणसी मे सुरक्षित है।

3 जैन मूर्तिया

गप्तकाल मे जैनधर्म की मूर्तियाँ भी बनाई जाती थी, जिनके नमूने मथुरा और गोरखपुर आदि स्थानो में मिले है। इसी समय उदयगिरि (विदिशा, म० प्र०) की एक गुफा मे जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ की एक मूर्ति स्थापित की गयी। मथुरा से 24वे तीर्थंकर वर्धमान महावीर की एक मूर्ति मिली है, जो कुमारगुप्त के काल की है।[4] वर्धमान की मूर्ति पद्मासन मारे ध्यानमुद्रा मे स्थित है। आसन के नीचे एक लेख उत्कीर्ण है। स्कदगुप्त के शासनकाल मे भी कहाव नामक स्थान मे एक अन्य तीर्थंकर की मूर्ति प्राप्त हुई है।[5]

मृण्मय मूर्तिया

भारत मे मृण्मय मूर्तियो के निर्माण की परपरा सिंधु घाटी की सभ्यता से चली आ रही है। मौर्य और शु ग काल मे भी मृण्मय मूर्तिया बनती रही है किंतु उनकी बनावट बहुत कलात्मक नही थी। इसके विपरीत गुप्तकाल की मृण्मय मूर्तिया अत्यत सुदर है तथा कलाकार की निपुणता की परिचायिका है। **मानसार** मे अनेक शिल्पो मे मिट्टी की मूर्तिशिल्प का भी उल्लेख है।[6] इस काल मे मिट्टी के अतिरिक्त चूर्ण ईंटो से भी मूर्तिया बनायी जाती थी।

1 एपिग्राफिया इडिका, भाग 10, करमदडा लेख।

2 फ्लीट्, गुप्तलेख न० 18। वैशाली से प्राप्त एक मुहर पर "भगवतो आदित्यस्य" अकित है, जिससे यह अनुमान लगाया गया है कि यह मुहर किसी सूर्य मदिर की है।

3. फ्लीट्, गुप्त लेख न० 22।

4 बनर्जी, इपीरियल गुप्त, प्लेट स० 18।

5. फ्लीट् वही, स० 15।

6 प्रशासन्तकुमार आचार्य, ए डिक्शनरी आफ हिंदू आर्किटेक्चर, पृ० 63 और आगे तथा देखिये आचार्य कृत 51, 5 और आगे, 56, 14-16।

सारनाथ संग्रहालय मे बुद्ध और बुद्ध के जीवन की अनेक घटनाओं का प्रदर्शन करने वाली बहुसख्यक मूर्तिया सुरक्षित हैं। बुद्ध की अनेक मुद्राओं (भूमिस्पर्श, अभय और धर्मचक्रप्रवर्तन) सहित मूर्तिया है।[1] एक अन्य मृण्मय मूर्ति मे श्रावस्ती मे बुद्ध के विश्वरूप सा प्रदर्शन किया गया है। बुद्ध शिक्षा दे रहे हैं। दाये राजा प्रसेनजित का चित्र है।[2]

बौद्ध मृण्मय मूर्तियो के अतिरिक्त अनेक ब्राह्मण देवी देविताओ की मृण्मय मूर्तियां मिली है। एक मूर्ति के पैर खंडित है। गले में माला और वक्षस्थल पर 'श्रीवत्स' (चिह्न) अकित है।[3] इसी प्रकार अन्य खडित मूर्तियो के टुकडे मिलते है।[4] भीटा से प्राप्त शिव और पार्वती की मूर्ति गुप्तकाल की मानी गयी है।[5]

इसके अतिरिक्त मिट्टी, ईंट और चूने को अनेक स्त्री-पुरुषो की गुप्तकालिक मूर्तिया दहपर्वतिया (असम)[6], भीटा[7] तथा सहेत-महेत[8] नामक स्थानो मे मिली है। जिनमे स्वाभाविकता और उचित भाव-भगिमा प्रदर्शित की गयी है।[9] मथुरा से भी अनेक प्रकार की मूर्तिया प्राप्त हुई है। बैल, हाथी, घोडे और अन्य खिलौने आदि पकी हुई मिट्टी के मिले है।[10] इनमे से अधिकाश मूर्तिया सहेत-महेत और वैशाली मे मिली हैं। अनेक कलात्मक मिट्टी की मुहरे वैशाली (विहार) और भीटा (म० प्र०), राजघाट (वाराणसी) आदि मे प्राप्त हुई है।[11]

अन्य शिल्प

गुप्तकालीन अनेक अलकृत प्रस्तर भी प्राप्त हुए है। गुप्तकाल की इमारतो की सज्जा के लिए व्याल, कीर्तिमुख, गगा-यमुना और बेल-बूटो का प्रयोग होता

---

1 साहनी, वही, सुख्या एच० (ए) 4-5-9।
2. वही, सं० एच० (ए) 2।
3. वही, 12-12।
4. वही, एच (ए) सं० 32।
5. 40-50-51।
6. आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, 1911-12 पृ० 76।
7 वही, 1925-26।
8 वही, 1911-12 पृ० 76।
9 आर० डो० बनर्जी, वही, पृ० 209।
10. साहनी वही, 194, 238, 243।
11. आ० स० रि०, 1910-11, पृ० 20-21।

था। व्याल की आकृति सिंह का शरीर है,[1] किंतु उसके सीग और पंख भी होते है। शायद व्याल पर एक योद्धा आरूढ रहता है। सारनाथ संग्रहालय में व्याल की आकृति सहित अनेक प्रस्तर मिले है।[2] व्याल आकाश में उडते हुए भी प्रदर्शित किये गये है।[3] गुप्तकालीन शिल्पकला में सिंह-मुख का प्रयोग अलकार के रूप मे हुआ है, इसी सिंह-मुख को कीर्तिमुख कहते है। स्तभो और मदिरो की ऊपरी चौखट को कीर्तिमुख से अलकृत किया जाता है। भूमरा और देवगढ के मदिरो को कीर्तिमुख सुशोभित कर रहे हैं।[4] सारनाथ के स्तभो पर भी ऐसी आकृतिया मिलती हैं। मथुरा मे कीर्तिमुख की एक आकृति प्राप्त हुई है, जिसमें काल भी प्रदर्शित किये गये है। अलकरण-प्रकार का तीसरा नमूना गगा और यमुना की आकृतिया हैं।[5] गुप्तकालिक मदिरो मे प्राय सज्जा के लिए द्वार स्तभो पर दाहिने परिचारको सहित मकरवाहिनी गगा और बायी ओर कूर्मवाहिनी यमुना की आकृतिया बनी है। अलकरण-प्रकार का चौथा नमूना बेल-बूटे और पद्मलता आदि है। इनका प्रयोग मदिरो तथा महलो मे हुआ है। प्राय चौखट का अधिकाश भाग लताओ से सजाया जाता था। उसके अतिरिक्त प्रस्तर स्तभ भी पद्म और लताओ मे सजाये जाते थे। गुप्तकालीन शिल्पकला मे अनेक प्रकार के बेल-बूटो और ज्यामिति की आकृतियों से मदिरों, स्तूपो और भवनो को सुशोभित किया जाता था। धमेख स्तूप (सारनाथ) पर इस प्रकार की सुदर सजावट है।[6] अलकरण-प्रकार का पाचवा नमूना चैत्य-वातायन अथवा चैत्य गवाक्ष है। घुडनाल की आकृति के गवाक्षो का निर्माण विहारो और मदिरो मे गुप्तकाल मे पूर्व भी होता था। कार्ले, भाजा, नासिक और कन्हेरी की गुफा मे इनके नमूने उपलब्ध है।[7] सारनाथ के सग्रहा-लय मे गुप्तकालीन एक प्रस्तर का गवाक्ष सुरक्षित है। गवाक्षो के मध्य प्राय देवता की मूर्ति अथवा कीर्तिमुख की आकृति निर्मित रहती थी।[8] गवाक्षो का प्रयोग केवल अलकरण के लिए किया जाता था।

---

1 फोगल, कैटलाग म्यूजियम सारनाथ, भूमिका, 27।
2 साहनी, वही, स० सी० (बी) 1-81।
3 अ० स० रि०, 1903-04 पृ० 216।
4 बनर्जी, वही, स० 16 प्लेट।
5 कनिघम, आ० स० रि०, 10, 60।
6 वासुदेव उपाध्याय, गुप्त-साम्राज्य का इतिहास पृ० 256।
7 देखिये काड्रिटन कृत एशेंट इंडिया, प्लेट 4-5।
8 साहनी, वही, प्लेट स० डी० 21।

3 चित्रकला

गुप्तकाल मे वास्तुकला और शिल्पकला की भांति ही चित्रकला भी अपने वैभव, गौरव तथा तकनीक को चरम सीमा पर पहुँच गयी। गुप्तकालीन चित्र-कला के विश्वविख्यात उदाहरण अजंता और बाघ की गुफाओ मे उपलब्ध हैं।

साहित्यिक साक्ष्य

कालिदास के ग्रंथो से भी पता चलता है कि उस समय चित्रकला का खूब प्रचार था। कालिदास कृत **मेघदूत** मे यक्ष-पत्नी के द्वारा यक्ष के भावगम्य चित्र-निर्माण का उल्लेख है। वात्स्यायन कृत **कामसूत्र** से पता चलता है कि चित्रकला का अध्ययन वैज्ञानिक सिद्धातो के आधार पर होता था। **विष्णुपुराण** मे[1] चित्रकला के अंगो का विशद वर्णन है। विशाखदत्त कृत **मुद्राराक्षस** मे चाणक्य द्वारा नियुक्त जिस गुप्तचर को अमात्य राक्षस की मुद्रा उपलब्ध हुई थी, वह पट फैला कर भिक्षा माग रहा था। इस पट पर यमराज का चित्र अंकित था।

शैली एव तकनीक

गुप्तकाल मे दीवारो छतो और वस्त्रो पर चित्रकला का अलकरण होता था। वर्तिका से रेखा खीचने के पूर्व दीवार तथा छत को समतल कर उसपर वज्रलेप (पालिश) लगाते थे। यह गोबर, मिट्टी, भूसी, चूने, जूट और सन के कणो द्वारा तैयार किया जाता था। उसे चिकना करने के लिए अडे के छिल्के का प्रयोग होता था। समतल भूमि को चिकना कर उसपर चित्रण कार्य प्रारभ होता था। तत्कालीन ग्रंथो मे लेप लगाने का विवरण मिलता है।[2] सबसे पहले रूपरेखा बनायी जाती थी। इसके बाद विविध रग भरे जाते थे। कालिदास के ग्रंथो मे चित्रकला की सामग्री का उल्लेख हुआ है।[3]

गुप्तकालीन चित्रकारों ने मानव जीवन के अतिरिक्त पशु-पक्षियो के जीवन तथा प्रकृति के विभिन्न अगो का चित्रण किया है। प्राय चित्र दो प्रकार के हैं— धार्मिक और लौकिक। भगवान बुद्ध तथा बोधि-सत्वो के जीवन की प्रमुख घट-नाओ तथा जातक कथाओ का सुदर निरुपण हुआ है। इन चित्रो मे पुरुषो तथा स्त्रियों के शारीरिक गठन, उभार, केश विन्यास, मुखमुद्रा, भावभंगिमा, अग प्रत्यग की सुंदरता एव वस्त्राभूषणो का सफल अंकन हुआ है। इसके अतिरिक्त

---

1. देखिये विष्णु पुराण, धर्मोत्तरम् अंश। यह गुप्तकालीन रचना मानी जाती है।

2. भारताचार्य, नाट्शास्त्र, 2, 72-74, कुमार सभव, 7, 15।

3. शाकुतल, अक 2, 9 और अंक 6 रघुवंश, 19, 19।

पशु पक्षियो की आकृतियो, लताओ, पुष्पो, सरिताओ एव निर्झरो आदि वास्तविक चित्रण हुआ है।

अजता की चित्रकारी

अजता की शैलोत्कीण गुफाओ मे निर्मित विहारो व चैत्यो की दीवारो और छतो पर चित्रकारी निर्मित है। अजता में निर्माण की परपरा गुप्तकाल से पहले से ही विद्यमान थी। गुप्तकाल मे चित्रकार की कला उत्कृष्टता की चरमसीमा तक पहुँच चुकी थी. चित्रकला के इस उन्नत रूप के पर्याप्त उदाहरण 1,2,16, 17 संख्या की गुफाओ मे उपलब्ध है। इनकी चित्रकारी अपने सौदर्य, स्फुट अभिव्यक्ति, वर्णरचना, अनुपात एव प्रभावशाली समन्वय के कारण बडी मोहक है। छाया और प्रकाश के चारुमिश्रण से मूर्तियो के अग प्रत्यग की सुकुमारता, सुघडता एव भावभगी को बडी कुशलता से अभिव्यक्त किया गया है।

विषय वस्तु

अजता के गुप्तकालीन भित्तिचित्रो के विषयवस्तु को तीन भागो में विभक्त किया जा सकता है—सज्जा युक्त, प्रतिकृति, और वर्णनात्मक। सज्जा युक्त चित्रों के अंतर्गत अनेक अलकरण प्रधान अभिप्रायो (मोटिफ) का प्रयोग किया गया। स्थान-स्थान पर फल, फूल, पत्ती, लता, पशु, पक्षी तथा मनुष्यो एव देवताओ का सफल चित्रण हुआ है, जिनमे स्वाभाविकता एव लालित्य की अमिट छाप है। छतो मे चित्रित दृश्यो का विषय शुद्ध रूप से आलकारिक है। प्रतिकृति चित्रो का विषय धर्म संबधी है, जो भगवान बुद्ध की जीवन-घटनाओ और बोधिसत्व के रूप मे उनके पूर्व जन्मो में घटनाओ का चित्रण करती है। गुफा सख्या एक मे बोधिसत्व पद्मपाणि का चित्रण चित्रकला की परिपक्वता का सूचक है। वर्णनात्मक दृश्यो के अतर्गत अधिकतर जातक कथाओ के दृश्य आते है। गुफा सख्या 17 मे इन दृश्यो का बाहुल्य है। इसीलिये इस गुफा को चित्रालय कहा गया है। इसमे बुद्ध के जीवन की प्रमुख घटनाओ-जन्म, मरण आदि का चित्रण है।

गुहा संख्या एक के चित्र मे कुछ विदेशी लोग उपहार लिये हुए उपस्थित है। फर्ग्यूसन महोदय के अनुसार ईरान के सासानी बादशाह खुसरो परवेज के राजदूत का चालुक्य राजा पुलकेशिन् द्वितीय (610-642 ई०) स्वागत कर रहा है। इसके अतिरिक्त इसी गुफा मे मद्य-गोष्ठी के तीन दृश्यो में विदेशियो की एक टोली मद्यपान करने मे व्यस्त है। अनेक विद्वानो का मत है कि ये चित्र भी ईरान के बादशाह खुसरो और उसकी सुदरी मल्का शीरी की मद्यपान गोष्ठियो के दृश्य है। एक अन्य दृश्य मे एक ईरानी स्त्री एक ईरानी सुरा की बोतल पकडे खडी है।

स्त्रियों का चित्रण

अजना के भित्ति चित्रों में स्त्री का चित्रण सुदर, संयत एवं सम्मानपूर्ण रूप में हुआ है। खडी हुई, घुटनो के वल बैठी हुई, साधारण रूप में बैठी हुई, और लेटी हुई मुद्राओ मे स्त्रियो का सफल चित्रण हुआ है। स्त्रियो की चित्रकारी का का सर्वाधिक सुदर नमूना श्यामा राजकुमारी का है (गुफा स० 1), जिसकी भावभगिमा व बनावट आदि सुसज्जापूर्ण एवं भावपूर्ण है। अन्य चित्रो मे 'प्रसाधन' और 'माता-पुत्र' चित्र भी विशेष उल्लेखनीय है।

अजंता के कुछ महत्त्वपूर्ण चित्र

गुफा संख्या एक मे बुद्ध की दो प्रमुख जीवन घटनाएं अंकित हैं। प्रथम सबोधि प्राप्त करने का समय गौतम पर मार का प्रलोभन और आक्रमण चित्रित है। यहा भगवान को वज्रासन पर भूमिस्पर्श मुद्रा में दिखलाया गया है। एक अन्य चित्र मे श्रावस्ती के चमत्कारो का चित्रण हुआ है। गुफा संख्या दो मे बुद्ध के जन्म की घटना चित्रित है। माया का शयनागार है जिसने स्वप्न मे एक श्वेत हाथी को अपने शरीर मे प्रवेश करते देखा था। नीचे चित्र मे मायादेवी एक वृक्ष की टहनी पकडे और इद्र नवजात शिशु को अपनी भुजाओ मे उठाये हुए है। दाए सात पदचिह्न है, जो बुद्ध ने पैदा होते ही चले थे। इसी गुफा मे हंस जातक (सख्या 502), विधुर पडित जातक (सख्या 545) और रुद्रजातक (सख्या 502) का विवरणात्मक चित्रण हुआ है।

गुफा सख्या 16 मे सोती हुई पत्नी यशोधरा और पुत्र राहुल पर गृह त्याग के पूर्व सिद्धार्थ अतिम दृष्टि डालते हुए चित्रित है। सिद्धार्थ के उस समय की स्थिति को चित्रित करने मे चित्रकार को सफलता मिली है। इसी गुफा में एक अन्य चित्र है, जिसमे मृत्यु शैय्या पर राजकुमारी और उसके समीप बैठे हुए व्यक्तियो को विफलता चित्रित है। करुणा और भावनाओ की दृष्टि से यह चित्र श्रेष्ठतम माना जाता है।

गुफा सख्या 17 मे एक चित्र मे बुद्ध को यशोधरा से भिक्षा मागते हुए और यशोधरा के द्वारा राहुल को बुद्ध को सौपते हुए प्रदर्शित किया गया है। यशोधरा के मुख पर आग्रह और विवशता तथा राहुल के मुख पर आत्मसमर्पण और बुद्ध के मुख पर शाति एव निवृत्ति के भावो का प्रभावोत्पादक रूप में अकन हुआ है। इसके अतिरिक्त विहार के मडप की दीवारो पर अनेक जातक कथाओ का चित्रण हुआ है, जिसमे महाकवि जातक, हस्ति जातक, वेस्सन्तर जातक, सुतसोम जातक, सरभमिग जातक महषि जातक, वलाहस्य जातक, रुद्रजातक, और निग्रोधमिग जातक की कथाओ का विस्तृत चित्रण हुआ है। इसके अतिरिक्त इस गुफा में सिहल के राजदरबार का चित्र है।

चित्रकला की विशेषता

अजता की चित्रकला मे स्वाभाविकता, सादगी, सौम्य, औचित्य एव सौंदर्य की भावना है। "अजता के भित्ति चित्रो मे मैत्री, करुणा, प्रेम, क्रोध, लज्जा, हर्ष, उल्लास, उत्साह चिंता और घृणा आदि विविध प्रकार के भाव, शात, तपस्वियो और राजाओ से लेकर खूखार बाघ निर्दय वधिक, साधुवेशधारी धूर्त, शिकारी, नर्तक गायक, सुदर वस्त्राभूषणो से अलकृत रमणिया और सभी प्रकार के मनुष्य-ध्यानावस्थित बुद्ध से लेकर प्रणय-क्रीडा मे रत दम्पत्ति तथा शृगार मे सलग्न स्त्रिया तक समस्त मानव जीवन से कार्यकलाप अकित हैं।" अजता की कलाकृति इतनी पूर्ण, इतनी निर्दोष, इतनी सजीव तथा इतनी मुखरित है कि इसे ससार की सर्वश्रेष्ठ कला माना गया।

बाघ की चित्रकारी

इदौर से सौ मील दूर मालवा-गुजरात सीमा पर बाघ गाव के निकट बाघ नदी के तट पर स्थित अजता के समान ही गिरि गुफाए है, जिनमे विहार और चैत्य है। इन गुफाओ की सख्या नौ है और ये लगभग 700 मीटर की दूरी तक विस्तृत है। गुफा सख्या दो मे चित्रकला के कुछ चिह्न पाये गये। गुफा सख्या 4, जो रगमहल के नाम से विख्यात है, मे मनोहारी और भावप्रद चित्रकला के दर्शन होते है। गुफा सख्या चार और पाच मे चित्रकारी अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित मिलती है। सुरक्षित चित्रो की सख्या छ है। पहले दृश्य मे दो स्त्रिया बैठी हुई है। इनमे एक स्त्री दुखी है और दूसरी उसकी करुण कहानी सुनकर उसके साथ सहानुभूति प्रकट करती हुई दिखायी गयी है। दूसरे दृश्य मे चार पुरुष बैठे शास्त्रार्थ कर रहे है। तीसरे दृश्य के ऊपरी भाग मे छ पुरुष उडते हुए प्रदर्शित किये गये है। सभवत ये ऋषि और अर्हत है। निचले भाग मे पाच नर्तकियो के सिर दिखलायी पड रहे है। चौथे दृश्य मे गायिका-स्त्रियो के दो समूह दिखाई पड रहे है। साथ मे एक नर्तक है। इस दृश्य का अकन अत्यत मनमोहक है। पाचवे दृश्य मे अश्वारोहियो के जुलुस का दृश्य है। इनका शिरस्त्राण विशिष्ट प्रकार है। छठें दृश्य में हाथियो का जुलूस चित्रित है। कुछ कुछ सवार ध्वज धारण किये है। सभी चित्र हृदयग्राही और जीवत है।

बाघ के चित्र भाव प्रधान है। लगता है चित्रकार ने आह्लादित एव भाव-विभोर होकर उनका निर्माण किया था। सर जान मार्शल के अनुसार बाघ की चित्रकारी की कलात्मकता अजता की चित्रकारी से किसी प्रकार भी कम नही है। इन चित्रो की रचना-प्रकार विशेष महत्त्व रखता है। मार्शल के अनुसार बाघ की चित्रकारी जीवन की विभिन्न दशाओ का चित्रण करती है। साथ ही

वे उन अव्यक्त भावों को स्पष्ट करते है जिनको प्रकट करना उच्च कला का ध्येय है ।[1] अजता विपरीत बाघ के चित्रों को चित्रित करने की कल्पना एव निर्माण एक ही समय किया गया । उनको देखने से एक समष्टि का भाव उत्पन्न होता है । हैवेल के अनुसार बाघ के चित्रो में अनुपात एव औचित्य का बडा ध्यान रखा गया है । अजता के चित्रों का विषय प्रमुखत धार्मिक है, मनुष्य के लौकिक जीवन का चित्रण गौण है। इसके विपरीत बाघ के चित्रों के विषय में मुख्यत मानव के दैनिक जीवन से सबधित है, उसमे धार्मिकता गौण है । बाघ के चित्रो मे अद्भुत सौदर्य, कलाकार की अलौकिक शक्ति, हृदय के स्वर्गीय आनद की दिव्य-ज्योति प्रस्फुटित होती है ।[2]

•

1. दि बाघ केव्ज, पृ० 17 ।

2, कजंस, बाघ केव्ज, पृ० 73-74 ।

अध्याय नौ

सल्तनतकालीन (1206-1526) संस्कृति

तुर्क मुसलमानो द्वारा उत्तरी भारत पर आक्रमण 13वी शताब्दी की एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है। तुर्कों की विजय के परिणामस्वरूप विदेशियो का भारत मे व्यापक रूप मे अधिवासन हुआ। फिर शनै -शनै इस्लामी देशो से उनका आवागमन बढता रहा। फलत उनकी सख्या यहा बढती गयी। इसके साथ ही तुर्कों ने भारत के निवासियो के धर्म-परिवर्तन द्वारा अपने समाज का विस्तार किया। इस प्रकार भारत मे हिंदू समाज के अतिरिक्त एक नवीन इस्लामी समाज का जन्म हुआ।

तुर्क राज्य एक मजहबी राज्य था। जिसमे सिद्धातत अल्लाह को ही एकमात्र सत्ताधीश माना जाता था। मानवीय-शासक खुदा का प्रतिनिधि माना जाता था। खुदा के नियमो को जाननेवाले पुरोहित-वर्ग का शासन मे अत्यधिक प्रभाव स्वाभाविक था। शासको का प्रमुख कर्तव्य था कि वे कुरान के सिद्धात का पालन करे। मुस्लिम राज्य मे न्यायाधिकारी आलिम (बहुवचन--उलेमा)[1] होता था। उक्त राज्य मे नागरिक कानून को धार्मिक सिद्धात से समन्वित कर लिया जाता है। सल्तनतकालीन भारत के इस्लामी राज्य मे एक मजहबी राज्य (थियोक्रेसी) के मुख्य अग विद्यमान थे।[2] इस्लामी राज्य के सिद्धात के अनुसार इस्लाम के अतिरिक्त अन्य धर्मों के महत्त्व को स्वीकार करने की अनुमति न थी। इसमे केवल मुसलमान ही राज्य के नागरिक हो सकते है। गैर मुसलिम प्रजा की स्थिति निम्न श्रेणी की थी। सिंध के विजेता मुहम्मद बिन-कासिम ने राजनीतिक दूरदर्शिता दिखलायी। कुरान के सिद्धातो को कठोरता से लागू न करके और सिंध और मुलतान के हिंदुओ को आशिक धार्मिक स्वतत्रता प्रदान की। मुहम्मद बिन कासिम के बाद अधिकाश तुर्की एव अफगान शासको ने इसी परपरा का पालन किया।

---

1 उलेमा वे व्यक्ति है जिन्हे कुरान और हदीस का विशेष ज्ञान होता है। मुस्लिम शासन के अतर्गत उलेमा वर्ग बडा प्रभावशाली था। ये लोग 'शर' की व्याख्या करते थे और सुल्तानो को प्रशासन मे राय देते थे।

2. डॉ० आई० एच० कुरैशी ने 'सल्तनतकालीन राज्य' को मजहबी राज्य मानने से इकार किया है। देखिये एडमिनिस्ट्रेशन आफ दि सल्तनेत देल्ही, पृ० 206।

सल्तनतकालीन दिल्ली के सुल्तान सिद्धात मे तो स्वयं को खलीफा के अधीन समझते थे किंतु व्यवहार मे वे पूर्ण स्वतत्र थे। उन्होने खलीफा के नाम का सहारा लेकर अनेक मनमाने कार्य किये। खलीफा की अधीनता मे इस्लामी ससार की एकता का ढोग अंतिम अब्बासी खलीफा तक चलता रहा। अलाउद्दीन खिलजी ने परपरा को तोड दिया और उसके पुत्र कुतुबुद्दीन मुबारकशाह ने स्वय खलीफा की उपाधि धारण की।

सामाजिक स्थिति

जाति-प्रथा

प्राचीनकाल मे मुख्यत मानव की जन्मजात प्रवृत्तियो के आधार पर वर्ण व्यवस्था स्थापित की गयी थी, किंतु खान-पान, विवाहादि मे भारतीय समाज मे पर्याप्त समानता थी। सल्तनतकाल मे वर्ण-व्यवस्था मे और जटिलता आ गयी। फलत सामाजिक बधुत्व की भावना सकीर्णतर होती गयी। सामाजिक सगठन का मुख्य आधार वर्ण के स्थान पर जाति-व्यवस्था थी। जाति-बंधन और सकीर्णताए अधिक कठोर हो गयी थी। शूद्रो के भी दो वर्ग थे। जिन्हे अधिक हीन समझा जाता था वे अस्पृश्य समझे जाने लगे थे।[1]

व्यवसाय वशानुगत स्थिर होने लगा था। भोजन, धार्मिक विश्वास, भौगोलिक स्थिति, विवाहादि मे भिन्नता के आधार पर एक ही वर्ण के भीतर अनेक वर्ग बनने लगे। वर्णसकर जातिया बनी और उनको भी वर्ण-व्यवस्था के अतर्गत रखने का प्रयास किया गया। जिन विदेशी जातियो ने हिंदूधर्म स्वीकार किया उनकी भी नवीन जातिया बनी। सल्तनतकालीन मुस्लिम शासन का प्रभाव पर्याप्त रूप मे ब्राह्मणो की स्थिति एव उनके कार्यों पर पडा, क्योकि केवल अध्ययन-अध्यापन से उनका जीविकोपार्जन असभव हो गया। अत तात्कालिक स्मृतियो[2] मे यह व्यवस्था की गयी थी कि वे कृषि-कार्य द्वारा भी जीविकोपार्जन कर सकते है। स्वाभाविक है कि सल्तनतकाल मे ब्राह्मणो का महत्त्व घट गया। ऐसे ब्राह्मण पर्याप्त सख्या मे थे जो ज्ञानी नही थे और स्वाभाविक है कि समाज मे ब्राह्मणो का प्रभाव पहले की अपेक्षा कम हो गया हो। इस्लामी शासन का दूसरा प्रभाव यह पडा कि शूद्रो के प्रति ब्राह्मणो का दृष्टिकोण कुछ पहले की अपेक्षा उदार हो गया। अब शूद्र व्यापार भी कर सकते थे और विशिष्ट शूद्रों से आहार भी ग्रहण किया जा सकता था।[3] क्षत्रियों की स्थिति बहुत कुछ

---

1. यू०सी० घोषाल, स्ट्रगलर फार इंपायर, पृ० 475।

2. पराशर–माधव 1,425–26 द्रष्टव्य हिस्ट्री ऐंड कल्चर आफ इडियन पीपुल, 6,575–76।

3 द्रष्टव्य हिस्ट्री ऐंड कल्चर आफ इंडियन पीपुल, 6,575–76।

पहले की ही भाति थी। वे अस्त्र-शस्त्र धारण करते थे। वे युद्ध के साथ कुछ साहित्यिक रुचि के भी थे। चौहान राजा विग्रहराज ने हरकेलि नाटक की रचना की, राजा भोज आदि विद्वत्ता के लिए विख्यात थे। अधिकाश वैश्य पूर्ववत् अपने व्यापार करते थे। अब उन्हे वैदिक मत्रो का पाठ करने की अनुमति न थी[1], अलबेरूनी का यह कथन कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण लगता है कि बहुधा वैश्यो ने कृषिकार्य त्यागकर, राज्यकार्य युद्धकार्य आदि करना प्रारभ कर दिया था।

हिंदुओ की भाति मुसलमानो में भी जन्म, सम्प्रदाय और नस्ल आदि के आधार पर भेद उत्पन्न होने लगे थे। प्रारभ मे अरबवासी अपने को अन्य मुसलमानों से श्रेष्ठ समझते थे। शासन मे उनका एकाधिकार था। अत समाज मे उनका सम्मान अधिक था। अरबो को इस बात का भी गर्व था कि पैगबर मुहम्मद भी अरब देशवासी थे। इसके अतिरिक्त अरबो मे पैगबर साहब के कुरेश कबीले को अपेक्षाकृत अधिक सम्मान प्राप्त था। उसमें भी मुहम्मद साहब की पुत्री फातिमा की सतान के परिवार को सर्वश्रेष्ठ मुसलमान माना जाता था। इन्हे ही सैय्यद कहा गया। अब्बासी खलीफाओ के काल मे फारस के निवासियो का प्रभुत्व बढा। फारस मे शिया धर्मानुयायी अधिक थे। उनकी सस्कृति अरब सस्कृति से अधिक गौरवपूर्ण थी। अपने प्रभुत्वकाल मे उन्होने अरबो को हेय और ईरानियो को श्रेष्ठ माना। इसी प्रकार आगे चलकर तुर्को ने अपने प्रभुत्वकाल मे तुर्को को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध किया। इस प्रकार समय परिवर्तन के साथ अरब, ईरानी, तुर्क, मगोल, पठान और भारत के मुसलमानो के भेद दृढ हो गये। परतु ये भेद 'शरिअत' के अनुसार न होकर केवल परिस्थितिजन्य थे और हिंदू जातिप्रथा की भाति जटिल न थे। सभी मुसलमानो का आपस में खान-पान और विवाहादि का सबध रहता था। इसीलिए मुसलमानो मे सामाजिक एकता हिंदुओ की अपेक्षा अधिक रही।[2]

तात्कालिक मुस्लिम समाज को उच्च वर्ग को दो श्रेणियो में विभक्त किया जा सकता है। योद्धा, जो कि अधिक सख्या मे थे और लेखक, जिनकी सख्या अपेक्षाकृत काफी कम थी। प्रथम श्रेणी मे सैनिक आते है जो प्राय विदेशी थे और सैनिक सगठनो मे कार्य करते थे। इनका वर्गीकरण खान, मालिक, अमीर, सिपहसालार, और सरे-खैल मे किया गया था। इनमे 'खान' का सबसे ऊचा और 'सरेखैल' का निम्न स्थान था। किंतु इस व्यवस्था का महत्त्व कम हो गया था। लेखको मे अधिकाश गैरतुर्की विदेशी मुसलमान और उनके वशज

1. अलबरूनीज इंडिया, 1,125।

2 देखिये, डॉ० अवधबिहारी पाडेय कृत पूर्वमध्यकालीन भारत, पृ० 393–4।

थे । इनमे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मौलवी उलेमा थे जो अध्यापक और काजी होते थे । शासन पर इनका प्रभाव होता था । मुस्लिम समाज के निम्न वर्ग मे कारीगर, दूकानदार, मुशी और छोटे व्यापारी थे । कलदर और फकीर भी थे । सूफी-सतो का एक पृथक् वर्ग था ।

दासप्रथा

हिंदू और मुसलमान दोनो धर्मानुयायियो मे दासप्रथा प्रचलित थी । दासो के बाजार लगते थे । और पशुओ की भाति उनका क्रय-विक्रय होता था । स्मृतियो मे हिंदुओ के पद्रह प्रकार के दासों का उल्लेख है । जिनमे प्रमुख अग्र-लिखित है । 1 गृहजात (घर की दासी से उत्पन्न), 2 क्रीत (क्रय किया हुआ), 3 लब्ध (दान द्वारा प्राप्त), 4 अनाकालभृत (अकाल के समय मृत्यु से बचाया हुआ), 5 ऋणदास (ऋण न चुका सकनेवाला), 6 युद्धप्राप्त, 7 प्रव्रज्यावसित (पतित साधु जो चाकरी कर ले), 8 आत्मविक्रेता आदि । हिंदुओ के दास परिवार के सदस्य के रूप मे रहते थे और साधारणत उनके साथ दुर्व्यवहार कम ही होता था ।

मुसलमानो मे चार प्रकार के दास होते थे, यथा—क्रीत, लब्ध, युद्धप्राप्त और आत्मविक्रेता । मुहम्मद साहब ने दासो के साथ सद्व्यवहार करने का आदेश दिया है । हिंदुओ की अपेक्षा मुसलमान दासो की स्थिति अच्छी थी । बडे व्यक्ति का दास होना अक्सर लाभकारी सिद्ध होता था । दास अपने-अपने स्वामी के स्नेहभाजन बन कर उच्च पदो पर भी जा पहुँचते थे । शहाबुद्दीन गोरी के दासो मे ताजुद्दीन यलदौज, नासिरुद्दीन कुबाचा और कुतुबुद्दीन ऐबक अत्यत प्रभावशाली थे । कुतुबुद्दीन, इल्तुतमिश और बलबन दासत्व से मुक्त होकर सुलतान हुए थे । नासिरुद्दीन, खुसरो, मलिक काफूर और खान जहा मकबूल आदि ऐसे लोग थे जिन्होने अपना जीविकोपाजन छोटे पदो पर रह कर आरभ किया था किंतु अपनी योग्यता के बल पर उच्च पद प्राप्त किया था । किसी इतिहासकार का कथन है कि तुर्को की सफलता का एक कारण उनकी विशिष्ट दासप्रथा थी ।

विवाह

सामान्यतया हिंदुओ मे अपनी ही जाति मे विवाह करने की प्रथा थी, किंतु अतर्जातीय विवाह भी होते थे । सवर्ण विवाह श्रेष्ठ समझा जाता था, फिर भी अन्य वर्णों से विवाह करने का प्रचलन था । स्मृतियो के अनुसार कलियुग मे द्विजो (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वश्य) के पुरुष द्वारा निम्न जाति की कन्या से विवाह करना निषिद्ध था ।[1] लेकिन समाज म ऐसे विवाह होते थे । प्रतिलोम (उच्च

1. पराशर-माधव, 1,123–27 और मदनपारिजात, 15-16 ।

वर्ण का पुरुष और हीन वर्ण की स्त्री के साथ) विवाहो का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मण कवि राजशेखर ने चौहान कन्या अवति सुदरी से विवाह किया था। अनुलोम विवाह (उच्च वर्ण की स्त्री और निम्न वर्ण का पुरुष) को स्मृतियो मे वर्जित नही किया है। प्राचीनकाल की भाति ही सगोत्र विवाह नही होते थे। विधवा-विवाह भी वर्जित था। राजा प्राय बहुपत्नीक होते थे। हिंदू समाज में सामान्यत तलाक की प्रथा नही थी, जब कि मुस्लिम समाज मे तलाक की प्रथा थी। मुस्लिम समाज मे अतर्जातीय एव बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। किंतु तुर्क, पठान, सैयद और शेख भी प्राय निम्नजातीय मुसलमान से विवाह सबंध नही करते थे।[1]

स्त्रियो की स्थिति

प्राचीनकाल की अपेक्षा सल्तनतकाल मे स्त्रियो की स्थिति मे ह्रास होने लगा था। तुर्कों के भय से हिंदू स्त्रियो को बहुत कुछ पिजडे की चिडिया बना दिया गया था। घर मे उन्हे आदरपूर्ण स्थान प्राप्त था। वह अभी भी गृह-स्वामिनी थी और धार्मिक कृत्यो मे भाग लेती थी। कुछ स्त्रियो को ललित कलाओ का ज्ञान था।

मुसलमानो के भय एव अत्याचार के कारण बाल-विवाह प्रचलित हो गये थे। कन्या के रजस्वला होने के बाद होनेवाले विवाहो का अच्छा नही माना जाता था। पर्दाप्रथा का प्रचलन बढा।[2] सती-प्रथा सामान्यत प्रचलित थी किंतु अनिवार्य न थी। अलबेरूनी का कथन है कि विधवा के लिए यह विकल्प था कि या तो वह आजीवन विधवा रहे अथवा सती हो जाय। सामान्यत उच्चवर्गीय स्त्रिया सती होना पसद करती थी। सामान्य लोग एक विवाह करते थे किंतु कुछ विशेष राजपरिवार के लोग बहुविवाह करते थे। विधवाओ को पुनर्विवाह की अनुमति नही थी और समाज मे उन्हे सन्यासिनी की भाति रहना पडता था। पुत्रजन्म पर उत्सव मनाया जाता था किंतु कन्या के जन्म पर विशेष खुशी नहीं होती थी।

मुस्लिम परिवारो मे स्त्रियो का सम्मान हिंदू परिवार की अपेक्षा कम था।

---

1 एम० डब्लू० मिर्जा, हिस्ट्री ऐड कल्चर आफ इडियन पीपुल, भाग 6, पृ० 608।

2 डॉ० एम० डब्लू० मिर्जा के इस मत का डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव ने खडन किया है कि मुसलमानो मे पर्दाप्रथा का जन्म राजपूती प्रभाव के कारण भारत मे बारहवी शती मे हुआ। डॉ० श्रीवास्तव के अनुसार मुसलमानो के सपर्क से पहले राजपूती इतिहास मे पर्दो का कोई उल्लेख नही है। देखिये, मध्यकालीन भारतीय सस्कृति पृ० 20-21।

मुस्लिम समाज मे बहुविवाह-प्रथा प्रचलित थी। एक व्यक्ति एक साथ चार पत्नी रख सकता था। मुस्लिम समाज मे पत्नी को गृहस्वामिनी का दर्जा न मिलने पर भी उसके साथ सद्व्यवहार किया जाता था। मुस्लिम स्त्रिया पर्दा करती थी। उच्च परिवार की स्त्रिया बुर्का पहनती थी। उन्हे सभवत. उच्च शिक्षा नही दी जाती थी। उनकी शिक्षा-दीक्षा कुरान और अन्य धर्मग्रथ पढाये जाने तक सीमित थी। पत्नियो पर कडी नजर रखी जाती थी। वे स्वतत्र न थी। फीरोज तुगलक और सिकदर लोदी ने स्त्रियो की स्वतत्रता को अधिक कुठित किया। फीराज तुगलक ने स्त्रियो का पीरो की दरगाहो पर जाना बद कर दिया था क्योकि वहा उनको पथभ्रष्ट करने के लिए अनेक चरित्रभ्रष्ट पुरुष भी जाते थे। मुस्लिम स्त्रियो को पैतृक सपत्ति मे अधिक अधिकार प्राप्त था। वे विशेष परिस्थिति मे पति को तलाक भी दे सकती थी। साधारणतया पारिवारिक जीवन शातिमय था और पति-पत्नी मे सद्भावना, प्रेम और सम्मान रहता था।

भोजन और पेय

जैन, बौद्ध एव वैष्णव धर्मों के प्रभाव के कारण हिदू समाज मे अधिकाश लोग शाकाहारी थे, किंतु सामिष भोजन वर्जित न था। अलबेरूनी के अनुसार ब्राह्मण सभी प्रकार के मास से दूर रहते थे। क्षत्रिय लोग सामिष भोजन करते थे। शूद्रो मे भी मास-मछली खाने का प्रचलन था। अलबेरुनी ने ऐसे पशु पक्षियो का नामोल्लेख किया है जिनका मास शूद्रो के अतिरिक्त ओर कोई नही खाता था।[1] उत्सवो, पर्वो ओर त्यौहारो पर अनेक प्रकार के व्यजन बनते थे। दूध, घी, मक्खन आदि का विशेष महत्त्व था। बहुधा उच्चवग के लोग मदिरा, अफीम तथा अन्य मादक द्रव्यो का उपयोग करते थे। शूद्र चाहे तो मद्यपान कर सकते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य स्त्रियो के लिए मद्यपान सिद्धातत निषिद्ध था। मुसलमानो मे मासाहार खूब प्रचलित था। केवल सूफी सत और उनके प्रभाव के कारण कुछ परिवार शाकाहारी थे। उनमे ईरानी और भारतीय प्रभाव के कारण व्यजनो की सख्या मे वृद्धि हुई थी। शराब पीने का भी प्रचलन था। लगभग सभी सुल्तान शराब पीते थे। अलाउद्दीन खिलजी ने शराब बनाने पर प्रतिबध लगा दिया था। इब्नबतूता का कथन है कि दिल्ली के आस-पास के गावो मे ईधन की लकडियो मे छुपाकर शराब राजधानी लायी जाती थी। पठान लोग अफीम और पोस्त खाने थे।

वस्त्राभूषण आदि

उत्तरी भारत मे साधारणतया पुरुष धोती और पगडी और स्त्रिया साडी पहनती थी। धनाढ्य लोग एक प्रकार का जैकेट पहनते थे। दक्षिण भारत मे स्त्री

1 अलबेरूनीज इडिया, 2,251 और आगे।

और पुरुष लु गी पहनते थे और साधारणत नगे पैर रहते थे। ऊनी, सूती और रेशमी वस्त्रो का प्रचलन था। देश भर के स्त्री-पुरुष आभूषणो का प्रयोग करते थे। उच्चवर्ग के लोग महलो मे रहते थे और सोने और चादी के बरतनो मे भोजन करते थे। सभी जाति के लोगो मे सुगधित तेलो और स्नानादि का प्रयोग किया जाता था। लोग लबे केश धारण करते थे। आभूषण के लिए नाक कान मे छेद किये जाते थे।

मुस्लिम-समाज मे उच्चवर्ग के लोग रगीन और बहुमूल्य वस्त्रो का प्रयोग करते थे। वे वस्त्रो को सुनहरे ओर रुपहले बेल-बूटो से अलकृत करते थे। सामान्य लोग सादे कपडे विशेषकर कमीज-पायजामा और अचकन पहनते थे। कुछ लोग लु गी पहनते थे। उलेमा लोग साफा और लबे कुर्ते पहनते थे। स्त्रिया तग माहरी के पायजामे और कमीज (जमफर) पहनती थी। कुछ स्त्रिया टोपी भी पहनती थी।

आमोद-प्रमोद

हिंदुओ मे होली, वसतोत्सव और रक्षाबधन आदि त्योहार आनद और उत्साह के साथ मनाये जाते थे। कुछ मुसलमान लोग कभी-कभी इन त्यौहारो के मनाने में बाधा भी डालते थे। सगीत, नृत्य, कला-प्रदर्शनियो और नाटको द्वारा मनोरजन होता था। द्यूत, मृगया, मल्लयुद्ध और पशुयुद्ध आदि मनोरजन के साधन थे। निम्नवर्ग के लोग मनोरजन के लिए सस्ती मदिरा का प्रयोग करते थे। लोकनृत्य का चलन था। नट लोग अपनी कला का प्रदर्शन करते थे। मुसलमान लोग अपने त्योहार सोल्लास मनाते थे। उनके त्यौहार मे ईदुल फितर, ईदुल-जुहा, मुहर्रम, शबरात, ईद मीलादुन्नबी (पैगबर की वर्षी) और नौरोज प्रमुख थे। उनके धार्मिक सस्कारो मे अकीका (चूडाकर्म), बिसमिल्लाह (मकतब), सुन्नत, विवाह और मृत्यु के बाद सय्युम और चहल्लुम महत्त्वपूर्ण थे।

धार्मिक स्थिति

इस्लाम

मध्यकालीन धार्मिक इतिहास मे इस्लाम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऐसे तो अरबो का भारत के साथ अत्यत प्राचीन व्यापारिक सबध चला आ रहा था।[1] प्रारभिक खलीफाओ के काल मे अरबो का भारत से केवल व्यापारिक सबध था। किंतु अत मे हज्जाज नाम खलीफा ने अपने भतीजे मोहम्मद-बिन-कासिम

1. ए० बी० एम० हबीब, दि फाउडेशन ऑफ मुस्लिम रूल इन इडिया पृ० 1।

को सिंध-विजय के लिए नियुक्त किया ।[1]

इस्लाम का बलपूर्वक प्रचार-कार्य भी मुस्लिम आक्राताओं ने किया। किंतु इसके साथ-साथ बहुत से मुस्लिम फकीर भी शांतिपूर्वक इस्लाम का प्रचार करने भारत आये ।[2] इन फकीरों एव सूफी-सतो ने अपने उपदेशो से निम्नजातीय हिंदुओ को मुसलमान बनाया। इस क्षेत्र मे शेख इस्माइल और अब्दुल्ला ने भारत मे उल्लेखनीय कार्य किया। बारहवी शताब्दी में नूर सतागर ईरानी ने गुजरात की निम्नवर्ग की जातियो को मुसलमान बनाया। तेरहवी शताब्दी मे जलालुद्दीन बुखारी,[3] सैय्यद अहमद कबीर और ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने इस क्षेत्र मे अभूतपूर्व कार्य किया ।[4] इनकी शिष्य परपरा मे फरीदुद्दीन, निजामुद्दीन औलिया, ख्वाजा कुतुबुद्दीन, शेख अलाउद्दीन अली और अहमद साबिर आदि सतो ने तेरहवी शताब्दी और चौदहवी शताब्दी में कुछ हिंदुओ को अपने पवित्र चरित्र एव सरल शिक्षाओ द्वारा प्रभावित करके इस्लाम धर्म का अनुयायी बनाया। इन मुसलमान फकीरो को हिंदुओ की सकीर्ण जातिप्रथा के कारण बहिष्कृत एवं पददलित व्यक्तियो तथा निम्न जातियो को इस्लामधर्म मे दीक्षित करने मे बहुत सफलता मिली ।

दिल्ली के सुल्तानो की धार्मिक नीति

शरीयत के अनुसार हिंदू किसी प्रकार की धार्मिक सहनशीलता के अधिकारी न थे। किंतु फिर भी मुहम्मद बिन कासिम ने धर्मांध उलेमा लोगो की इच्छा के विरुद्ध हिंदुओ के प्रति विशेष असहिष्णुता की नीति नही अपनायी। यह नीति परपरा सी बन गयी और दिल्ली के सुलतानो ने सल्तनतकाल मे इसी नीति

---

1 कासिम ने अपने रण-कौशल द्वारा राजा दाहिर को परास्त (712 ई०) कर सिंध को अरब सत्ता के अधीन कर लिया। इसके तीन सौ वर्ष बाद ग्यारहवी शताब्दी मे महमूद गजनवी ने भारत पर अनेक आक्रमण किये। इसके दो सौ वर्ष उपरात शहाबुद्दीन गोरी ने अनेक बार स्वय परास्त होकर अत मे पृथ्वीराज चौहान को परास्त (1192 ई०) किया। शहाबुद्दीन गोरी के सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक ने भारत मे मुस्लिम शासन की स्थायी नीव (1206 ई०) डाली थी।

2 मोहम्मद हबीब, सुलतान महमूद ऑफ गजनी, पृ० 82 और डॉ० तारा चद, इन्फ्लुएस ऑफ इस्लाम ऑन इडियन कल्चर, पृ० 46 ।

3. ए० अहमद, स्टडीज इन इस्लामिक कल्चर इन इडियन इवायरनमेंट, पृ० 84 ।

4 यूसुफ हुसेन, ग्लिम्प्सेस ऑफ मिडीवल इंडियन कल्चर, 37 ।

का अनुसरण किया ।[1] सभवत कुरान के आदेश को पूर्णत न लागू करने का कारण यह था कि हिदुओ का बहुमत था और वे काफी सशक्त थे । यह तथ्य जियाउद्दीन बरनी के इस दु खपूर्ण कथन से सिद्ध होता है कि एक इस्लामी राज्य मे मुसलमान शासको द्वारा ही इस्लाम के मूल सिद्धातो की उपेक्षा की जा रही है ।[2] क्योंकि हिदुओ के प्रति कुरान के कठोर आदेशो का क्रियान्वयन नही किया जा सका था इसलिए सुलतानो ने बाध्य होकर जजिया[3] नामक एक विशेष कर लगाया था और हिदुओ को द्वितीय श्रेणी के नागरिको की हैसियत से रहने की अनुमति दे रखी थी । इसके अतिरिक्त उन्हे सार्वजनिक रूप से धार्मिक कार्य करने की अनुमति न थी । अलाउद्दीन खिलजी, फीरोज तुगलक और सिकदर लोदी ने धर्माधतावश उन पर अच्छे वस्त्र पहनने, घोडे पर सवार होने और अच्छे अस्त्र-शस्त्र तथा खान-पान तक की रोक लगा दी थी । शरीयत के अनुसार उन्हे मदिरो का निर्माण या जीर्णोद्धार कराने की अनुमति न थी । कभी-कभी शातिकाल मे भी हिदुओ के मदिर गिरा दिये जाते थे । फीरोज तुगलक ने पूजा-उपासना पर प्रतिबध लगा दिया था । मदिरो को ध्वस्त कर, उनके उपासको को कत्ल करा दिया था ।[4] कही-कही तो प्राचीन मदिरो को तुडवा कर उनकी सामग्री से मस्जिदे और मकबरे निर्मित कराये गये थे । सुल्तान इस्लाम के प्रचार के लिए और हिदुओ को मुसलमान बनाने के लिए राज्य के साधनो का प्रयोग भी करते थे । उदाहरणार्थ फीरोज तुगलक ने घोषणा की थी कि जो भी इस्लाम स्वीकार कर लेगा और कलमा पढेगा उसे जजिया से मुक्त कर दिया जायेगा । स्वय सुलतान ने यह स्वीकार किया है कि इस घोषणा का अनुकूल प्रभाव पडा और अनेक हिदुओ ने इस्लाम ग्रहण किया ।[5]

1 अलाउद्दीन खिलजी के काल मे काजी मुगिसुद्दीन ने कहा था "क्योकि हिंदू पैगबर के सबसे बडे शत्रु है इसलिए खुदा ने स्वय ही हिंदुओ को पूर्ण दमन करने का आदेश दिया है । पैगबर ने कहा है कि वे या तो इस्लाम स्वीकारे अथवा कत्ल या गुलामी । केवल अबू हनीफ ने हिंदुओ पर जजिया लगाने की अनुमति दे कर रहम किया जब कि अन्य विद्वानों का यही मत है कि मौत या इस्लाम के सिवा उनके लिए कोई विकल्प नही है" बिब्लोथिका इडिका, पृ० 209–11 ।

2 बानी, फतवा–ए–जहागीरी ।

3 धनी हिंदू 48, सामान्य 24 और गरीब 12 चादी के सिक्के प्रतिवर्ष जजिया कर देते थे । सन्यासी, भिक्षु, अधे, बालक और ब्राह्मण इस कर से मुक्त थे । किंतु फीरोज तुगलक ने ब्राह्मणो पर भी यह कर लगा दिया था ।

4 इलियट डाउसन, भाग 3, पृ० 380 और आगे ।

5 देखिये, शेख अब्दुर्रशीद द्वारा अनूदित, फतुहाते फीरोजशाही ।

सूफीवाद[1]

"सूफीवाद इस्लाम के धार्मिक जीवन की वह अवस्था है, जिसमे बाह्य क्रियाओं की अपेक्षा आतरिक क्रियाओ पर विशेष बल दिया जाता है, दूसरे शब्दों में यह इस्लामी रहस्यवाद का बोधक है।"

प्रारभ मे सूफियों[2] के विचार कुरान और मोहम्मद साहब की शिक्षाओं तक

---

1 मुस्लिम लेखकों ने सूफीवाद के लिए "तसव्वुफ" शब्द का प्रयोग किया है। तारतम्य बनाये रखने के लिए मुगलकालीन सूफी-सतो का विवरण इसी अध्याय में दिया गया है।

2 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति के सबध मे अनेक मत हैं। विद्वान 'सूफी' शब्द की व्युत्पत्ति अरबी भाषा के 'सफा' (विशुद्धि) शब्द से बताते है। कुछ विद्वान इसका सबंध 'सूफ' (ऊन) शब्द से बताते है क्योकि पहले सूफी ऊनी वस्त्र (कबल) धारण करते थे। कुछ विद्वानो के अनुसार सर्वप्रथम सहाबा (पैगबर मोहम्मद साहब के सहयोगी) मे से कुछ लोग जो सासारिक जीवन से विराम लेकर 'सूफ' नाम की एक गुफा मे तपस्या करते थे 'सूफी' कहे गये। 'सफ' का अर्थ पक्ति है। सासारिक अनाचार से दूर पवित्र जीवनयापन करनेवाले एक सी अथवा समान भाव रखने के कारण एक पक्ति में स्थान रखने के अधिकारी सूफी कहलाए। कुछ विद्वानो के मतानुसार मदीना शरीफ की मस्जिद के सुफ्फा नामक चबूतरे पर बैठनेवाले फकीर सूफी कहलाते थे। ग्रीक भाषा में सोफिया का अर्थ ज्ञान है। अग्रेजी शब्द फिलासफी के मूल मे भी यही सोफिया शब्द है। चिमय परमात्मा मे अन्वेषी ज्ञान-दशा मे रमनेवालो को सूफी कहना अधिक सगत लगता है। इसलिए सूफियो को साहित्यिक भाषा मे रहस्यवादी कहा गया है। इस प्रकार इसके अनेक मतानुयायी बाह्य वैभव एव सपत्ति को वास्तविक इस्लामी जीवन के मार्ग मे बाधक समझ कर सन्यास ग्रहण कर इस्लामी सिद्धात (शरीयत) के अनुसार तपस्वी जीवन बिताते थे। लुगाते किशोरी के अनुसार सूफी शब्द का अर्थ फकीरो के अनुसार वह व्यक्ति है जो अपने दिल मे खुदा के सिवा किसी का ध्यान न आने दे और अपने व्यक्तित्त्व को सासारिक मामलो से अलग रखे।

सूफीवाद की तीन सीढिया है—
फना फिश्शेख (अपने पीर मे लीन हो जाना)।
फना फिर्रसूल (रसूल में लीन होना)।
फनाफिल्लाह (अपने व्यक्तित्व को भगवान मे समो देना)।
मार्गरेट स्मिथ, रबिया दि मिस्टिक, पृ० 27।

ही सीमित थे। दूसरी शताब्दी हिजरी के अंत में सूफीवाद (तसव्वुफ) अद्वैतवाद हो गया, जिसमें "खौफ-ए-खुदा" (ईश्वर के भय) और "खौफ-ए-हश्र" (निर्णय के दिन का भय) को महत्त्व दिया जाने लगा। किंतु भय के साथ ही साथ मोहब्बत अथवा इश्क (प्रेम) को भी महत्त्व दिया जाने लगा। रबिया नाम्नी एक सूफी साधिका कुआरी रहकर स्वयं को ईश्वर में लीन (फनाफि अल्लाह) कर सांसारिकता से ऊपर उठ गयी।[1] रबिया के अनुसार ईश्वर 'प्रियतम' (माशूक) का स्वरूप है। उसने प्रिय (आशिक) तथा प्रियतम (माशूक) के बीच के अंतर को समाप्त कर एक इकाई का रूप प्रदान किया है। कहना न होगा कि सूफी सम्प्रदाय में इस्लाम की हकीकत (ज्ञान मार्ग), तरीकत (भक्ति मार्ग), शरीयत (कर्म मार्ग) के पुट तो है पर वे अपनी साधना को मारफत (आत्मिक प्रेम) से अभिहित करते थे। अंततोगत्वा यह प्रेम का रूपक सूफी साहित्य की विशेषता बन गयी।[2]

सूफीवाद के इतिहास में अबू याजीद उल्ल विस्तामी (विस्ताम फारस में स्थित स्थान) नामक सूफी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसने 'तसव्वुफ'[3] में चरम आनंद और जगत्-व्यापी ईश्वर को मानकर एक नवीन धारा प्रदान की। उसने अपनी आत्मा में ईश्वर का अनुभव किया। उसने कहा "मैं ईश्वर हूँ अतः मेरी उपासना करो।"[4] इन विचारों का उलेमाओं ने विरोध किया और उसे देश से निकाल दिया गया। 875 ई० में उसका देहांत हो गया। उसके पंथ का नाम 'तैफूरी' पडा, जिसके अनुसार 'तसव्वुफ' का अर्थ सुख का त्याग कर दुःख झेलना है।[5] इसी सूफी संत ने सर्वप्रथम 'फना' शब्द का प्रयोग किया।[6] फना के सिद्धांत के अनुसरण से अंतिम अवस्था 'बका' अर्थात् अनंत जीवन की प्राप्ति होती है।[7] और रूह इसी सिद्धावस्था में आलमे नासूत (भौतिक जगत्), आलमे मलकूत (चित्त जगत्, रूहों के जगत) और आलमे हादूत (रहस्यमय जगत) को पारकर आलमे लाहूत (सत्य जगत फनाफिल्लाह) में प्रवेश करती थी। शेख

1 मार्गरेट स्मिथ, रबिया दि मिस्टिक, पृ० 27।

2 सूफी कवि मलिक मोहम्मद जायसी ने पद्मावत की रचना इसी प्रेम रूपक के आधार पर की है।

3 तसव्वुफ का अर्थ है mostification (इंद्रियदमन) यानी अपने को मानसिक इच्छाओं से ऊपर कर लेना और हर चीज में भगवान का रूप देखना।

4 निकोल्सन, दि मिस्टिक्स ऑफ इस्लाम, पृ० 16–18।

5 ए० एम० ए० शुस्तरी, आउटलाइन्स ऑफ इस्लामिक कल्चर, 2,465।

6 विशप सुभान, सूफिज्म, इट्स सेंट्स ऐंड श्राइन्स, पृ० 21।

7 शुस्तरी, वही, 2,466।

जुनेद ने 'तसव्वुफ' के पुराने विचारों का नये विचारो के साथ समन्वय करने का प्रयास किया। उसके अनुसार व्यक्ति और ईश्वर में मूलभूत एकता ही 'ईश्वर एकता' की वास्तविक परिभाषा है। उसके अनुसार एक सूफी का आतरिक पक्ष ईश्वर और बाह्य पक्ष मानव है।[1] उसकी मृत्यु के उपरात (910 ई०) मसूर नामक मत ने उसके विचारो का प्रचार किया।

हुसेन इब्न मसूर अल हल्लाज नामक सूफी तसव्वुफ का प्रकाड विद्वान और तत्वज्ञानी था।[2] उसने इस्लामी ससार मे नवस्फूर्ति का संचार किया। उसने फारस, खुरासान, तुर्किस्तान और उत्तरी पश्चिमी भारत का भ्रमण किया था। उसने भारतीय भक्ति आदोलन से प्रभावित होकर घोषित किया कि मानव ईश्वर का अवतार हो सकता है।[3] उसने दो आत्माओ के अस्तित्व को भी स्वीकार किया।[4] ईश्वर की अनुभूति प्राप्त कर उसने 'अनल हक' (मैं ईश्वर हूँ) का उद्घोष किया।[5] इसके परिणामस्वरूप उसे न्यायालय मे फासी की सजा दी गयी। उसने **किताब-उल-तवासीन** नामक ग्रथ की रचना की, जिसमे उसने ईश्वर की विश्व-व्यापकता को सिद्ध किया। आगे चलकर इब्न-उल-अरबी और अब्दुल करीम जिली नामक सूफी विचारको ने उसकी विचारधारा का प्रचार किया।

उलेमा लोग सूफीवाद का विरोध किया करते थे क्योकि वह इस्लाम के अनुकूल न था। अत अबू हामिद मुहम्मद अल गजाली नामक सूफी सत ने सूफीवाद को इस्लाम के अनुकूल करके उसके महत्त्व को बढा दिया।[6] उनका जन्म खुरासान मे 1058 ई० मे हुआ था। उच्च शिक्षा प्राप्त कर इन्होने निजामिया विद्यालय, बगदाद और निशापुर की अकादमी मे अध्यापन कार्य किया किंतु आध्यात्मिक शाति न मिलने के कारण खुरासान वापस आकर एक खानकाह (मठ) की स्थापना की। यही इन्होने **तोहफतुल फलसफा** नामक ग्रथ की रचना की और यही 1112 ई० में उनकी मृत्यु हो गयी। गजाली इस्लाम के धर्म-

---

1 लईक अहमद, भारतीय मध्यकालीन सस्कृति, पृ० 10।

2. निकोल्सन कृत दि आइडिया ऑफ पर्सनालिटी इन सूफीज्म, पृ० 29 और आगे।

3 के० एस० के० खा कृत स्टडीज इन तसव्वुफ पृ० 132।

4. निकोल्सन, स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टीसिज्म, पृ० 29 और आगे।

5 'अहं ब्रह्मोस्मि' का उल्लेख उपनिषदो मे हुआ है।

6. डॉ० ताराचद, इफ्लुएस ऑफ इस्लाम ऑन इडियन कल्चर, पृ० 58 और मैक्डानल कृत मुस्लिम थियालाजी, पृ० 237।

शास्त्री थे। उनके अनुसार विश्व का अस्तित्व तीन प्रकार से है।[1] प्रथम ज्ञान अथवा परिवर्तन का विश्व (आलम-उल-मुल्क), दूसरा शक्ति का विश्व (आलम-उल-जबरूत) और तीसरा आतरिक विश्वास का विश्व (आलम-उल-मलकूत)। उनके अनुसार चरम आनद और अतर्ज्ञान द्वारा ही चरमज्ञान की प्राप्ति संभव है। क्योंकि ईश्वर की प्रकृति मानव से भिन्न नही है, मानव आत्मा दैविक स्रोत का एक भाग है और मृत्यु के उपरात यह उसी दैविक स्रोत मे लौट जाती है।"[2]

सूफीवाद की विभिन्न अवस्थाए

साधक को चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए 'इश्क' रूपी मार्ग का अनुमरण करना पड़ता है। क्योंकि तसव्वुफ रूपी महल इश्क (प्रेम) पर ही आधारित है। अत सूफी 'इश्कबाजी' के साथ-साथ 'हुस्नपरस्ती' के भी समर्थक है। यहाँ तक कि सूफी लोग लौकिक प्रेम मे पड कर ईश्वरीय प्रेम (इश्क-ए-खुदा) का अनुभव, तसव्वुर एव सौदर्य पूजा (हुस्नपरस्ती) मे ईश्वर के सौदर्य (अल्लाह के जमाल) का साक्षात्कार करते है। अत प्रेम के पथ का अनुसरण करके विभिन्न अवस्थाओ एव ठिकानो को लाघते हुए चरम लक्ष्य की प्राप्ति करते है।[3] साधक के लिए हिदायतें निम्नलिखित है —

'उबूदियत' मनुष्यत्व की अवस्था है। इसके अनुसार साधक मे सभी मानवीय गुण तथा अवगुण विद्यमान होते है। स्वभावत मनुष्य कामी, क्रोधी, लालची तथा बधनयुक्त है। अत साधक के लिए आवश्यक है कि इन दुर्गुणो को नष्ट करके चरमलक्ष्य की प्राप्ति करे। साधक के लिए आवश्यक है कि वह शरीयत (इस्लाम के नियम) का पालन कर स्वय को अनुशासित रखे। 'उबूदियत' की अवस्था मे साधक का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने पापो (गुनाहो) के लिए पछतावा (तोबा) करे और विश्वास (ईमान) अर्जित करे।[4] तत्पश्चात् उसको शरीयत के अनुसार नमाज, रोजा, तौहीद, जकात (दान) और हज का पालन करना चाहिए जिससे अहकार, क्रोध का नाश हो और 'इश्क-ए-खुदा' मे पड सके।[5] इस प्रकार जब वह पूर्णत अनुशासित हो जाता है तो वह 'तरीकत'

1 अली मेहदी खा, दि एलीमेंट्स आफ इस्लामिक फिलासफी, पृ० 191 और आगे।

2. डॉ० ताराचंद, वही, पृ० 60 और आगे। दृष्टव्य, लईक अहमद कृत भारतीय मध्यकालीन संस्कृति, पृ० 12-13।

3 ए० अहमद, स्टडीज इन इस्लामिक कल्चर इन दि इडियन इन्वायरेनमेंट, पृ० 122।

4 निकोल्सन, दि मिस्टिक्स ऑफ इस्लाम, पृ० 59।

5. निकोल्सन द्वारा अनूदित कश्फ-अल-महजूब, पृ० 308।

अवस्था में प्रवेश करता है। 'तरीकत' मे साधक को गुरु (शेख अथवा पीर) की आवश्यकता होती है, जो उसको आचरण-शुद्धि तथा प्रवृत्तियो पर काबू पाने का आदेश देता है, जिससे उसे ईश्वर की अनुभूति होती है। क्योकि यदि व्यक्ति का गुरु नही है तो उसका गुरु शैतान ही होता है। गुरु पर शंका या उससे तर्क-वितर्क नही करना चाहिए। वरन् उसकी आज्ञा शिरोधार्य करना चाहिए। गुरु के आदेशानुसार शिष्य को सस्मरण (जिक्र) में भाग लेना चाहिए। जिक्र दो हैं 'जिक्र अली' (चिल्लाकर मत्रोचार) और 'जिक्र खफी' (हृदय की एकाग्रता)। दोनों का मत्र 'ला-इल्लाह्-इल्लल्लाह' (खुदा एक है) ही है। इस प्रकार प्रथम सघ की साधना है और दूसरा हृदय की एकात भावना।[1] जिक्र के साथ 'मुराकेबा' नामक क्रिया भी की जाती है, जिसमे हृदय की व्याकुलता को दूर करने के लिए कुरान का पाठ, रोजा (उपवास) और भोजन एकत्र करना पडता है।[2] सूफीवाद मे गुरु (शेख) का बहुत महत्त्व है। शिष्य को गुरु के प्रति समर्पित होना चाहिए क्योकि गुरु पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है।

'मारिफत' की अवस्था दयालुता (फैज) और कृपालुता (इनायत) के द्वारा प्राप्त होती है। इससे स्वच्छ मस्तिष्क दैवी ज्ञान से प्रकाशित हो उठता है। 'हकीकत' की अवस्था मे साधक को सात्विक ज्ञान की प्राप्ति होती है। सूफीवाद का उद्देश्य आतरिक शुद्धता और ईश्वर से मिलन है। 'फना' की अवस्था मे सासारिक प्रवृत्तियो का विनाश हो जाता है और साधक ईश्वरोन्मुख हो जाता है। साधक की अतिम अवस्था 'बका' की अवस्था कहलाती है जिसमे सूफी (प्रिय) और प्रियतम (ईश्वर) के बीच की दूरी समाप्त हो जाती है और दोनों एकरूप हो जाते है। साधक स्वय ईश्वर हो जाता है (अनलहक)। इस अवस्था का कभी अत नही होता।

सूफीवाद की शाखाएं और संत

भारत में सूफीवाद की अनेक शाखाए थी। अबुल फजल ने चौदह शाखाओ का उल्लेख किया है, जिनमे प्रमुख निम्नोक्त है

चिश्तिया शाखा

इस शाखा की स्थापना खोरासान निवासी ख्वाजा अबू अब्दाल चिश्ती ने की थी किंतु भारत मे सर्वप्रथम इसका प्रचार ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने किया।[3] ये गियासुद्दीन के पुत्र और ख्वाजा उस्मान हारून के शिष्य थे।[4] इनका जन्म

1 चद्रबली पाडेय कृत तसव्वुफ अथवा सूफी मत, पृ० 87।

2 निकोल्सन, स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टीसिज्म, 55।

3 ग्लैडविन द्वारा अनूदित, आइन-ए-अकबरी, 2, 361-62।

4. हेग द्वारा अनूदित, मुतखब-उल-तवारीख, 3, 87।

सीस्तान में 1143 ई० मे हुआ था। ये 1190 में भारत आये।[1] पहले वे लाहौर, फिर दिल्ली और अत मे अजमेर में रहे। अजमेर मे ख्वाजा ने अपार ख्याति अर्जित की। कुछ हिंदुओ ने उन्हे निष्कासित करने की माग की। अत उन्होंने पानी पीना छोड दिया। अनुश्रुति है कि उन्हे राज्य सीमा से बाहर निकालने के लिए रामदेव नामक पुजारी को भेजा गया। जब रामदेव ने ख्वाजा को देखा तो वे उनके व्यक्तित्व से इतना प्रभावित हुए कि वह ख्वाजा के शिष्य हो गये और अपना शेष जीवन दीनहीनों की सेवा मे व्यतीत किया।[2]

ख्वाजा ने हिंदुओ के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाया। उन्होने सर्वव्यापी एकेश्वरवाद का प्रचार किया। उनका सिद्धात था कि मानवता की सेवा करना ही ईश्वर की सर्वोच्च कोटि की भक्ति है। वे काफी जनप्रिय हो गये।[3] उनकी मृत्यु (1234 ई०) के उपरात उनके शिष्यो ने उनके कार्य को आगे बढाया। इस्लामी धर्म के अनुसार सगीत अवैध है किंतु चिश्ती शाखा के सतो ने सगीत के आध्यात्मिक मूल्य पर बल दिया और उच्चकोटि के सगीतज्ञो को प्रश्रय दिया।

ख्वाजा साहब के प्रमुख शिष्यो मे शेख कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी का नाम अग्रगण्य है। इनका जन्म 1186 ई० मे फरगाना में हुआ था। ये मुल्तान इल्तुतमिश के शासन-काल में भारत आये। वे पहले मुल्तान मे बसे और फिर दिल्ली में। सुल्तान ने उनसे अपने महल के समीप रहने की प्रार्थना की किंतु शेख ने इसे स्वीकार न किया और नगर के बाहर एक मठ मे रहने लगे। इल्तुतमिश ने उन्हे 'शेख-उल-इस्लाम' के उच्च पद पर आसीन करना चाहा। किंतु इस पद को भी शेख ने अस्वीकार कर दिया। अंत मे इस पद पर शेख नज्मउद्दीन सुगरा की नियुक्ति की गयी। सुगरा की ईर्ष्या के कारण उन्होंने दिल्ली छोड देने का निश्चय किया। इस पर सुल्तान के नेतृत्व मे दिल्ली की जनता कई मील तक शेख के पीछे-पीछे आयी। फलत ख्वाजा मुईनुद्दीन [illegible]ती ने उन्हे दिल्ली मे रहने का ही आदेश दिया। कुतुबुद्दीन ने सुल्तान [illegible] सास्कृतिक योजनाओ को नैतिक समर्थन प्रदान किया। कुतुबुद्दीन रहस्य[illegible]दी गीतो के बडे प्रेमी थे। एक गायक गोष्ठी मे वे भक्ति के आवेश मे मूर्छित हो गये और चार दिन निरतर मूर्छित रहने के बाद पाचवी रात्रि (15 नवम्बर 1235) मे वे स्वर्ग सिधारे।

कुतुबुद्दीन के शिष्य फरीदउद्दीन गजशकर (1175–1265) जो फरीद बाबा के नाम से प्रसिद्ध थे, का जन्म मुल्तान में हुआ था। इन्होने हासी और

1. मौलाना अब्दुल हक, अख्बार-उल-अखियार, 22।
2. डॉ० यूसुफ हुसेन, वही, पृ० 37।
3. रोजर्स द्वारा अनूदित तजूक-ए-जहागीरी, भाग 1, पृ० 1।

अजोधन में सूफी धर्म का प्रचार और विस्तार किया था। एकातप्रिय होने के कारण इन्होंने अपना निवासस्थान राजधानी से बहुत दूर बनाया था। निर्धन रहते हुए भी ये सुल्तान ओर अमीरों के साथ सबध रखने के विरुद्ध थे। इन्होने सदैव हृदय की एकाग्रता पर बल दिया। सुल्तान बलबन बाबा फरीद का आदर करता था। वे बहुत अल्प मात्रा में भोजन करते थे। उनकी मृत्यु 1265 ई० मे हुई और उनकी इच्छानुसार उन्हे पकपाटन (पजाब) मे दफनाया गया, जो आज भी तीर्थस्थल है।

शेख फरीद के सर्वाधिक विख्यात शिष्य शेख निजामुद्दीन औलिया (जन्म 1236 ई०, मृत्यु 1335 ई०) थे। ये दिल्ली से कुछ दूर गियासपुर में बस गये थे, जहा आजकल उनकी दरगाह है। शेख औलिया ने सात सुल्तानो का राज्यकाल देखा था। किंतु किसी से सबध नही रखा। अपने प्रिय शिष्य अमीर खुसरो के प्रयत्न के बावजूद वे अलाउद्दीन खिलजी से नही मिले। सुल्तान मुबारकशाह द्वारा दरबार में बुलाये जाने पर शेख ने कहा कि "मेरे पीर का आदेश है कि शासको से सदैव दूर रहो। अत मुझे क्षमा कर दिया जाय।" औलिया की सगीत मे रुचि के कारण प्रथम तुगलक सुल्तान गियासुद्दीन ने तिरपन उलमाओ की अदालत मे उन पर अभियोग चलाया था किंतु अपने विलक्षण व्यक्तित्व के कारण शेख बरी हो गये थे। शेख और सुल्तान के बीच मनमुटाव का एक कारण और था। शेख ने सुल्तान के बडे पुत्र उलूग खा (भावी मुहम्मद तुगलक) को अपना शिष्य बनाया था और भविष्यवाणी की थी कि वह शीघ्र सुल्तान बनेगा। अनुश्रुति है कि जब गियासुद्दीन बगाल विजय से लौट रहा था तब उसने आदेश भेजा था कि शेख गियासपुर छोड दे किंतु शेख ने प्रत्युत्तर भेजा था "हुनूज दिल्ली दूर अस्त" (अभी दिल्ली दूर है)। सयोगवश सुल्तान दिल्ली पहुँचने से पहले ही दुर्घटनाग्रस्त हो गया था। लोगो का विश्वास था कि ऐसा शेख के अभिशाप से हुआ है। शेख जीवनपर्यंत वही रहे। उन्होने अपार ख्याति अर्जित की और 'महबूब-ए-इलाही' (प्रभु के प्रिय) के नाम से प्रख्यात हुए। उनकी सफलता का श्रेय उनके सत जैसे गुणो एवं मानवता के प्रति उनके प्रेम और सेवा भावना को है।[1]

निजामुद्दीन औलिया के प्रमुख शिष्यों मे शेख नासिरुद्दीन महमूद चिराग को ही अखिल भारतीय ख्याति प्राप्त हुई।[2] उनके पूर्वज मध्य एशिया से आकर लाहौर मे बसे थे। किंतु उनके पितामह अयोध्या में बसे थे, जहा महमूद का

1. जियाउद्दीन बरनी, तारीख-ए-फीरोजशाही।

2. मुहम्मद हबीब कृत 'शेख नासिरुद्दीन महमूद चिराग-ए-देहली', इस्लामिक कल्चर, अप्रैल 1946 पृ० 1290–93।

जन्म हुआ। 25 वर्ष की आयु मे वे सूफी बन गये। 45 वर्ष की आयु मे औलिया के शिष्य बने और दिल्ली मे ही रहने लगे। वे अपने गुरु के पदचिह्नो पर चलते हुए आजीवन निर्धन सन्यासी की भाति रहे, सुल्तानो और उनके दरबारो से दूर रहे। औलिया ने उन्हे अपना उत्तराधिकारी (खलीफा) नियुक्त किया। कुतुबुद्दीन मुबारकशाह चाहता था कि वे नमाज पढने मीरी मस्जिद मे आया करें। परतु शेख ने वहा जाने से इकार कर दिया। इससे सुल्तान से उनका संघर्ष हो गया। मुहम्मद बिन तुगलक सूफियो को अपनी सेवा मे लेकर उनसे अपने आदेश का पालन करवाना चाहता था। अनेक सूफी भयभीत होकर झुक गये किंतु शेख नासिरुद्दीन ने दृढता के साथ उनके आदेश को ठुकरा दिया। 1336 ई० मे उनका देहावसान हो गया।

चिश्ती शाखा के अतिम महान् सूफी सतो मे शेख सलीम चिश्ती का नाम विशेष उल्लेखनीय है।[1] शेख चिश्ती काफी समय अरब मे रहे और वहा उन्हें 'शेख-उल-हिंद' की सज्ञा से विभूषित किया गया। अकबर के राज्यकाल में वे फतेहपुर सीकरी मे रहने लगे। अनुश्रुति है कि शहेजादा सलीम (जहागीर) शेख के आशीर्वाद मे ही हुआ था। इसलिए अकबर ने अपने पुत्र का नाम भी सलीम रखा था।[3] अकबर उनका बडा आदर करता था।[2] शेख सलीम ने चिश्ती सप्रदाय की परपराओ को बनाये रखा[4] और बडी ख्याति अर्जित की। मृत्यु के बाद उन्हे फतहपुर सीकरी की पसिद्ध जामा मस्जिद के प्रागण मे दफनाया गया।

सुहरवर्दिया शाखा

चिश्तिया शाखा के बाद सुहरवर्दिया शाखा को महत्त्व दिया जाता है। यह शाखा मुख्य रूप से उत्तरी-पश्चिमी भारत मे स्थापित हुई। इस शाखा के सस्थापक जियाउद्दीन अबुलजीब थे, जो गजाली के समकालीन थे। शेख शहाबुद्दीन सुहरवर्दी इस शाखा के प्रख्यात सूफी सत थे। इनके द्वारा रचित अवारिफ-उल-मआरिफ (ईश्वरीय ज्ञान की भेंट) इस शाखा का प्रसिद्ध ग्रथ है। इनके प्रमुख शिष्यों मे शेख बहाउद्दीन जकरिया और शेख हमीदउद्दीन नागौरी थे।

भारत में सबसे पहले इस शाखा का प्रचार कार्य शेख बहाउद्दीन जकरिया सुहरवर्दी ने किया।[5] इनका जन्म मुलतान के समीप कोट अरोर मे लगभग

1 साकी मुस्ताद खा, मासीर-ए-आलमगीरी, पृ० 287।

2 शाहनवाज खा कृत मासिर-उल-उमरा, बेवरिज द्वारा अनूदित पृ० 169।

3 रोजर्स द्वारा अनूदित, तुजुकए जहागीरी, 1, पृ० 2।

4 शेख निजामुद्दीन औलिया को छोडकर चिश्ती संप्रदाय के सभी प्रसिद्ध सूफियों ने गृहस्थ जीवन बिताया था।

5 ग्लैड्विन द्वारा अनूदित, आइन-ए-अकबरी, 2,362–53।

1182 ई० में हुआ था। यौवनकाल मे शिक्षा प्राप्ति के उद्देश्य से इन्होंने खुरासान, बुखारा, मदीना और फिलिस्तीन आदि शिक्षा-केंद्रों की यात्रा की थी। जब वे बगदाद में थे, तभी शेख शिहाबुद्दीन का शिष्यत्व ग्रहण किया था और उनके ही आदेशानुसार मुल्तान (भारत, अब अफगानिस्तान) मे आकर बसे और उसे शिक्षा केंद्र बनाया।[1] शेख से मतभेद हो जाने पर मुल्तान के सरदार कुबैचा ने उनसे क्षमा याचना की थी।

शेख बहाउद्दीन जकरिया 13 वी शताब्दी के बडे प्रभावशाली सूफी सत थे। उनकी अन्य शाखाओ के सूफी सतो से भी घनिष्टता थी। वे चिश्तियो की भाति निर्धनता, उपवास, आत्मदमन और शरीर को यातना देने मे विश्वास नही रखते थे, वरन् उन्होने आरामदेह जीवन बिताया। उन्होने धन सग्रह भी किया और तात्कालिक राजनीतिक मामलो मे रुचि ली। उनके अनेक शिष्यों मे प्रमुख शेख फखरुद्दीन ईराकी और शेख हुसेन अमीर हुसेनी सुहरवर्दी उल्लेखनीय है।

बहाउद्दीन जकरिया की मृत्यु (1262 ई०) के बाद सुहरवर्दी सूफियो मे वशानुक्रमगत उत्तराधिकार का नियम लागू हो गया। जकरिया के बाद उनके पुत्र शेख सदरउद्दीन और उनके पश्चात् शेख रुकनुद्दीन ने शाखा का नेतृत्व किया। शेख रुकनुद्दीन ने सैयद जलालुद्दीन जहानिया जहागश्त[2] को अपना खलीफा नियुक्त किया। सुल्तान फीरोज तुगलक ने इनको अपने राज्य मे शेख-उल-इस्लाम' (प्रधान काजी) बनाया।[3] किंतु शेख हज करने चले गये। फीरोज-तुगलक शेख जलालुद्दीन के अतिरिक्त शेख शफउद्दीन यहिया मनेरी का बडा आदर करते थे। मनेरी सुहरवर्दिया के फिर्दोसिया प्रशाखा के प्रख्यात सत और ख्वाजा नज्मुद्दीन फिर्दोसी के शिष्य थे। इस प्रशाखा का कार्यक्षेत्र था विहार। इनके अनेक पत्र 'मक्तूबात' के नाम से जाने जाते है। इन पत्रो मे ख्वाजा साहब ने 'वहेदत-उल-बुजूद' (एकात्मवाद) के सिद्धात को इस्लाम के निकट लाने का प्रयास किया। उनका कथन है कि ईश्वर से साक्षात्कार हो जाने पर भी मनुष्य-मनुष्य रहता है और ईश्वर, ईश्वर। वे विद्वान और विचारक होने के साथ-साथ पथ प्रदर्शक मानवता के सेवक थे।

इस शाखा के अन्य सूफी सतो मे शेख मूसा और शाह दौला दरियाई का महत्त्वपूर्ण स्थान है शेख मूसा की विशेषता यह थी कि वे स्त्री वेश धारण किये

---

1 विशप सुभान, वही, 240।

2. जलालुद्दीन ने सुदूर इस्लामी देशो का भ्रमण किया था, इसलिए उन्हे 'जहानिया जहागश्त' की सज्ञा से विभूषित किया गया।

3 जियाउद्दीन बरनी कृत तारीख-ए-फीरोजशाही और अफीफ कृत तारीख-ए-फीरोजशाही।

रहते थे। नृत्य एवं सगीत मे उन्हे विशेष रुचि थी। शाह दौला मूसा के शिष्य थे। ये गुजरात निवासी थे और शाही वश के थे। किंतु सूफी बनने के कारण सब कुछ त्याग दिया। वे भी बडे सगीत प्रेमी, उदार और दयालु थे।[1]

कादिरिया शाखा

कादिरिया शाखा की स्थापना बगदाद के शेख अब्दुलकादिर जीलानी ने बारहवी शताब्दी मे की थी।[2] मध्य एशिया और पश्चिमी अफ्रीका मे इसी शाखा ने इस्लाम का प्रचार किया। भारत मे इस शाखा का प्रचार सर्वप्रथम शाह नियमतउल्ला और मखदूम जीलानी ने 15वी शताब्दी मे किया।[3] मखदूम ने उच्छ को अपना निवास स्थान बनाया। इसके बाद इस शाखा का नेतृत्व मखदूम अब्दुल कादिर जीलानी और प्रपौत्र शेख हमीद गज बख्श ने किया। इसके बाद उनके दो पुत्रो शेख अब्दुल कादिर जीलानी और शेख मूसा ने प्रचार किया। शेख मूसा ने अकबर के काल मे राजकीय पद स्वीकार किया। किंतु शेख अब्दुल कादिर जीलानी ने राजकीय पद ठुकरा दिया। वे फतहपुर सीकरी के दीवानेआम मे नमाज पढा करते थे। अकबर ने इस पर आपत्ति प्रकट की किंतु शेख अडिग रहे। अत अकबर ने उनसे भूमि वापस ले ली और वे पुन वापस चले गये।[4]

इसके बाद शेख मीर मोहम्मद (मियामीर) इस शाखा के प्रमुख सत हुए, जो जहांगीर और शाहजहा के समकालिक थे। दाराशिकोह अपने पिता शाहजहा के साथ शेख के पास गया और उनसे अत्यधिक प्रभावित हुआ। किंतु उसी वर्ष (1635 ई०) शेख की मृत्यु हो गयी। उनके स्थान पर मुल्ला शाह बदख्शी खलीफा हुए। अत दाराशिकोह ने इन्ही का शिष्यत्व ग्रहण कर 'तसव्वुफ' से सबधित अनेक ग्रथ[5] लिखे, उपनिषदो[6] का फारसी मे अनुवाद किया और कराया, तथा हिंदू-मुस्लिम एकता स्थापित करने का प्रयास किया।

नक्शबंदिया शाखा

इस शाखा की स्थापना 14वी शताब्दी मे ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबंद ने की थी किंतु भारत मे इसका प्रचार ख्वाजा बाकीबिल्लाह ने 1563–1603 ई०

---

1. लईक अहमद, वही, 26।
2. ग्लैडिन द्वारा अनूदित, आइन-ए-अकबरी, 2,357–8।
3. डा० यूसुफ हुसेन, वही, पृ० 53।
4. लईक अहमद, वही, पृ० 23।
5. सफीनत-उल-औलिया, सकीनत-उल-औलिया, रिसाल-ए-हकनुमा, मजमउल बहरैन, हसनत-उल-आरिफीन।
6. सिरे अकबर (महान रहस्य) सिरे असरार (रहस्यो का रहस्य)।

में किया, जो अपने गुरु के आदेशानुसार भारत मे आये थे। भारत मे केवल तीन वर्ष कार्य करने के उपरात उनका देहात (1603 ई०) हो गया। वे सनातन इस्लाम (मोहम्मद साहब के उपदेशो) मे आस्था रखते थे और धर्म के नवीन परिवर्तनो के विरोधी थे।

ख्वाजा बाकी बिल्लाह के प्रमुख शिष्य अहमद फारूक सरहिंदी थे। ये अकबर और जहागीर के समकालिक थे। और 'मुजद्दित' (इस्लाम धर्म के सुधारक) के नाम से विख्यात थे।[1] वे बडे ही कार्यक्षम थे और उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली था। उनका परिवार आध्यात्मिकता के लिए प्रख्यात था। इन्होने "बहदतुल वुजूद" (एकात्मवाद) की तीव्र आलोचना करके उसे अस्वीकारा और उसके स्थान पर 'वहादत-उश-शुहूद' (प्रत्यक्षवाद) के सिद्धात का प्रतिपादन किया। उनके कथनानुसार मनुष्य और ईश्वर का सबध स्वामी और सेवक का है, प्रेमी और प्रेमिका का नही जैसा कि अन्य सूफी सोचते हैं। वास्तव में उनका उद्देश्य सूफी रहस्यवाद के सिद्धात को सनातन इस्लाम से समन्वित करना था। उनके पत्रो का सकलन **मक्तूबाद-ए-रब्बानी** के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होने शिया सप्रदाय की कटु आलोचना की।[2] उन्होने अकबर द्वारा प्रतिपादित 'दीन इलाही' का भी खडन किया। जहागीर भी उनका शिष्य हो गया था। औरगजेब, जो कट्टर सुन्नी था, भी सरहिंदी के पुत्र शेख मासूम का शिष्य हो गया था।

इस शाखा के दूसरे प्रमुख सत शाह वलीउल्लाह (1707–62 ई०) है, जो औरंगजेब के समकालिक थे। उन्होने 'वहदत-उल-वजूद' और वहदत-उश-शुहूद' के दोनो सिद्धातो को समन्वित करने का सफल प्रयास किया। वे दोनो सिद्धातो मे कोई मौलिक अतर नही समझते थे। वे एक सत्य की ओर ले जाने वाले दो मार्ग है। उनके मतानुसार केवल वास्तविक अस्तित्व ईश्वर का है। विश्व वास्तविक नही है, किंतु काल्पनिक भी नही है। केवल ईश्वर ही स्वयजीवी, श्रेष्ठ, सर्वव्यापी, शाश्वत और आवश्यक है, शेष सब निर्मित है और उसका अस्तित्व सदिग्ध है। वलीउल्लाह प्रतिष्ठित विद्वान्, असाधारण प्रतिभा-सपन्न व्यक्ति तथा लेखक थे।[3]

ख्वाजा मीर दर्द इस शाखा के अतिम प्रख्यात संत थे। वे भी "वहदत-

---

1. बिशप सुभान, वही, 286।

2 डा० मोहम्मद यासीन, ए सोशल हिस्ट्री आफ इस्लामिक इडिया पृ० 153।

3 उनके प्रसिद्ध ग्रथ है—हमत, फुजुल, हरामेन, अल्ताफुल कुद्स, अनफसूल-आरिफीन, तफहिमते इलाहिया और फैसल वहदत-उल-वजूद वश शुहूद आदि।

उल-वजूद" के सिद्धात के विरोधी थे। किंतु वे मानते थे कि अत मे एकात्मवाद के दोनों ही सिद्धातो का लक्ष्य एक ही है। सासारिकता से विरक्ति दोनो का उद्देश्य है। किंतु वे केवल ज्ञानियो के लिए है, सामान्य जनो के लिए नही। उनका झुकाव मुस्लिम रूढिवादिता की ओर था। जिसके अनुसार उन्होने 'इल्मे इलाही मुहम्मद' (मुहम्मद के उपदेशो मे ईश्वरीय ज्ञान) नामक एक नये सिद्धात का प्रतिपादन किया, जिसके अनुसार मनुष्य का कर्तव्य है कि कुरान की शिक्षाओं का पालन करे, ईश्वर की भक्ति मे दास बनकर रहे। इन्होंने भी तसव्वुफ पर अनेक ग्रथ लिखे।[1]

शत्तारिया शाखा

शत्तारिया शाखा के प्रवर्तक शेख अब्दुल्ला शत्तार थे, जो शेख शहाबुद्दीन सुहरावर्दी के वशज थे। अब्दुल्ला के गुरु शेख मुहम्मद आरिफ ने इन्हे भारत भेजा था। उनका कथन था 'जो भी ईश्वर को प्राप्त करना चाहता है, मेरे पास आये, मैं उसको ईश्वर तक पहुँचाऊगा।' वे सर्वप्रथम सुल्तान इब्राहीम शर्की की राजधानी जौनपुर गये, किंतु सुल्तान से अनबन हो जाने के कारण मालवा चले गये, जहा उनका देहावसान (1428–29 ई०) हो गया।

इस शाखा के दूसरे प्रमुख सत शाह मुहम्मद गौस थे। वे हुमायू के समकालिक थे, जो उनका बडा सम्मान करते थे। वे अध्ययनशील व्यक्ति थे। उनके अनेक शिष्य थे। वे अपने काल के 'कुतुब' कहलाये। इन्होने दो प्रसिद्ध ग्रथ लिखे।[2] इनका देहावसान (1562 ई०) ग्वालियर मे हुआ, जहा आज भी उनकी मजार बनी है। शाह गौस के प्रमुख उत्तराधिकारी और इस शाखा के अतिम सत शाह वजीउद्दीन थे। इन्होंने गुजरात को अपना कार्यक्षेत्र बनाया, जहा इन्होने अपना प्रचार कार्य किया और एक मदरसा (विद्यालय) स्थापित किया।

कलदरिया शाखा

इस शाखा का सर्वप्रथम सत अब्दुल अजीज मक्की को माना जाता है। अनुश्रुति है कि वे मोहम्मद साहब के साथियो मे से एक थे और सूफी अनुश्रुति के अनुसार आज भी जीवित है। इनके शिष्य सैय्यद खिज्र रूमी कलदर 'खपरादरी' हुए। वे अपने साथ एक खपरा (प्याला) रखते थे, जिसमे वे लोगो की आवश्यकताओ की पूर्ति किया करते थे।[3] इन्होने चिश्तिया शाखा के कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी से भेट की और दोनो ने एक दूसरे की शाखा को स्वीकार किया। फलस्वरूप 'चिश्तिया-कलदरिया' उपशाखा जन्म हुआ। तत्पश्चात्

1 इल्मुल किताब, नालए दद, आहे दर्द, दर्दे दिल, शम-ए-महफिल।

2 जवाहिर-ए-खम्सा और अवराद-ए-गौसिया।

3. विशप सुभान, वही, 322।

सैय्यद नजमुद्दीन कलदर ने इस शाखा का खूब प्रचार किया । इन्होने मक्का तथा अन्य देशो की यात्राए की । अनुश्रुति के अनुसार उन्होने 40 वर्ष तक उपवास किया था और एक पत्थर पर निरंतर 30 वर्षों तक समाधिस्थ रहे । दो सौ वर्ष की आयु (1432 ई०) मे माडू मे उनकी मृत्यु हुई जहा आज भी उनकी मजार मौजूद है । सैय्यद नजमुद्दीन के उत्तराधिकारी और इस शाखा के अतिम महत्वपूर्ण सत कुतुबुद्दीन कलंदर हुए, जिन्हे 'सरदाज' की सज्ञा दी गयी, क्योकि कहा जाता है इनका सिर जिक्र (संस्मरण) की अवस्था मे अलग हो जाया करता था । सौ वर्ष की आयु मे इनका देहावसान (1518 ई०) हुआ ।[1] इस शाखा के सूफी सत मु डित केश रहते थे ।

मदारिया शाखा

शेख बदीउद्दीन शाह मदार इस शाखा के प्रवर्तक थे । ये शेख मुहम्मद तैफूरी विस्तामी के शिष्य थे ।[2] गुरु के आदेशानुसार इन्होने मक्का जाकर अध्ययन किया किंतु शाति न मिली । इसलिए वहा से मदीना गये, जहा इन्हे पैगबर मुहम्मद साहब की वाणी सुनायी पडी 'कि तुमको शाति मिली ।' वहा से भारत आये और अजमेर मे ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की आत्मा के निर्देशानुसार मकनपुर (कानपुर, उत्तर प्रदेश के निकट) को अपना निवासस्थान एव प्रचार केंद्र बनाया, जहा 1485 ई० मे दीर्घायु में इनका देहावसान हो गया ।

सूफीवाद का भारतीय समाज पर प्रभाव

सिध मे अरब शासन की स्थापना के उपरात कुछ सूफी सत भारत आये । परतु हिंदू समाज पर उनका विशेष प्रभाव नही पडा । तुर्की शासन की स्थापना के उपरात कुछ सूफी सतो को सरकार की ओर से सरकारी सहायता मिलने लगी । राजनीतिक दबाव के कारण कुछ निर्धन लोग करों के भार से बचने के उद्देश्य से इस्लाम स्वीकार करने लगे । स्वेच्छा से इस्लाम स्वीकार करने वालो में अधिकाशत समाज के दलित वर्ग के ही लोग थे । सूफी सतो ने भारतीय समाज मे प्रचलित कर्मकाडो का विरोध किया । हिंदुओ के प्रति उन्होने दयालुता और प्रेम का व्यवहार किया । अत उनमे सूफियो के प्रति आदर बढा और वे लोग सूफियो के मजारो पर श्रद्धा से फूल चढ़ाने लगे । इससे हिंदू मुसलमानों मे धार्मिक भेद-भाव और छूआछूत का त्याग और समता एव भ्रातृत्वभाव बढा ।

सुहरवर्दी और नक्शबदी शाखाओ के सूफियो ने मुस्लिम सूफी रहस्यवाद को भारतीय प्रभाव से मुक्त करने के लिए बडे प्रयास किये किंतु भारत के अधिकाश सूफी मुसलमान सूफी मत की चिश्ती शाखा के आदर्शों के प्रति ही

1. लईक अहमद, वही पृ० 31 ।

2 ग्लैडविन द्वारा अनूदित, आइन-ए-अकबरी, 2,37 ।

निष्ठावान बने रहे। सूफी मत की चिश्तिया शाखा एक तरह से हिंदुओ के वेदात का परिवर्द्धित रूप था। फलत भारत मे सूफीवाद का प्रचार द्रुतगति से हुआ। सूफी सतो ने भारतीय पर्यावरण को ध्यान मे रखकर अपने मत के प्रसार के लिए देशी भाषाओ का प्रयोग किया। प्रख्यात सूफी कवि अमीर खुसरो ने 'हिंदवी' मे ग्रथ लिखे। उर्दू गद्य शैली का विकास भी इन्ही के द्वारा हुआ। सूफियो के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ईश्वर भक्ति पर विशेष जोर दिया, इससे भारतीय समाज मे भक्ति आदोलन को बल मिला।

भक्ति-आदोलन[1]

प्राचीन काल मे हिंदुओ का विश्वास रहा है कि मोक्ष-प्राप्ति अथवा जन्म-मरण के बधन से मुक्त होने के तीन प्रमुख मार्ग हैं—ज्ञान, कर्म तथा भक्ति। सल्तनत काल (1206–1526 ई०) मे हिदुओ मे अनेक ऐसे धर्म विचारक हुए जिन्होने भक्ति पर विशेष बल दिया, तथा धर्म-सुधारक के एक नवीन आन्दोलन का श्रीगणेश किया। यह आदोलन भक्ति आदोलन के नाम से प्रसिद्ध हुआ। किंतु न तो यह आदोलन पूर्णत नवीन ही था और न इसकी उत्पत्ति का श्रेय इस्लाम धर्म को ही है। हा इतना निश्चित है कि हिदुओ-मुसलमानो के मूर्तिपूजक विरोधी क्रियाकलापो की प्रतिक्रिया हुई और भक्ति आदोलन को गति मिली।

वास्तव मे भारत मे भक्ति आदोलन का सूत्रपात आठवी शताब्दी मे महान् धर्म सुधारक जगद्गुरु शकराचार्य[2] ने बौद्धधम के प्रभाव को समाप्त करने के लिए 'अद्वैतवाद' दर्शन का प्रतिपादन करके हिंदू धर्म को एक ठोस दार्शनिक पृष्ठभूमि प्रदान की। शकराचाय के अनुसार केवल ब्रह्म ही सत्य है, जगत मिथ्या है। उन्होने जीव के लिए उपनिषदो मे वर्णित तत्वमसि, (अर्थात् तू वही है)

---

1. तारतम्य को बनाये रखने के लिए मुगलकालीन भक्ति आदोलन का विवेचन भी इसी अध्याय मे किया गया है।

2 शकर का जन्म 788 ई० मे मलाबार तट पर स्थित कलादी नामक गाव मे एक नाम्बूदरी ब्राह्मण के परिवार मे हुआ था। 32 वर्ष की अल्पायु मे (820 ई०) मे उनका स्वर्गवास हो गया। उन्होने वेद शास्त्र के अध्ययन मे चामत्कारिक सफलता प्राप्त कर 'ब्रह्मसूत्र भगवद्गीता कुछ उपनिषदो की भाष्य (स्थान त्रयी) की रचना की। शकर ने तात्कालिक मत-मतातरो का खडन कर अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की और समस्त देश का भ्रमण करके विभिन्न स्थानो के पडितो को शास्त्रार्थ मे परास्त करके दिग्विजय करने के उपरात भारत के चारो कोनो मे (उत्तर मे बद्रिकाश्रम, दक्षिण मे श्रृगेरी, पूर्व मे जगन्नाथपुरी और पश्चिम मे द्वारिका) चार मठ स्थापित किये और अपने अनुयायी संन्यासियो को धर्म-प्रचार का आदेश दिया।

अथवा अहं ब्रह्मास्मि अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' के सिद्धात का प्रचार किया। उन्होंने जीव और ब्रह्म को एक बताया। इसके अतिरिक्त सब मिथ्या है।

शकराचार्य ने जगत् को माया माना है। माया की आवरण शक्ति से जीव ब्रह्म को भूल जाता है और भ्रमवश जगत् को ही सत्य मानने लगता है। फलत मनुष्य दु ख-सुख तथा आवागमन के चक्र से बध जाता है। इस बधन से छुटकारा पाने के लिए ज्ञान मार्ग ही सर्वोत्तम है। कर्म और भक्ति के मार्ग पर चलने पर मोक्ष की प्राप्ति में विलब लगता है। यद्यपि शकर के अद्वैतवादी दर्शन का देशव्यापी सास्कृतिक महत्त्व उल्लेखनीय है तथापि यह जनसाधारण की समझ से परे है। इसीलिये मध्यकालीन धर्मशास्त्रियो ने जनसाधारण को आकृष्ट करने के लिए और धर्म को लोकप्रिय बनाने के लिए भक्ति पर अधिक बल दिया गया है। क्योंकि सुल्तान शासको ने हिंदुओ के प्रति दमनपूर्ण एव असहिष्णु नीति अपनायी इसलिए अधिकाश हिंदू राजनीतिक, सास्कृतिक, एव भौतिक उन्नति के लिए अपने को असमर्थ जानकर पलायनवादी मार्ग अपना कर भक्ति की ओर उन्मुख हुए फलत परलोक चितन मे आध्यात्मिक शाति प्राप्त करने की चेष्टा करने लगे।

भक्ति मार्ग द्वारा सुधारको ने हिंदू धर्म में व्याप्त समाज की अपरिवर्तनशीलता, अस्पृश्यता आदि दोषो को समाप्त करने का बीडा उठाया और समाज मे मानव समता एव भ्रातृत्व की भावना को प्रोत्साहित किया। भक्ति आदोलन के प्रचारको ने हिदू धम की रक्षा का ही प्रयत्न नही वरन् उसकी विलुप्त व्यापकता को पुनर्जीवित करने का सफल प्रयास किया।[1]

मध्यकाल के भक्ति आदोलन के सतो ने भक्ति के दो रूपो को अपनाया यथा निर्गुण और सगुण। निर्गुण धारा के सतो ने ज्ञान और प्रेम का आश्रय लिया। फलत प्रेमाश्रयी (प्रेम के द्वारा ईश्वर की अनुभूति) और ज्ञानाश्रयी (ज्ञान के द्वारा ईश्वर की अनुभूति) प्रशाखाओं का जन्म हुआ। निर्गुण शाखा के सतो ने एकेश्वरवाद का प्रचार किया और हिंदु मुस्लिम को निकट लाने का प्रयास किया। सगुण शाखा के संतो ने अपने इष्ट देवो की भक्ति पर बल दिया। कुछ सतो ने राम और कुछ सतो ने कृष्ण को अपना इष्टदेव माना। फलत सगुण धारा में राम भक्ति नामक प्रशाखाओ का जन्म हुआ। भक्ति आदोलन के सतो एव सुधारकों मे सभी वर्ण एव जातियो के लोग थे। इन संतों ने अपने मत को लोकप्रिय बनाने के लिए क्षेत्रीय भाषाओ का प्रयोग किया।

रामानुजाचार्य (1017–1137)

रामानुज महान् वैष्णव सत थे। इनका जन्म 1017 ई० में त्रुपुती नग (आधुनिक आध्रप्रदेश) मे हुआ था। इन्होंने प्रारंभिक शिक्षा काची में प्राप्त

1 ए० अहमद, इस्लामिक कल्चर इन दि इंडियन इनवायरेनमेंट, पृ० 140।

की थी। प्रारभ में कुछ समय तक गृहस्थ जीवन व्यतीत किया किंतु अंत में उसका परित्याग कर चिंतन मे लग गये। 1137 ई० में उनका स्वर्गवास हो गया।

प्रारभ मे वे शकराचार्य के विचारो के समर्थक थे किंतु देश के अनेक भागों का भ्रमण, अध्ययन एव चिंतन करके वे शकराचार्य के अद्वैत दर्शन एवं मायावाद से मतभेद रखने लगे और उन्होने मुक्ति प्राप्ति के लिए भक्ति को ही एकमात्र साधन माना। उनके मतानुसार परत्मात्मा अद्वितीय रूप से महान् है, जगत का जन्मदाता, पालक एव संहारक है। रामानुज के अनुसार शूद्र और जाति बहिष्कृत लोग भी अपने गुरु की इच्छा के आगे समर्पण करके मुक्ति पा सकते है। उन्होने शूद्रो को एक निश्चित दिन कुछ मंदिरो मे जाने की अनुमति दी और रूढिवादिता को दूर किया।

रामानुज विशिष्टाद्वैतवाद दर्शन के प्रवर्तक थे। उन्होने वेदात एव वैष्णव मतो के बीच समन्वय करके भक्ति को दार्शनिक आधार प्रदान किया और ब्रह्म को निर्गुण न मान कर सगुण माना। शकर ने ब्रह्म को सत्य और जगत को मिथ्या माना है किंतु रामानुज के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत तीनो मे एक विशिष्ट सबध है और तीनो सत्य है। जीव और जगत दोनो का केंद्रीभूत तत्त्व ईश्वर है। इस प्रकार जीव, जगत् और ब्रह्म के बीच एक विशिष्ट सबध होने के कारण उनके दर्शन को 'विशिष्टद्वैतवाद' कहा जाता है।

निम्बार्काचार्य (मृत्यु 1162 ई०)

ये रामानुज के समकालिक थे। इनका जन्म वेलारी (मद्रास) के निकट हुआ था। इन्होने रामानुज की भाति शकर के अद्वैतवादी दर्शन का खडन किया और द्वैतवाद तथा अद्वैतवाद दोनो सिद्धान्तो को अपने मत मे स्थान दिया जिसके फलस्वरूप इन्हे 'द्वैताद्वैतवादी' दर्शन का प्रवर्तक कहा जाता है। उनके मतानुसार ब्रह्म सर्वशक्तिमान है। सगुण ब्रह्म ही ईश्वर है। जीव और जगत् ईश्वर पर आश्रित होने के कारण अभिन्न है, किंतु स्वरूप की दृष्टि से वे भिन्न है। उन्होने कृष्ण को ईश्वर माना है और साथ मे राधा की भी उपासना की। उनके मतानुसार राधा-कृष्ण की भक्ति के द्वारा ही मोक्ष प्राप्ति सभव है।

माधवाचार्य (1199–1278 ई०)

ये शकर के अद्वैतवाद और रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद के विरोधी थे और द्वैतवाद के समर्थक थे। इनका द्वैतवाद भागवत पुराण पर आधृत है। इनके मतानुसार विष्णु ही ईश्वर है जो सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान है। जीव ईश्वराश्रित रहने के कारण अल्पज्ञ है। इन्होने ईश्वर और जगत् दोनो को सत्य बताया। इनका सप्रदाय 'ब्रह्म' या 'स्वतत्रास्वतत्रवाद' के नाम से प्रसिद्ध है।[1]

1 शंकर से लेकर माधव तक के चारों धर्म गुरु दक्षिण भारत मे हुए।

रामानद (1299–1411 ई०)

ये प्रयाग में जन्मे कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे ।[1] इन्होने काशी को अपना स्थायी केंद्र बनाया और उत्तर भारत मे एक सामाजिक-धार्मिक आदोलन का सूत्रपात किया । इस आदोलन ने जाति-पाति के बधनो को तोडा और कर्मकाडवाद का विरोध किया । इन्होने सभी जातियो और धर्मों के लोगो को बिना भेदभाव के शिष्यत्व प्रदान किया[2] और धर्म प्रचार के लिए जनभाषा का प्रयोग किया । इन्होंने ब्राह्मण एव शूद्र के बीच की असमानता को दूर करने का प्रयास किया । यद्यपि इन्होंने रामानुज की भक्ति-परपरा को अग्रसर किया किंतु इनके विचार रामानुज के विचारो से अधिक क्रातिकारी थे । तत्कालीन समाज में स्त्रियो का धार्मिक कार्यों मे भाग लेना वर्जित था, किंतु इन्होने स्त्रियो को भी शिष्य बनाया ।[3] इन्होंने भारत के विभिन्न प्रातो का भ्रमण कर अपने विचारों एवं उपदेशो का प्रचार किया । वे वैष्णव थे और उनके इष्टदेव थे राम । अत उन्होने राम-भक्ति पर बल दिया । उन्होंने भक्ति आदोलन को लोकवादी रूप प्रदान किया ।

कबीर (1440–1510)

अनुश्रुति है कि वे एक हिंदू विधवा के पुत्र थे, जिसने लोकलज्जा के भय से उन्हे लहरतारा नामक तालाब के किनारे फेक दिया था । नीरू नामक नि सतान जुलाहे ने बालक को उठा लिया और उसकी पत्नी ने उसे पाला ।[4] अनपढ होते हुए भी कबीर, बाल्यकाल से ही भक्ति-भावित थे और विचार-मग्न रहते थे । बडे होने पर वे रामानद के शिष्य हो गये ।[5] यह भी कहा जाता है कि कबीर ने प्रख्यात सूफी सत शेख तकी से दीक्षा ली थी ।[6] कबीर ने विवाह किया और पिता के ही व्यवसाय मे लग गये ।

---

1 डॉ० राधाकमल मुकर्जी ने इन्हे दक्षिणी बताया है । (भारत की सस्कृति और कला, पृ० 283) किंतु यह मत उपयुक्त नही जान पडता । (देखिये डॉ० ताराचन्द, वही, पृ० 144) ।

2 रामानद के निम्नजातीय शिष्यो में धना (जाट), सेना (नाई), रैदास (चमार) और कबीर (जुलाहा) विशेष उल्लेखनीय हैं ।

3 पद्मावती और सुरसीर नाम की स्त्रिया उनकी शिष्या थी ।

4 कुछ लोगो के अनुसार कबीर का जन्म जुलाहा परिवार में ही हुआ था ।

5 रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० 77 । कबीर ने स्वयं कहा है "काशी में हम प्रकट भये हैं, रामानद चेताये ।"

6. कबीर ने स्वयं उल्लेख किया है :

"मानिकपुर हि कबीर बसेरी । मदहति सुनि शेख तकि केरी ।।"

कबीर के उपदेशों के दो लक्ष्य थे, एक तो धर्म के बाह्याडंबरों से मुक्त होकर आध्यात्मिक विकास करना और दूसरा हिंदू तथा मुसलमानों के बीच सद्भावना स्थापित करना। वे निराकार ईश्वर को मानते थे और वेद तथा कुरान दोनों को स्वीकारते थे। वे जाति-पाति और मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे। इसी प्रकार वे नमाज, रमजान के उपवास मकबरो और कब्रो की पूजा के निंदक थे। उन्होने एकेश्वर, प्रेम मार्ग और भक्ति पर बल दिया। वे ईश्वर और मानवता के प्रति प्रेम को ही धर्म का मूलाधार मानते थे।

उन्होने बहुत से पदो की रचना की, जिनमें उपदेश निहित हैं। उन्होने कहा कि धार्मिक ग्रंथो आदि के अध्ययन से ज्ञान की प्राप्ति नही होती, ज्ञान तो केवल भगवत्प्रेम के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।[1] उनकी साखिया और दोहे जिनकी रचना बोल चाल की हिंदी मे हुई है, जनसाधारण को बहुत प्रभावित करते है। उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचनाए 'बीजक', 'सबद', 'साखिया' 'रमैनी', 'मगल', 'बमत होली', 'रेखताल' आदि के रूप मे है।

कबीर की विचारधारा विशुद्ध अद्वैतवादी थी। उन्हे निर्गुण ईश्वर में विश्वास था। वे ब्रह्म को 'राम' कह कर पुकारते थे। उन्हे अवतारवाद में विश्वास न था।[2] इन्होने गुरु की आवश्यकता पर बल दिया। शिक्षित समाज मे अधिक उनका प्रभाव न पडा। किंतु जनसाधारण पर अधिक प्रभाव पडा। उनकी सूक्तिया और उलटबासिया आज भी प्रचलित है। उनके अनुयायी 'कबीरपथी' कहलाये।

वल्लभाचार्य (जन्म 1409)

ये वैष्णव सप्रदाय की कृष्ण-भक्ति शाखा के महान् सत थे। इनका जन्म वाराणसी मे हुआ था, किंतु पिता तेलंगाना के निवासी थे। इन्होने बाल्यकाल में ही चारो वेद, छ शास्त्र और अठारह पुराणो पर अधिकार कर लिया था। देश का खूब भ्रमण किया था और अत मे तेलगाना आकर विजयनगर के शासक कृष्णदेव राय का सरक्षकत्व प्राप्त कर शैव सप्रदाय के विद्वानो से शास्त्रार्थ कर वैष्णव मत का प्रभुत्व स्थापित किया। उसके बाद उत्तरी भारत लौट कर वृन्दावन को अपना निवास स्थान बनाकर गृहस्थ जीवन में प्रवेश किया। उनके

1 पढि पढि के पथर भया, लिखि लिखि भया जुईट।
कहै कबीरा प्रेम की, लगी न एकौ छीट ॥
पोथी पढि पढि जग मुआ पडित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का पढै सो पडित होय ॥

2. (क) दशरथ सुत को भेद है आगर
(ख) लोग कहै गोवरधन धारी। ताको मोहि अचंभो भारी ॥

अनेक पुत्र हुए। गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी उन्होंने बौद्धिक एवं आध्यात्मिक चिंतन मे अनुरक्त रहकर जीवनयापन किया।

वल्लभाचार्य ने शंकर के 'ब्रह्म सत्य जगंमिथ्या' के सिद्धात का खडन कर यह प्रमाणित किया कि 'जीव' भी उतना ही सत्य है जितना 'ब्रह्म'। उनके मतानुसार जीव ब्रह्म का एक अश है। इसलिए अपने मूलस्रोत की भक्ति के बिना मुक्ति नही पा सकता। भगवान् कृष्ण ही ब्रह्म हैं। उनके प्रति आत्म-समर्पण एवं भक्ति मे तल्लीन हो जाना चाहिए। इस प्रकार उन्होने शकर के निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर सगुण ब्रह्म की भक्ति पर बल दिया। वे एक भक्त और दार्शनिक के साथ ही साथ सफल लेखक भी थे।[1] वल्लभाचार्य के विचारो ने न केवल धार्मिक जाग्रति उत्पन्न की, वरन् सगीत, काव्य, नृत्य और चित्रकला में पुनरुत्थान का श्रीगणेश किया।

नानक (1469–1538 ई०)

सिख मत के प्रवर्तक गुरुनानक ने भी कबीर की ही भाति निर्गुण ईश्वर की उपासना का प्रचार किया और हिंदू, मुसलमान, ऊँच-नीच का भाव छोडकर सभी को अपने मत मे दीक्षित किया। नानक ने अरबी फारसी के शब्दो का प्रयोग करके भारतीय दर्शन को ही आधार मानकर अपने विचार स्थिर किये। वे समाज के दोषो की ओर मीठी भाषा मे सकेत करते थे। साथ ही उनमे गर्वोक्तियो के स्थान पर विनय की प्रधानता है। नानक ने जिस पथ को चलाया उसके कारण पंजाब के हिंदुओ का धर्म परिवर्तन रुक गया और आगे चलकर 'सिख' नामक एक ऐसी प्रबल शक्ति का निर्माण हुआ, जिसने राष्ट्रीय के धार्मिक एव राजनैतिक जीवन में सम्मानित स्थान प्राप्त किया।

नानक बाल्यकाल से ही साधु स्वभाव के थे। प्रारभ मे दौलत खा लोदी के यहा नौकरी की और 18 वर्ष की आयु मे विवाह किया। उनके दो पुत्र भी हुए किंतु गृहस्थ जीवन, राजकीय सेवा और गृह त्यागकर उन्होने तीस वर्ष की आयु में सन्यास ग्रहण कर लिया। यह एक सुशिक्षित साधु और उच्च कोटि के ईश्वर-भक्त थे। उन्होने सपूर्ण भारत, मध्य एशिया और अरब का भ्रमण किया। उन्होंने अनेक सूफी सतो से भी संपर्क स्थापित किया, जिनमे फरीद-उद्दीन गजशकर का नाम उल्लेखनीय है। वे निराकार ब्रह्म मे आस्था रखते थे, जिसे वे सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, अतुलनीय, अचिंत्य तथा अगम्य मानते थे। उनके अनुसार ईश्वर के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण कर, उसका नाम जपने और

1. उनके ग्रंथों में पूर्व मीमास भाष्य, अणु भाष्य (अपूर्ण था किंतु उनके पुत्र गोसाईं विट्ठलदास ने पूरा किया), श्रीमद्भागवत की टीका, सुबोधिनी टीका आदि उल्लेखनीय हैं।

सद् व्यवहार से मुक्ति मिल सकती है।

चैतन्य (1486–1533 ई०)

चैतन्य का वास्तविक नाम विश्वम्भर था। उनका जन्म नवद्वीप (आधुनिक नदिया, बंगाल) में हुआ था। उनके पिता जगन्नाथ मिश्र धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। उन्होंने 15 वर्ष की अल्पावस्था में ही संस्कृत भाषा, साहित्य, व्याकरण और तर्कशास्त्र की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश किया किंतु मन न लगने के कारण गृहत्याग कर देश भ्रमण किया और कृष्ण-चैतन्य नाम धारण किया। कुछ समय तक वृन्दावन में रहे, फिर जगन्नाथ-पुरी चले गये और शेष जीवन वहीं व्यतीत किया।

चैतन्य महाप्रभु ने भगवान कृष्ण की भक्ति और गुरु सेवा पर विशेष बल दिया। उनका विश्वास था कि मनुष्य प्रेम, भक्ति, नृत्य और संगीत के द्वारा ईश्वर में लीन हो सकता है। वे जातीय भेद-भाव, कर्मकांड तथा अंध-विश्वासों के विरोधी थे। उन्होंने पशु बलि और सुरापान की निंदा की और शुद्धाचरण पर बल दिया। उन्होंने निम्नजातीय लोगों को भी अपना शिष्य बनाया। वे कृष्ण-भक्ति के आवेश में प्राय मूर्छित एवं समाधिस्थ हो जाया करते थे। चैतन्य की मृत्यु के उपरांत उनके समर्थकों का एक संप्रदाय बन गया। उनके छ प्रमुख अनुयायियों को वृन्दावन के छ गोस्वामी कहा जाता था, जिन्होंने चैतन्य संप्रदाय का विस्तार किया। कुछ लोग तो उन्हें कृष्ण का ही प्रतीक मानने लगे थे फलत स्वयं चैतन्य की गौरांग महाप्रभु के रूप में पूजा होने लगी।

नामदेव (चौदहवीं शताब्दी)

महाराष्ट्र के भक्त संतों में नामदेव का नाम अग्रगण्य है। वे जाति के दर्जी थे। उन्होंने प्रेम और भक्ति का उपदेश देकर जनसाधारण का मस्तिष्क रीति-रिवाज एवं जाति-पाति के बंधनों से मुक्त किया। इसलिए उनके शिष्य अनेक जाति एवं वर्ग के व्यक्ति थे। उनके कुछ मुसलमान शिष्यों ने हिंदू धर्म अंगीकार कर लिया था।

प्रारंभ में उन्होंने सगुणोपासना पर, किंतु बाद में निर्गुणोपासना पर बल दिया। इन्होंने ब्रजभाषा और खड़ी बोली को माध्यम बनाया। इन्होंने भी गुरु की आवश्यकता पर बल दिया।[1] गुरु का महत्त्व बताते हुए उन्होंने कहा है कि गुरु के द्वारा ही दुःखों का अंत होता है और ज्ञान की प्राप्ति होती है।[2]

1 "बिनु गुरु होइ न ज्ञान।"

2. "सुफल जन्म मोको गुरु कीना, दुःख बिसार सुख अन्तर दीना।
ज्ञान दान मोको गुरु दीना, राम नाम बिनु जीवन हीना॥

नामदेव ने समाज में प्रचलित अंधविश्वासो, बाह्याडंबरों, मूर्तिपूजा[1] और ब्राह्मणो के प्रभुत्व का विरोध किया ।[2]

सूरदास (1483–1523 ई०)

सूरदास भक्ति आंदोलन के सगुण-धारा के कृष्ण भक्त संत थे। इनके जन्म तथा जन्माध होने के सबंध में अनेक मत है। कुछ विद्वान् इन्हे सारस्वत ब्राह्मण और कुछ विद्वान् चंदबरदाई का वंशज मानते हैं। सूरदास का सबंध वल्लभाचार्य की शिष्य परपरा से था। विद्वानो का कथन है कि वल्लभाचार्य की प्रेरणा के परिणामस्वरूप ही सूर ने श्रीमद्भागवत के आधार पर कृष्ण-लीला को अपनी कृतियो का आधार बनाया था। सूर की तीन कृतिया सर्वाधिक जनप्रिय है।[3]

सूर ने ईश्वर के साकार रूप की उपासना की और भगवान कृष्ण को अपना इष्टदेव माना, जिनकी भक्ति में सदैव लीन रहे। उन्होंने माधुर्य भाव से प्रेरित होकर राधा सहित कृष्ण की लीलाओ का सजीव चित्रण किया।[4] सूर ने अपने ग्रथो मे भगवद्भक्ति के साथ बाल मनोविज्ञान का ज्ञान प्रदर्शित किया है। भक्ति के क्षेत्र मे उन्हे "पुष्टि मार्ग का जहाज" माना गया है। सोलहवी-सत्रहवी शताब्दी के श्रेष्ठ भक्तो मे उनका विशिष्ट स्थान है।

मीराबाई (1499–1546 ई०)

मीराबाई भक्ति-आदोलन के महान् सतो मे थी। वे मेडता के रतनसिंह राठौर की एक मात्र कन्या थी। उनका जन्म कुदकी ग्राम (मेडता जिला) में हुआ था। और विवाह 1516 में राणा सागा के ज्येष्ठ पुत्र युवराज भोजराज के साथ सम्पन्न हुआ था, किंतु तीन-चार वर्ष बाद भोजराज की अकस्मात मृत्यु हो गयी। पिता भी 1527 ई० में खानवा के युद्ध मे राणा सागा की ओर से लडते हुए वीरगति को प्राप्त हुए। कृष्ण-भक्ति उन्हे विरासत में मिली थी। अत आपदाओ की झडी लगने के बाद वे कृष्ण-भक्ति में लीन हो गयी, और कृष्ण भक्तो की आश्रयदाता के रूप में उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल गयी। परिणामत साधु-सत चित्तौड आने लगे। राणासागा के छोटे पुत्र और उत्तराधिकारी राणा विक्रमादित्य को यह सहन न हुआ कि सिसौदिया वश की राजकुमारी स्वच्छता से साधु-संतों के सपर्क मे आये। उसने मीरा को विष का प्याला देकर छुटकारा पाना चाहा किंतु विष का कोई प्रभाव न पड़ा। राज-

1 रामकृष्ण भडारकर कृत धर्मों का इतिहास।

2. यूसुफ हुसेन, वही, पृ० 31।

3. सूरसारावली, साहित्यलहरी और सूरसागर।

4 "ऊधो, मन नाही दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम सग, को अराधै ईस ॥"

परिवार के दुर्व्यवहार के संबध में मीरा ने गोस्वामी तुलसीदास जी से संपर्क भी स्थापित किया ।

राणा से तनाव उत्पन्न हो जाने पर वे अपने चाचा मेडता के सरदार वीरम-देव के घर चली गयी और तपस्या, कीर्तन, नृत्यादि में भावविभोर रहने लगी किंतु इसी बीच मेडता पर जोधपुर के राजा मालदेव का अधिकार हो गया । अत वे दु खी होकर वृन्दावन और द्वारका गयी और अपना शेष जीवन भक्तो की भाति व्यतीत किया । 1547 ई० द्वारका मे वे स्वर्ग सिधारी ।[1]

मीरा की उपासना 'माधुर्य भाव' की थी । उनके इष्टदेव कृष्ण थे, जिनकी भक्ति वे पति रूप में करती थी और उसी मे लीन रहती थी ।[2] मीरा का गुण-गान नाभा जी, ध्रुवदास व्यास जी और मलूकदास ने किया है ।

मीरा ने अनेक पदो की रचना की, जो सभी भजन है, भजन ब्रजभाषा, राजस्थानी और गुजराती मे रचे गये हैं । भजन कृष्ण के प्रति प्रेम[3] और भक्ति भावना से भरे है । उनमें मधुरता के साथ वह प्रेम और भक्ति की कोमल भावनाओ का उद्रेक होता है । सभी भजन कृष्ण को सबोधित कर लिखे गये हैं । मीरा को सदैव भगवान कृष्ण के सामने होने की अनुभूति होती थी ।

गोस्वामी तुलसीदास (1497–1523 ई०)

तुलसीदास का जन्म राजापुर (जिला बादा) नामक ग्राम में ब्राह्मण परि-वार में हुआ था । कुछ विद्वानों के अनुसार वे सोरो (जिला एटा) मे उत्पन्न हुए थे । उनके पिता का नाम आत्माराम दूबे और माता का नाम हुलसी था । उनका विवाह दीनबधु पाठक की पुत्री रत्नावली से हुआ था । जनश्रुति है कि पत्नी की फटकार से खीझ कर सासारिक सुखो को त्याग कर वे राम-भक्ति में लीन हो गये । गोस्वामी जी ने ईश्वर के सगुण रूप की उपासना की और अयोध्या के राजा दशरथ के पुत्र राम को ईश्वर का अवतार मानकर उनकी आराधना

---

1 पं० गौरीशंकर हीराचद्र ओझा कृत राजपूताना का इतिहास, पृ० 770 और आगे ।

2 मीरा ने स्वय कहा है—

"मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरो न कोई ।
जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई ॥"

3. इस प्रकार मीरा की तुलना प्रसिद्ध स्त्री सूफी संत रबिया से कर सकते है क्योकि रबिया भी ईश्वर रूप मे पति की भक्ति करती थीं ।

मारगरेट स्मिथ कृत रबिया दि मिस्टिक ।

करने लगे । इतना ही नही उन्होंने सीता सहित राम की उपासना की ।[1] उन्होंने राम को ब्रह्म और सीता को प्रकृति स्वरूप स्वीकार किया ।

गोस्वामी जी ने भक्ति के साथ लोकशिक्षा का भी ध्यान रखा । उन्होंने मानव जीवन के ऐसे आदर्शों की स्थापना की जो विश्वजनीन हैं और समय के प्रभाव से नही बदलते । उन्होने आदर्शों की भित्ति पर अपनी भक्ति के स्वरूप की इतनी सुदर विवेचना की कि उसने तात्कालिक धार्मिक अव्यवस्था में प्रथ-प्रदर्शक का कार्य किया । तुलसीदास जी के ग्रथो में **रामचरितमानस** का विश्व-साहित्य में विशिष्ट स्थान है ।[2] इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक ग्रंथो की रचना की ।[3] उनकी रचनाओ के लोकप्रिय होने का कारण सरस भाषा का प्रयोग है । उन्होने अवधी और ब्रज भाषा को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया और अरबी, फारसी, बुदेली और भोजपुरी आदि के शब्दों का भी प्रयोग किया ।

दादूदयाल (1544–1603)

इनका जन्म अहमदाबाद मे हुआ था । कुछ लोग इन्हे ब्राह्मण और कुछ लोग निम्न जाति का मानते है । इन्होने अजमेर, दिल्ली, आमेर आदि अनेक स्थानों का भ्रमण किया और अत मे नारंना चले गये, जहा उनकी मृत्यु हो गयी ।

दादू कबीर पथी थे । इन्होने निर्गुण पंथ का आश्रय लिया तथा ईश्वर की व्यापकता, गुरु की महिमा और हिंदू-मुस्लिम एकता पर बल दिया । इस क्षेत्र मे उनका प्रयास स्तुत्य है । अन्य सतों की भाति इन्होने भी समाज की कुरीतियों तथा ऊँचनीच भावना और धार्मिक भेद भाव का विरोध किया ।

रविदास

रविदास चर्मकार थे । उनका जन्म काशी में हुआ था । रैदास कबीर के समकालिक थे । कबीर के प्रभाव से ही उन्होंने ईश्वर के निर्गुण रूप क अपनाया जातिप्रथा, अस्पृश्यता, ऊँच-नीच, भेद-भाव का विरोध किया तथा व्यक्ति—समानता पर बल दिया । उन्होंने हरि भक्ति के विषय में कहा है कि "हरि सब में हैं और सब हरि मे है" । उन्होने संसार को एक खेल और ईश्वर को इस खेल का सचालक बताया । खेल असत्य है, केवल बाजीगर सत्य है । अत. सासारिक वस्तुओ का तिरस्कार कर ईश्वर भक्ति मे तल्लीन हो जाना चाहिए ।

---

1 "सियाराम मय सब जग जानी ।
करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ॥"

2 सर जार्ज ग्रियर्सन और सिंट स्मिथ सरीखे विद्वानो ने रामचरितमानस की भूरि-भूरि प्रशंसा की है ।

3 गीतावली, कवितावली, विनयपत्रिका आदि ।

भक्ति आदोलन जन आदोलन था। इससे लगभग संपूर्ण देश अनेक शताब्दियों तक प्रभावित रहा। इस्लाम की विचारधारा एव रीतिरिवाजो ने भी इसे प्रभा- किया। मुसलमान विचारक, लेखक और धर्म शास्त्री भारत के सामाजिक संगठन एव रीतिरिवाजो के कटु आलोचक थे। इसलिए इस आदोलन के प्रमुख दो उद्देश्य थे। एक तो धर्म सुधार करना जिससे वे इस्लाम का सामना कर सके और दूसरे दोनों धर्मों के बीच सौहार्दपूर्ण सबध स्थापित हो। प्रथम उद्देश्य मे यह आदोलन पर्याप्त रूप में सफल रहा क्योकि उपासना विधि सरल हो गयी और जाति सबधी नियम उदार हो गये। फलत निम्नकोटि के लोगो ने संतो के सत्सग मे आकर, अपने दुराग्रह त्याग कर मुक्ति प्राप्ति के उपाय ढूँढना प्रारंभ कर दिया। किंतु यह आदोलन अपने दूसरे उद्देश्य अर्थात हिंदू-मुस्लिम एकता स्थापित करने मे असफल रहा। इसके अतिरिक्त इस आदोलन का सबसे बडा लाभ यह हुआ कि इससे जन भाषाओ के साहित्य का विकास हुआ क्योकि अधिकाश सुधारको एव सतो ने स्थानीय भाषाओ को ही माध्यम बनाया।

शिक्षा तथा साहित्य

सल्तनत कालीन शिक्षा[1]

सल्तनत कालीन भारत में शिक्षा पद्धति मजहबी होने के कारण जनसाधारण का राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक हितसाधन करने वाले अन्य विषय उपेक्षित ही रह गये। सरकारी और गैरसरकारी मकतबो और मदरसो में इतिहास, सस्कृति, दर्शन, धर्म, सस्कृत भाषा और साहित्य तथा सामाजिक सगठन आदि के लिए कोई व्यवस्था न थी।[2] इन रूढिवादी इस्लाम के केंद्रो से निकले लोग ही राज्य के कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे।

सल्तनत काल में मुख्यत दो प्रकार की शिक्षा सस्थाएँ थी, यथा मकतब और मदरसा। मकतबो मे प्राथमिक शिक्षा दी जाती थी। इनमे अरबी और फारसी

1 बिहार मे विक्रमशिला और नालंदा बगाल मे नवद्वीप, मध्यदेश में काशी हिंदू शिक्षा के प्रमुख केंद्र थे। मुसलमानो के भारत मे आगमन के बाद नालदा और विक्रमशिला के महाविद्यालय बद हो गये और वहाँ के ग्रथ भी नष्ट हो गये। प्राय सभी नगरो तथा कस्बों में सस्कृत पाठशालाएँ थी, जो व्यक्तिगत स्तर पर संचालित थी किंतु राज्य की ओर जनसाधारण की शिक्षा की कोई सुनियोजित व्यवस्था न थी।

2. डॉ० युसुफ हुसेन ने लिखा है कि "मध्य युग में सोचने का दृष्टिकोण मजहबी था। राजनीति, शिक्षा दर्शन एवं शिक्षा मजहबी नियंत्रण में थे तथा उन्हें मजहबी परिभाषाओं के अनुकूल बना लिया गया था। लोगो के चिंतन एव अभिव्यक्ति का भी दृष्टिकोण मजहबी होता था।"

का लिखना और पढना सिखाया जाता था। कुरान कंठाग्र कराई जाती थी। प्रायः मकतब गैरसरकारी संपत्ति के द्वारा सचालित होते थे। इनकी संख्या अधिक थी। मदरसा में उच्च शिक्षा दी जाती थी। इनकी संख्या कम थी। ये केवल नगरों में होते थे।

दिल्ली के कुछ सुल्तान यद्यपि अपढ थे तथापि उन्होने शिक्षा में बड़ी रुचि ली थी। महमूद गजनवी ने गजनी में एक उच्च कोटि के मदरसा की स्थापना की थी, जहा मध्य एशिया, फारस आदि देशों के विद्यार्थी पढने आते थे। इस सुल्तान ने अलबरुनी, फिरदौसी आदि विद्वानो को, कवियो एवं दार्शनिको को सरक्षण प्रदान किया। उसके 'मदरसा' से एक उच्च कोटि का पुस्तकालय सलग्न था। उसके पुत्र मसूद ने अपने पिता का अनुसरण करके लाहौर मे एक मदरसा स्थापित किया जो आगे चलकर मुस्लिम शिक्षा का केद्र बना। मुहम्मद गोरी की विजय के उपरात राज सत्ता लाहौर से दिल्ली स्थानातरित हो गयी। अततोगत्वा दिल्ली मे अनेक मदरसे स्थापित किये गये, जिनमे विदेशी मुसलमान अध्यापक नियुक्त किये गये थे। मुहम्मद गोरी के समकालिक हसन निजामी ने[1] लिखा है लिखा है कि मुहम्मद गोरी ने अजमेर में अनेक मदरसो की स्थापना की थी। भारत मे मुस्लिम राज्य के वास्तविक सस्थापक सुल्तान इल्तुतमिश का शिक्षा की ओर विशेष ध्यान था। उसने सर्वप्रथम दिल्ली मे एक मदरसा स्थापित किया और उसका नाम मुइज्जुद्दीन मोहम्मद गोरी के नाम पर 'मदरस-ए-मुइज्जी' रखा। बदायूं में उसी के नाम पर एक दूसरा 'मदरसा' स्थापित किया जो उत्तरी भारत में इस्लामी सस्कृति का दूसरा केंद्र बन गया।[2] नासिरुद्दीन महमूद जो स्वय भी शिक्षित था, उसके शासन काल मे (1246-60 ई०) मे उसके वजीर बलबन ने एक मदरसा की स्थापना की और उसका नामकरण अपने सुल्तान के नाम पर 'मदरस-ए-नासिरिया' किया। प्रसिद्ध इतिहासकार मिनहास-उस-सिराज[3] को उस मदरसा का प्राचार्य नियुक्त किया। बलबन ने भी शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। बलबन का दरबार विद्वानों, कवियो, दार्शनिकों और उलेमाओं से भरा रहता था। इनमे मीर हसन और मीर खुसरो का नाम अग्रगण्य है। मगोल आक्रमण के समय उसने अनेक पीडित कलाकारों को दिल्ली में शरण दी थी।[4]

---

1. ताज-उल-मासिर का लेखक।

2 लईक अहमद, भारतीय मध्यकालीन संस्कृति, न० 57।

3. तबाकत-ए-नासिरी का लेखक।

4 ए० अजीज कृत इस्लामिक कल्चर इन द इंडियन इन वायरनमेंट, पृ० 224।

खिलजी वंश के सुल्तानो के शासन काल मे शिक्षा की बडी उन्नति हुई। अलाउद्दीन खिलजी ने 'हौज-ए-खास'[1] के निकट एक मदरसा स्थापित किया। आगे चलकर सुल्तान फीरोज शाह तुगलक ने इसका जीर्णोद्धार कराया। अलाउद्दीन ने शिक्षा प्रसार मे बडा योग दिया।[2] उसका वजीर शम्स-उल-मुल्क भी एक अध्यापक रह चुका था। मोहम्मद तुगलक ने दिल्ली मे एक दूसरा मदरसा स्थापित किया, जिससे सलग्न एक मस्जिद बनवायी। फीरोजशाह तुगलक के काल में शिक्षा का सर्वाधिक प्रसार हुआ। उसने तीस मदरसे स्थापित कराये और विद्वानो को सरक्षण प्रदान किया। इनमे दिल्ली का मदरसा सर्वाधिक प्रसिद्ध था, जिसका नाम 'मदरसा-ए-फीरोजशाही'[3] रखा गया था। यह 'हौज-ए-खास' के निकट था। इसकी इमारत बडी भव्य थी।[4] यह दुमजिली थी और इसके चारो ओर मेहराबदार बरामदे थे। इसका अग्रभाग सुंदर है और हिंदू स्तभो एव मुस्लिम मेहराबों का बडा ही प्रभावोत्पादक समन्वय प्रस्तुत करता है। उद्यान के मध्य स्थित यह भलीभाति सुसज्जित था। मौलाना जलालुद्दीन रूमी इस मदरसा के प्राचार्य थे। उसने सभी मदरसो को राज्य की ओर से आर्थिक अनुदान दिये। और भूमि प्रदान की। इसके अतिरिक्त अध्यापको और विद्यार्थियो को नि शुल्क भोजन एव आवास की सुविधा प्रदान की और प्रतिभाशाली विद्यार्थियों को छात्रवृत्तिया प्रदान की जाती थी।

फीरोज तुगलक-कालीन मदरसो मे विभिन्न विषयो की शिक्षा दी जाती थी। इतिहासकार बरनी के मतानुसार "इसमे तफसीर (कुरान की टीका), हदीस (पैगबर की परपराए) और फिक (मुस्लिम न्याय शास्त्र) आदि का अध्यापन कार्य सपन्न होता था।" फीरोज तुगलक को ज्योतिष-शास्त्र, इतिहास और औषधि-शास्त्र मे विशेष अभिरुचि थी अत उसने इन विषयो के पठन-पाठन की समुचित व्यवस्था करायी।[5] इसके अतिरिक्त व्यावसायिक शिक्षा की भी व्यवस्था थी। सुल्तान मोहम्मद तुगलक द्वारा सस्थापित कारखानो को व्यावसायिक शिक्षा संस्थानों मे परिवर्तित कर दिया गया था, जहा विभिन्न व्यवसायो

---

1 एक विशाल तालाब का नाम।

2 अलाई दरवाजा पर उत्कीर्ण लेख।

3. याहिया कृत तारीख-ए-मुबारकशाही, 127।

4. इसके संबध में बर्नी लिखता है कि "इसकी सुदरता, कलात्मक अनुपात और खुशनुमाई इसको ससार की महान् इमारतो में इतना अनोखा बना देती है कि अगर इसे सिमार द्वारा निर्मित खवनिक के महल से भी श्रेष्ठ कहा जाय तो अनुचित न होगा।"

5 खलीक अहमद निजामी, स्टडीज इन मिडीवल इंडियन हिस्ट्री।

की शिक्षा दी जाने लगी थी ।[1] अध्यापन पद्धति के विषय में बहुत कम जान-कारी उपलब्ध है । पाठ कठस्थ कराने की प्रथा थी । विचारगोष्ठियों का भी आयोजन होता था । मदरसे से सलग्न मस्जिद में नमाज पढना आवश्यक था ।[2]

फीरोज तुगलक के बाद तैमूरी आक्रमण (1392-99) और उसके प्रभाव के फलस्वरूप शिक्षा की प्रगति अवरुद्ध हो गयी, किंतु सिकंदर लोदी (1448-1517) के शासनकाल में शाति सुरक्षा रही और इस काल में शिक्षा के क्षेत्र मे प्रगति हुई । सिकदर लोदी ने विशेष रुचि लेकर साम्राज्य के विभिन्न भागो मे अनेक मदरसे स्थापित किये थे । इन मदरसों में अध्यापन के लिए विदेशी विद्वानों की नियुक्ति की गयी । इनमे शेख अब्दुल्ला और शेख अजीज नामक दो उल्लेमा विशेष उल्लेखनीय है । उसने आगरा नगर की नीव डाली और वहा एक मदरसा स्थापित किया, जिसने आगे चल कर बडी प्रसिद्धि पाई । इसी काल मे जौनपुर, अहमदाबाद, बिहार शरीफ, माडु, गुलबर्ग, बीदर, एलिचपुर और दौलताबाद आदि प्रातीय राजधानिया तथा बगाल के अनेक नगर शिक्षा के केंद्र बन गये । ये सभी (प्रातीय) राजवंश तुगलक साम्राज्य के पतनोन्मुख होने के बाद स्थापित हुए थे । जौनपुर को तो 'शीराज-ए-हिंद' कहा जाता था । यहा दूर-दूर से लोग शिक्षा प्राप्त करने आते थे । बीदर में महमूद गावा द्वारा स्थापित मदरसा भी बडा विख्यात हुआ । इस मदरसे का भवन बडा भव्य था । इसमें एक पुस्तकालय था और आवास गृह सलग्न थे ।

विद्या एवं साहित्य

फारसी साहित्य का विकास

भारत मे फारसी साहित्य का विकास मुस्लिम आक्रमणकारियो के आगमन से हुआ । सल्तनतकालीन साहित्य के क्षेत्र में विशेष रूप से धर्म के परिवेश में अरबी और फारसी साहित्य का सर्जन हुआ । इस काल मे मूल ग्रथो का अभाव रहा, केवल टीकाएं लिखी गयी । फारसी का धार्मिक मूल साहित्य केवल सूफी संतों के उपदेशों में था । जिन ग्रंथों का उस समय प्रचलन था वे अधिकतर (तफसीर टीका), हदीस (परपराए), फिक (न्यायशास्त्र), तसव्वुफ (रहस्यवाद), कलाम (वचन) आदि थे । श्री निजामी के मतानुसार "तेरहवी शताब्दी के भारत में लिखे गये ग्रंथों में मौलिकता कम थी । इस काल के हिंदू-

1. लईक अहमद, वही पृ० 58 ।

2 दीवान-ए-मुताहिर, के० ए० निजामी, वही पृ० 88 ।

एक समकालिक कवि एक बार इस मदरसे को देखने गया था । उसने मदरसे के वातावरण एवं वायुमडल का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है ।

मुस्लिम विद्वान् अधिकतर टीकाकार, संकलनकर्ता, संक्षिप्त रूपांतरकार और व्याख्याकार थे।[1]

तेरहवीं शताब्दी में मौलाना रजीउद्दीन सगनी ने 'हदीस' पर चार ग्रंथ लिखे, यथा **मशरिक उल अनवार**, **रिसालाफिल-अहदीस-उल-माजुआ**, **दुर्र-अल सिहावाहफी-बयां-मगओ वफायत-अल-सहावाह** और **किताब फि-अस्माशुयूख-अल-बोखारी**। इसके अतिरिक्त रहस्यवाद पर काजी हमीदुद्दीन नागौरी ने **इश्किया**, शेख जमालुद्दीन हसवी ने **मुल्हामत**, **दीवान**, अमीर हसन सिज्जी ने **फवायद-उल-फौद**, **सरूर-उस-सुदूर** और **मिफता-उत-तौलिबिन** नामक ग्रंथ लिखे। इसके अतिरिक्त परंपराओं, कलाम, न्याय शास्त्र और **कुरान** की व्याख्या पर बहुत से ग्रंथ लिखे गये।

तुर्की आक्रमणकारी महमूद गजनवी भाषा और साहित्य का प्रेमी था। आक्रमणों में वह अनेक कवि और लेखक अपने साथ लाया था। प्रसिद्ध इतिहासकार अबूरीहान मोहम्मद अलबरूनी उनमें सर्वाधिक प्रख्यात था। इनके विद्वत्तापूर्ण भारत विवरण में हिंदू धर्म, दर्शन, इतिहास, गणित और अन्य शास्त्रों के विषय में पर्याप्त सामग्री संगृहीत है। उसने संस्कृत का भी अध्ययन किया था।

मोहम्मद गोरी ने भी विद्वानों और कवियों को संरक्षण प्रदान किया, जिसमें फारसी भाषा और साहित्य की वृद्धि हुई। उसके दरबारी कवियों में ताजुद्दीन हसन, रुकनुद्दीन हमजा, शिहाउद्दीन मोहम्मद रशीद, मर्गा के नाजुकी और बल्ख के काजी हमीद थे। अब्दुल रऊफ हरफी और अबू बक्र खुसरवी ने कसीदे लिखकर साहित्य की अभिवृद्धि की।[2]

दिल्ली सल्तनत की स्थापना के बाद फारसी राज-भाषा हो गयी। दिल्ली और आसपास उसका प्रचार बढ़ा।[3] कुतुबुद्दीन ऐबक विद्वानों के प्रति बहुत उदार था। इसीलिए उसे 'लाखबख्श' कहा गया। उसके शासनकाल में हसन निजामी बाहर से दिल्ली आया था। उसने ऐतिहासिक ग्रंथ **ताज-उल-मासिर** की रचना की। इल्तुतमिश भी विद्वानों के प्रति उदार रहा। उसके दरबार में फारसी के कवि और लेखक थे, जिनमें ख्वाजा अबू नसर 'नासिरी' अबूबक्र बिन मुहम्मद रूहानी, ताजउद्दीन दबीर नुरुद्दीन मोहम्मद अवफी का नाम उल्लेखनीय है। इतिहासकार मिनहाजुद्दीन सिराज इल्तुतमिश की राजकीय सेवा में था। इसका प्रसिद्ध ग्रंथ **तबाकत-ए-नासिरी** 1260 ई० तक का इतिहास प्रस्तुत करता

---

1. के० ए० निजामी, वही।

2. ए० अहमद, स्टडीज इन इस्लामिक कल्चर इन दि इंडियन इनवायरनमेंट, 224।

3 डॉ० युसुफ हुसेन, ग्लिम्पसेज आफ मिडीकल इंडियन कल्चर, पृ० 72।

है। नासिरुद्दीन महमूदशाह (1246-65 ई०) को साहित्य से प्रेम था। फख-रुद्दीन नूनाकी 'आमिद' और मिनहाजुद्दीन उसके समकालिक और कृपापात्र थे। गियासुद्दीन बलबन का दरबार तो इस्लामी संस्कृति का केंद्र बन गया था। बल-बन विद्वानो का सत्संग एवं सानिध्य करता था।[1] बलबन का ज्येष्ठ पुत्र मोहम्मद 'खाने रशीद' कवियो का संरक्षक था। फारसी के महान् कवि अमीर खुसरो[2] और मीर हसन देहलवी[3] ने उसी के आश्रित होकर काव्य का सृजन किया।

अलाउद्दीन खिजली के दरबारी कवियों मे सदरुद्दीन अली, फखरुद्दीन, हमी-दुद्दीन, मौलाना आरिफ, अब्दुल हकीम और शिहाबुद्दीन सद्रनिशीन उल्लेखनीय है। मोहम्मद तुगलक स्वय विद्वान् था और विद्वानो का आश्रयदाता भी। तुग-लक काल मे फारसी साहित्य का अत्यत विकास हुआ। प्रसिद्ध इतिहासकार जियाउद्दीन बरनी 17 वर्ष तक उसके सरक्षकत्व मे रहा।[4] इसके अतिरिक्त

---

1 वही, 73।

2 अमीर खुसरो फारसी का श्रेष्ठ भारतीय कवि था। उसने 'हिंदवी' मे भी कविताएं लिखी। उनका जन्म 1256 ई० मे पटियाली (जिला एटा, उ० प्र०) मे हुआ था। वह निजामुद्दीन औलिया का शिष्य था। उन्होंने कविता, कथा, कहानी, मसनवी और इतिहास आदि विषयो पर ग्रथ लिखे जिनमें उल्लेख-नीय है—खमशा पजगज, मतला-उल-अनवर, शीरी व फरहाद, लैला व मजनू, आइने सिकदरी, नूह सिफर, रसैल इलाज, तुगलक नामा, मिफता उल फुतूह, अफजल उल फरायद, तारीख-ए-दिल्ली, खजाइन-उल-फुतूह आदि। खुसरो ने हिंदी शब्द और मुहावरो का प्रयोग किया और भारतीय विषयो पर लिखा। खुसरो ने भारत की तुलना स्वर्ग के उद्यान से की है और भारत को अन्य देशो की तुलना मे श्रेष्ठ सिद्ध किया है। वह भारतीय सगीत का प्रेमी था। अनु-श्रुति है कि भारतीय वीणा और ईरानी तबूरा को मिला कर सितार का आविष्कार उसी ने किया था। उसने भारत के पान की बडी प्रशसा की है।

3 वह खुसरो के समकालिक और मित्र थे। उन्होंने अपने गुरु औलिया के वार्तालापों को अपने फवायद-उल-फवाद नामक ग्रथ में संगृहीत किया, जो सूफी दर्शन की निधि है।

4. बरनी ने तारीख-ए-फीरोजशाही, फतवा-ए-जहादारी, सना-ए-मुहम्मदी, सलत-ए-कबीर, इनायत नामा-ए-इलाही मासिर-ए-सआदत और हसरतनामा नामक ग्रंथ लिखे। यह भी निजामुद्दीन औलिया का शिष्य और खुसरो और मीरहसन का मित्र था वह फीरोज तुगलक के राजाश्रय से वंचित रहा।

विद्वान् और कवि मुहम्मद बद्र-ए-चाच[1], बदरुद्दीन मोहम्मद और इसामी उसके आश्रित थे। फीरोज तुगलक विद्या तथा इतिहास प्रेमी था। उसने अपने राज्य-काल का विवरण **फतुहात-ए-फीरोजशाही** नामक ग्रंथ में लिखा है। प्रसिद्ध विद्वान् और इतिहासकार शम्स-उस-सिराज अफीफ उसका दरबारी था। अफीफ के ग्रंथ **तारीख-ए-फीरोजशाही** (5 जिल्दों में) फीरोज के राज्यकाल का विवरण है। जहां बरनी का ग्रंथ समाप्त होता है वहां से अफीफ का ग्रंथ आरंभ होता है। इससे क्रमबद्धता बनी रही है। एक अज्ञात लेखक ने तात्कालिक इतिहास **सीरत-ए-फीरोजशाही** नामक ग्रंथ लिखा है। तुगलक सुल्तानों के अंतिम काल में मुहम्मद बिहामद खानी और शाहया बिन अहमद नामक विद्वान हुए, जिन्होंने क्रमश **तारीख-ए-मुहम्मदी**[2] और **तारीख-ए-मुबारकशाही** नामक सुप्रसिद्ध ग्रंथ लिखे।

तुगलक वंश के पतन के उपरांत केंद्रीय सत्ता विशृंखल हो गयी। उसके स्थान पर प्रांतीय राज्यों की स्थापना हुई। उनमें भी पर्याप्त साहित्यिक उन्नति हुई। उदाहरणार्थ सिंध में सैयद मुइनुल हक ने भक्कर के सैयदों की वंशावली तैयार की (1426-27 ई०) और उसका नाम 'मनवा-उल-अनसाब' रखा गया बिहार में इब्राहीम किराम फारूकी ने **फरहूंग-ए-इब्राहीमी** अथवा **शर्फनामा-ए-इब्राहीमी** नामक एक शब्दकोश तैयार किया।[3] दक्षिण के बहमनी वंश का सुल्तान ताजुद्दीन फीरोज (1397-1422) ज्योतिष का विद्वान् था इसीलिए उसने दौलताबाद में एक वेधशाला का निर्माण शुरू किया किंतु वह पूर्ण न हो सकी। इसी राज्य का प्रसिद्ध वजीर ख्वाजा महमूद गावां ने प्रख्यात कवि अब्दुल रह-मान जामी को आमंत्रित किया। गावां ने **रियाजुलइंशा** नामक एक पत्रसंग्रह तैयार किया था। स्वयं कवि होने के नाते अन्य रचनाएं भी मिली हैं। उसने मुल्ला अब्दुल करीम से **मासिर-ए-महमूदशाही** नामक गुजरात का इतिहास लिखाया था।[4] गुजरात में महमूद बेगडा (1458-1511) के शासन काल में फजालुल्लाह जैनुल आबिदीन उर्फ सद्र-ई-जहां ने प्रारंभिक काल से 9वीं शताब्दी तक का इतिहास लिखा। बीजापुर के महमूद अयाज ने कामशास्त्र पर **मिफ्ता-उस-सुरूर-ए-आदिली** नामक ग्रंथ (1516 ई० में) लिखा।

1 इसकी रचनाओं में दीवान-ए-चाच और शाहनामा सुप्रसिद्ध है।

2. इस ग्रंथ में मुहम्मद साहब के समय से लेकर 1438-39 ई० तक का इतिहास है।

3. किंतु लेखक ने इसका नाम सर्फनामा-ए-अहमदनियारी रखा, क्योंकि वह सूफी संत सर्फउद्दीन अहमदमनियारी का शिष्य था।

4. देखिये निजामुद्दीन अहमद की तबाकत-ए-अकबरी।

सैयद और लोदी काल मे साहित्यिक प्रगति होती रही। स्वयं सिकदर लोदी कवि और विद्वान् था। उसने स्वयं कविताएं लिखी और अनेक कवियों को आश्रय दिया, जिनमें शेख अब्दुल्ला तुलानवी शेख अजीजुल्ला और ईरानी विद्वान् रफीउद्दीन शिराजी के नाम उल्लेखनीय है। लोदी काल के ख्याति प्राप्त कवि जमालुद्दीन थे। वे एक भ्रमणशील साहित्यकार थे। इसी काल के दूसरे कवि शेख अब्दुलकुद्दूस गागोही थे। चौदहवी शताब्दी के अतिम चरण मे सुल्तान ने उपयोगिता की दृष्टि से संस्कृत के औषधि शास्त्र, ज्योतिष, सगीत विषयक ग्रथों का फारसी मे अनुवाद कराया। अजीजुद्दीन किरमानी ने संस्कृत के एक ग्रथ का फारसी मे अनुवाद करके उसका नाम **दलायल-ए-फीरोजशाही** रखा था। अब्दुल अजीजशम्स ने सगीत के एक ग्रथ का सस्कृत से फारसी मे अनुवाद किया था। सिकदर लोदी के काल मे औषधिशास्त्र पर सस्कृत के एक ग्रथ का **तिब्ब-ए-सिकन्दरी** के नाम से फारसी मे अनुवाद किया।

'हिंदवी' उर्दू और हिंदी

तुर्कों के आगमन के बाद भारत मे मध्य-एशियायी तुर्की तथा हिंदुओ के सपर्क के परिणामस्वरूप एक नई बोलचाल की भाषा का जन्म हुआ जो प्रारंभ मे छावनियो और बाजारो की भाषा' बनी। लगभग 200 वर्ष तक यह केवल बोलचाल की भाषा रही। इसके साहित्य सृजन का श्रीगणेश 14वी शताब्दी के प्रथम चरण मे हुआ। प्रारभ मे इसका नाम 'जबान-ए-हिंदवी' था, बाद मे 'उर्दू' पडा। मोहम्मद हुसेन आजाद के अनुसार 'तुर्कों के आगमन से सर्वप्रथम फारसी भाषा का सपर्क पश्चिमी हिंदी से हुआ अत इसकी उत्पत्ति का मूल स्रोत ब्रजभाषा है'। डा० महमूद शेरानी के मतानुसार 'उर्दू का जन्म फारसी और पजाबी-सिंधी भाषाओं के संपर्क से हुआ[3]'। डा० मसूद हुसैन के अनुसार 'उर्दू भाषा की उत्पत्ति फारसी तथा हरियानी के संपर्क से हुई'।[4] उपर्युक्त सभी व्याख्याओ मे आंशिक सत्य प्रतीत होता है 'किंतु यह पूर्ण सत्य नही, कारण कि परपरागत होने के कारण भाषा अर्जित संपत्ति होती है और उसकी उत्पत्ति एवं उसका विकास सहसा नही हो जाता, वरन् शनै. शनै होता है। उर्दू की उत्पत्ति भी इसी प्रकार हुई होगी। सल्तनतकाल के आस-पास भारत की अनेक भाषाओ का फारसी और अरबी के साथ सम्मेलन हुआ होगा और एक दूसरी भाषाओ के साथ आदान-प्रदान हुआ होगा अत. एक काम

1 विस्तार के लिए देखिए परिशिष्ट चार।

2. उर्दू के प्रख्यात लेखक।

3. डा० महमूद शेरानी, पजाब में उर्दू, पृ० 21।

4. डा० मसूद हुसेन, मुकद्दम-ए-तारीख-ए-जबान-ए-उर्दू, पृ० 138।

चलाऊ एवं सहज नयी भाषा का विकास हुआ होगा । आगे चलकर मुसलमानों का उत्तरी भारत के काफी बडे क्षेत्र पर अधिकार हो गया, तो उनके प्रभाव मे हिंदी कवि भी अछूते न रह सके । पृथ्वीराज के दरबारी कवि चदबरदाई की कृति **पृथ्वीराज रासो** में भी अरबी फारसी के शब्दो का प्रचुर मात्रा मे प्रयोग हुआ है।[1] सल्तनत राज्य की स्थापना के बाद केंद्र होने के कारण दूरस्थ प्रातो से लोग दिल्ली, आकर बसने लगे। इस प्रकार दिल्ली एशिया की मुसलमान जातियो और मध्य तथा उत्तरी-पश्चिमी भारत के हिदुओ की सम्मिलन भूमि थी । इस प्रकार भारतीय और भारतेतर अनेक भाषाओं के मिश्रण से एक नयी भाषा का विकास हुआ, जिसने अततोगत्वा दिल्ली की सामान्य भाषा का रूप प्राप्त किया । अमीर खुसरो ने इसका नामकरण 'हिंदवी' अथवा 'देहलवी' किया। 1200 से 1700 ई० तक उर्दू तथा पश्चिमी हिंदी लगभग एक सी रही । इसकी पुष्टि अमीरखुसरो तथा सूफी सतो की काव्य कृतियो मे दोहो तथा गजलो के प्रयोग से होती है । खुसरो उर्दू के ही नही वरन् हिंदी के भी सबसे पहले कवियो मे से है । कम से कम तीन सौ वर्षों तक हिंदी और उर्दू का प्रारभिक इतिहास समान है । भक्ति आदोलन के सतो ने भी हिंदी-उर्दू भाषा के विकास मे बहुत योगदान दिया । सूफियो की भाति उन्होने भी इन्ही भाषाओ को माध्यम बनाया । अधिकतर मुसलमान लेखक और कवि फारसी और अरबी शब्दो, रूपो एव विषयो का अधिकाधिक प्रयोग करने लगे, परतु सल्तनत काल (1206-1526 ई०) मे दिल्ली सुल्तानो ने फारसी को ही दरबारी भाषा बनाये रखा ।

अमीर खुसरो ने कविता उर्दू अथवा देहलवी भाषा का प्रयोग किया तथा फारसी हिंदवी के मिश्रण मे गजल[2] आदि लिखकर हिंदवी का प्रयोग कर उसको प्रोत्साहन दिया । उन्हें अपनी 'हिंदवी' रचनाओ पर गर्व था ।[3] खुसरो ने अपनी

1 युसुफ हुसेन, वही, पृ० 102 ।

2. जहाल मिसकी मकन तगाफुल दराये नैना बनाये बतिया,
किताब हिजरा नदारम ए जान लेहू काहे लगाये छतिया ।
शबान हिजरा दराज चू जुल्फ बरोज वसलत चू उम्र कोताह,
सखी पिया को जो मै न देखू तो कैसे काटू अधेरी रतिया ।
यकायक अजदन व चश्म जरह हैरान ज महरामबगुफ्तम आखिर
न नीद नैना, न अग चैना, न आप आवें न भेजे पतिया ।
बहक रोज विसाल दिल्बर की दाद मारा फरेब खुसरो,
सपीत मन को दराये राखू जो जाये पावूं पिया के खतिया ।

3. अपने ग्रंथ गुर्रतुल कमाल में लिखा है कि 'मैं एक भारतीय तुर्क हूँ

पहेलियों में भी हिंदवी का प्रयोग किया है।[1] उन्होंने अपने गुरु निजामुद्दीन औलिया की मृत्यु पर एक पद भी लिखा था।[2] उनकी रचनाओं के द्वारा हिंदवी का बडा प्रचार हुआ।[3] उनकी हिंदवी की रचनाएं दिल्ली में बडी लोकप्रिय थी।

हिंदवी भाषा के विकास में सूफी संतों ने विशेष योगदान दिया, जिनमें ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती, ख्वाजा बख्तियार काकी, हजरत फरीदउद्दीन गज शकर, हजरत निजामुद्दीन औलिया का नाम उल्लेखनीय है।[4] इन सूफी संतों ने 'हिंदवी' का प्रयोग कर उसे प्रगति के पथ पर अग्रसर किया।[5]

उर्दू गद्य-लेखन का विकास भी सूफी संतों ने किया।[6] कतिपय विद्वानों ने शेख ऐनुद्दीन गजुल इस्लाम को उर्दू गद्य का प्रथम लेखक माना है, किंतु इनकी रचना अप्राप्य है।[7] कुछ विद्वान ख्वाजा मोहम्मद गेसूदराज को उर्दू गद्य का जन्मदाता और उनके द्वारा रचित मेराज-उल-आशिकीन ग्रंथ उर्दू गद्य की प्रथम कृति मानते हैं।[8] आगे चलकर उर्दू गद्य (नस्र) के विकास में शाह मीरान

और आपको हिंदवी मे उत्तर दे सकता हूँ।' मेरे अंदर मिस्री शकर नही है कि मैं अरबी मे बात करूं—

तुर्क हिंदुस्तानम मन हिंदवी गोयम जवाब,
शक्करे मिस्री नदारम कज अरब गोयम सुखन।

उसी ग्रंथ मे आगे कहा है कि 'मैं भारतीय तोता हूँ, मुझसे कुछ हिंदवी में पूछो जिससे मै भली भांति बात कर सकूं'—

चू मन तूतिए हिंदम अर रास्त पुरसी,
जे मन हिंदवी पुर्स ते नग्ज गुयम।

1 "बाला था जब सब को भाया, बडा हुआ कुछ काम न आया।
खुसरो कह दिया का उसका नाव, बूझ नहं तो छोडो गाव।।"

2. "गोरी सोये सेज पर, मुख पर डारे केस,
चल खुसरो घर आपने, रैन भयी चहुँ देस।।"

3 डा० राफिया सुल्ताना, उर्दू नस्रका आगाज और इरतका, पृ० 47।

4 वही पृ० 23 तथा एस० के० चटर्जी कृत दि ओरिजिन एंड डेवलपमेंट आफ दि बगाली लैंग्वेज, पृ० 12।

5 शाह बु-अली कलंदर का एक दोहा इस प्रकार है—
"सजन सकारे जायेंगे, और नैन मरैंगे रोई।
बिधना ऐसी कीजियो, कि भोर कबहु न होई।।"

6. डॉ० शुजाअत अली संदीवली, तआरफ तारीखे जबान उर्दू।

7. रघुपति सहायक फिराक, उर्दू भाषा और साहित्य।

8 डॉ० अब्दुल हक, उर्दू की इब्तेदाई नशो व नुमा, पृ० 16।

बीजापुरी ने **शाहे मरगूबुल कुलुब**, शेख बुरहानउद्दीन ने **जलतरंग** और मौलाना वजही ने **सबरस** लिखकर उल्लेखनीय योगदान दिया। भक्ति-आंदोलन के संतों ने भी लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए 'संस्कीरत है कूप जल भाषा बहता नीर' का सिद्धांत अपना कर जन भाषा के माध्यम बनाया।[1] उन्होंने अपने दोहों में अरबी, फारसी और उर्दू का खूब प्रयोग किया है।[2] नानक ने भी अपने उपदेशों को जनप्रिय बनाने के लिए उर्दू के शब्दों का प्रयोग किया है।[3] दिल्ली सल्तनत के राज्य-विस्तार से उर्दू का क्षेत्र भी विस्तृत हो गया।

तेरहवीं शताब्दी के प्रथम दशक में **पृथ्वीराज रासो** की रचना (चंदवरदाई द्वारा) हुई। इस समय साहित्यिक गतिविधियों का प्रमुख केंद्र राजस्थान था इसलिए तात्कालिक साहित्य भाट-चारणों के गीतों के रूप में मुख्यत मिलता है। यह रूप डिंगल कहलाता है जैन लेखकों ने अपभ्रंश में ग्रंथ लिखे जो प्राचीन हिंदी से मेल खाते हैं। नरपति नाल्ह आदिकाल के कवियों में से थे, उनका शास्त्री काव्य ग्रंथ **बीसलदेवरासो** तेरहवीं शताब्दी के अंत अथवा चौदहवीं शताब्दी के प्रारंभ में रचा गया। अमीर खुसरो (1253-1326 ई०) भी हिंदी का प्रमुख कवि था।

यद्यपि सल्तनत काल में हिंदी का विकास हो रहा था किंतु वह अभी साहित्यिक भाषा नहीं बन पायी थी। उसे राज्य की ओर से कोई सहायता या समर्थन नहीं प्राप्त था, फिर भी वह देश के जन-मानस की भाषा बनती जा रही थी। भक्ति आंदोलन के अनेक संत उसका प्रचार एवं प्रसार कर रहे थे। सूफी संतों ने भी इसी भाषा के माध्यम से अपने उपदेश दिये। बारहवीं शताब्दी में दामोदर पंडित ने **उक्ति-व्यक्ति प्रकरण** नामक अवधी ग्रंथ लिखा। बंदानवाज गेसूदराज (1321-1432 ई०) नामक सूफी संत ने हिंदी उर्दू मिश्रित भाषा में **मीरत-उल-अशिकीन** नामक ग्रंथ की रचना की। 1370 ई० में मौलाना दाउद ने **चंदायन** नामक अवधी ग्रंथ की रचना की। यह एक प्रेम गाथा है। इसके बाद

1. यूसुफ हुसेन, वही, पृ० 108।
2. "कबीर शरीर सराय है क्यों सोवै सुख चैन।
   कूच नकार सास का बाजत है दिन रैन॥"
   तथा "हमन है इश्क मस्ताना हमन को होश्यारी क्या,
   रहे आजाद या जग में हमन दुनिया से यारी क्या।
   जो बिछडे है पियारे से भटकते दर बदर फिरते,
   हमारा यार है हममें हमन को इंतजारी क्या॥"
3. "सास सास सब जीव तुम्हारा, तू है खसरा पियारा।
   नानक शायर यू कहत है, सच्चे परवरदिगारा॥"

कुतबन ने **मृगावती** नामक अवधी काव्य ग्रंथ की रचना की। यह एक राजपूती प्रेम गाथा है। मझन ने 1532 ई० में **मधुमालती** नामक श्रेष्ठ काव्य ग्रंथ की रचना की। 1540 ई० में मलिक मुहम्मद जायसी ने **पद्मावत** नामक विशुद्ध शास्त्रीय ग्रंथ की रचना की, जिसमें लौकिक प्रेम के द्वारा आध्यात्मिक तत्वों की विवेचना की गयी है। इसमें कल्पना और इतिहास का सुंदर सम्मिश्रण दर्शनीय है यह सूफी मसनवी ढग पर लिखा गया है। इसके बाद उस्मान ने **चित्रावली** और नूर मुहम्मद ने **इंद्रावती** की रचना की।

संस्कृत साहित्य

सल्तनत काल में राज्य की ओर से सस्कृत साहित्य को तनिक भी प्रोत्साहन नही मिला। सस्कृत का कोई विद्वान् या कवि ऐसा नही था, जो दरबार से सबधित हो। हा सल्तनत काल के अतिम चरण मे सुल्तानो ने सस्कृत के कुछ बडे ही उपयोगी ग्रंथो का फारसी मे अनुवाद कराया किंतु यह भी सस्कृत को प्रोत्साहन देने के लिए नही किया गया था, वरन् केवल ज्ञानार्जन के लिए किया गया था। मुस्लिम शासकों का सरक्षण न मिलने पर भी सस्कृत साहित्य मे कुछ रचनाएँ हुईं। इस काल मे जो संस्कृत रचनाएँ तैयार हुईं वे लगभग सभी विजय-नगर, वारगल और गुजरात के हिंदू राजाओ के सरक्षण मे रचित हुईं। इसके अतिरिक्त कुछ रचनाएँ भक्ति-आदोलन के सतों (विशेषकर दक्षिण भारत के) के प्रोत्साहन से रची गयी।

सल्तनत काल मे काव्य, नाटक, चपू, दर्शन, नाट्य शास्त्र और भाष्य आदि से संबंधित कुछ ग्रंथों की रचना हुई। मल्लाचार्य (साकल्पामल) ने **उदार राघव** नामक ग्रथ की रचना (1330 ई०) की। इसमे रामचरित का अलंकृत शैली मे वर्णन है। वारंगल नरेश प्रताप रुद्रदेव के सरक्षण मे अगस्त्य नामक कवि ने **महाभारत** के आधार पर अनेक काव्य ग्रथ लिखे। विद्या चक्रवर्तिन ने **रुक्मिणी कल्याण** नामक काव्य ग्रथ की रचना की, जिसमे भगवान श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के विवाह का बडा ही हृदयग्राही वर्णन है। 15वी शताब्दी मे वामन वाण भट्ट ने **नल अभ्युदय** एवं **रघुनाथ चरित्र** नामक ग्रथों की रचना की। इसके अतिरिक्त विद्यापति, विद्यारण्य लोलिंबराज और वासुदेव ने अनेक काव्य कृतियो की रचना की। ऐतिहासिक काव्य ग्रथों में जोनराज और श्रीवर (शिष्य) कृत **द्वितीय राजतरंगिणी** और **तृतीय राजतरंगिणी**, **प्रज्ञाभट्ट** और सुककृत **राजवली पताका**, न्याय चंद्र कृत **हम्मीर काव्य**, सोमचरित गुणी कृत **गुरुगुण रत्नाकर**, पट्टू भट्ट कृत **प्रसंग रत्नावली**, विद्यारण्य कृत **राजकला निर्णय** तथा राजनाथ कृत **सालुव अभ्युदय** सल्तनत काल की बहुचर्चित रचनाओं में से हैं। नीतिशास्त्र, नाट्यशास्त्र,

अर्ध ऐतिहासिक नाटक एव कामशास्त्र पर भी अनेक ग्रंथ रचे गये। संकलित ग्रंथ भी बहुसख्या मे लिखे गये।

सल्तनत काल मे काव्यग्रंथ बहुसख्या में लिखे गये किंतु गद्य लेखन कार्य की प्रगति अवरुद्ध नही हुई। इन क्षेत्र में **वेताल पचविंशति**, **भारत कार्द्वात्रिंसिक**, **कथार्णव**, **पुरुषपरीक्षा** तथा **भू-परिक्रमा** नामक कथा-साहित्य के ग्रथो का सृजन हुआ।

तुगलक साम्राज्य के पतनोपरात प्रातीय मुस्लिम राजवशों का उदय हुआ किंतु उनके शासको ने भी दिल्ली के सुल्तानो की ही तरह सस्कृत को प्रोत्साहन नही दिया। किंतु दक्षिणी भारत मे कुछ ऐसे प्रख्यात लेखक हुए जिन्होंने सकृत साहित्य की अभिवृद्धि की। इन विद्वानो में सायण, मल्लिनाथ एवं कात्यायन की गणना होती है। ये सभी भाष्यकार थे, जो सस्कृत में भाष्य साहित्य के चमकते हुए सितारे हैं। दक्षिण भारत मे प्रबध काव्य और सदेश काव्य, धर्मशास्त्र पर भी ग्रथ लिखे गये। इस काल में वल्लभ वेदात साहित्य की अभिवृद्धि हो रही थी। इसके अतिरिक्त व्याकरण, पिंगल तथा सगीत के क्षेत्र मे भी साहित्य की रचना हुई।

स्थापत्य कला

"तुर्कों की भारत-विजय के समय मध्य एशिया की अनेक जातियो ने स्थापत्य कला की एक ऐसी शैली विकसित कर ली थी जो एक ओर ट्रास-आक्सियाना, ईरान, ईराक, अफगानिस्तान, मिस्र, उत्तरी अफ्रीका और दक्षिणी पश्चिमी योरोप की स्थानीय शैलियो तथा दूसरी ओर अरब की मुस्लिम शैली के के समन्वय से निर्मित हुई थी। ईरान स्थापत्य कला के कुछ मौलिक विशेषताओ जैसे नोकदार तिपतिया महराब और महराबी डाटदार छतें, इमारतों की अठ-पहला रूपरेखा, गुबद आदि का जन्म वैसे तो भारत मे हुआ किंतु उसका पूर्ण विकास ईरान मे हुआ।"[1] इस प्रकार मध्य एशिया की इस मिली जुली शैली के विकास में भारत का भी योगदान रहा। अत बारहवी शताब्दी मे तुर्क लोग भारत में जो स्थापत्य कला लाये, वह पूर्णत' मुस्लिम और अरबी न थी। इस विदेशी स्थापत्य कला की चार प्रमुख विशेषताएं थी—गुबद, उत्तु ग मीनारें, महराब और महराबी डाटदार छतें। इसके विपरीत तुर्कों ने भारत में एक बहुत ही विकसित स्थापत्य कला के दर्शन किये, जो धन्नी-टोड़ा (बीम-ब्रेकेट) के

---

1 डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव कृत मध्यकालीन भारत पृ० 128।

द्रष्टव्य अर्थर उफम पोप कृत 'सम इंटर रिलेशंस बिटविन पर्सियन एड इंडियन आर्किटेक्चर, इडियन आर्ट एंड लेटर्स, जिल्द 9 (1935 ई०) तथा देहली सल्टेनेट पृ० 661।

आधार पर निर्मित थी और उनकी प्रमुख विशेषताएं ये थी—1. पटी हुई छतें, 2. कदलिका टोडा (कार्बेल ब्रेकेट), 3 शिखर, 4. घोडियों पर आधारित मेहराब, 5 गुफाएं, 6 गोल ओर चौकोर स्तभ । किंतु विजेता मुसलमानो ने विचार रूपरेखा शैली के अनुरूप भवन बनाये, किंतु मध्य एशिया के भवनों के हूबहू नमूने वे यहा नही निर्मित कर सके क्योंकि उनके पास विदेशी स्थापतियों का अभाव था। अत उन्हे कुशल भारतीय कलाकारों (स्थापतियो) से भवन निर्माण कार्य करवाना पडा । इन कलाकारो ने मुसलमानी इमारतों की सजावट एव बनावट में अपनी परंपरागत शैली, प्राचीन आदर्श एव धारणाओ की छाप लगा दी । दूसरे मुसलमान शासको ने अनेक मंदिरो को गिरवा कर उनकी सामग्री को अपनी मस्जिदों, मकबरों और भवनों मे प्रयुक्त किया । इस प्रकार हिंदू और मुस्लिम शैलियों में विभिन्नता होते हुए भी उनमे सामजस्य स्थापित हो गया । स्थापत्य कला के क्षेत्र मे यह एक प्रकार का समझौता था । सर जॉन मार्शल के अनुसार "हिंदू मदिर और मुस्लिम मस्जिद की एक मिलती-जुलती बात यह थी कि दोनो ही में एक खुला आगन होता था, जिसमें चारो ओर खभेदार कमरे होते थे । इस योजना पर निर्मित मंदिरो को आसानी से मस्जिदों के रूप में परिवर्तित किया जा सकता था । इसलिए विजेता ने सर्वप्रथम उनका इसी कार्य के लिए उपयोग किया । और आधारभूत विशेषता, जिसने दोनों शैलियो के बीच कडी का कार्य किया, वह यह थी कि हिंदू और इस्लामी दोनो ही कलाए सजावट मे प्रधान थी ।[1] इन्ही कारणो से स्थानीय हिंदू कला मुस्लिम स्थापत्य कला की शैली को प्रभावित करती रही ।[2] दिल्ली के सुल्तानों ने आगे चल कर हिंदू स्थापत्य कला की दो विशेष बातो, भवनों की दृढता और सुंदरता को अपना लिया । इस प्रकार हिंदू और मुस्लिम दोनो की कला शैलियो के समन्वय से एक नयी कला शैली का जन्म हुआ जिसे 'इडोइस्लामिक कला' कहा जा सकता है । इडोइस्लामिक स्थापत्य कला को साधारणतया दो कालों में विभक्त किया जा सकता है । प्रथम दिल्ली सल्तनतकाल (1206-1526) और दूसरा मुगलकाल (1526-1803) । सल्तनतकाल में दो प्रकार की इमारतें मिलती हैं यथा दिल्ली शैली और प्रातीय शैली (जिसे प्रांतीय राजवंशों ने अपनाया) ।

दिल्ली शैली

प्रारंभिक सुलतानो की स्थापत्य कला (1206-90 ई०)

यह काल मध्यकालीन स्थापत्य कला का उषाकाल था, जिसके अंतर्गत अनेक इमारतों का निर्माण हुआ—

1 सर जॉन मार्शल, कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, 3, 571-3 ।

2. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, भारतीय संस्कृति का इतिहास, पृ० 129 ।

दिल्ली के किला-ए-राय पिथौरा के निकटस्थ 'कुव्वत-उल-इस्लाम' नामक मस्जिद[1] कुतुबुद्दीन ऐबक (1206-10) द्वारा निर्मित प्रथम कलाकृति है, जिसे उसने अपनी विजयश्री की स्मृति मे दिल्ली में निर्मित कराया था। इसका निर्माण हिंदू मंदिर के चबूतरे पर हिंदू और जैन मदिरो के विध्वस्त सामग्री (मदिर के स्तंभ, तोरण और छत) से हुआ है। इस मदिर मे स्तभयुक्त बरामदो से घिरा हुआ एक आयताकार आगन है। इसके पश्चिमी भाग में इबादतखाना और शेष तीन ओर प्रवेश द्वार थे।[2] इस इमारत का विशिष्ट अग मुस्लिम शैली की महराबयुक्त पर्दा जैसी दीवार है, जो सज्जायुक्त है और कुरान की आयतें अंकित हैं। इसके स्तभ, द्वार और महराब और अदर की छतो मे सुंदर पच्चीकारी है। इसके बाद सुल्तानो ने इसमे कुछ भाग जोडे और परिवर्तन भी किये। उदाहरणार्थ इल्तुतमिश ने मस्जिद के आगन को बडा किया और अलाउद्दीन ने इसके इबादतखाना को और विस्तृत किया तथा पूर्वोत्तर की चहारदीवारी बढवा दी।

कुतुबमीनार[3] दिल्ली के निकटस्थ है। इसके निर्माण का श्रीगणेश कुतुबुद्दीन ने कराया था और इसे इल्तुतमिश ने पूरा किया। प्रसिद्ध सूफी सत ख्वाजा कुतुबुद्दीन के नाम पर इसका नामकरण 'कुतुबमीनार' किया गया। इसका निर्माण मुअज्जिन को आजान देने के लिए किया गया था, जो उस पर चढ कर नमाज के लिए आजान दिया करता था। इसकी ऊचाई 242 फुट है और नीचे से ऊपर की ओर पतली होती चली गयी है। ये गोलाकार तथा पचमंजिला मीनार है। इसके बाह्य भाग पर अरबी और फारसी के लेख अंकित है।

कुतुबमीनार पर अकित देवनागरी अभिलेखों के आधार पर कुतुबमीनार के मौलिक निर्माण मे हिंदू सस्कृति का योगदान है। कुछ लोगो का मत है कि मुसलमानों ने इसे पुन गढा था। सभव है कि जिन पत्थरो पर ये अभिलेख अकित हों वे हिंदू इमारतो के हों। सर जॉन मार्शल[4] ने उसे पूर्णरूपेण इस्लामिक माना है।

कुतुबुद्दीन ऐबक ने अजमेर मे अढाई दिन का झोपडा का निर्माण कराया था। मूलरूप से यह सम्राट् विग्रहराज बीसलदेव द्वारा निर्मित एक मंदिर था,[4] जिसके ऊपरी भाग को कुतुबुद्दीन ने गिरवा कर गुबद और मेहराबें निर्मित करवाई। इसकी रचना कुव्वत-उल-इस्लाम की शैली पर हुई है। किंतु यह

---

1 रमेशचंद्र मजुमदार द्वारा संपादित दि डेलही सल्टेटेनेट 665 में एस के सरस्वती का लेख।

2. पर्सी ब्राउन, इंडियन आर्किटेक्चर (इस्लामिक पीरियड)।

3. मार्शल, वही।

4. इस इमारत के हिंदू इमारत होने की बात स्तंभो पर उत्कीर्ण मानवाकृतियो से सिद्ध है जो बाद को तोड़ी और मिटाई गई है।

अधिक विशाल, सुंदर और सुनियोजित है। इसके आगन के चारों ओर स्तम्भयुक्त बरामदा है।

सुल्तान गढ़ी—कुतुब मीनार से तीन मील की दूरी पर मलकापुर नामक स्थान में निर्मित है। यह इल्तुतमिश के ज्येष्ठ पुत्र नासिरुद्दीन महमूद का मकबरा है, जिसे स्वयं इल्तुतमिश ने निर्मित कराया था। इस के बीच का कक्ष अठपहला है और चारो कोनो पर बुर्जिया निर्मित हैं। "यह इमारत लगभग पूर्णतया हिंदू है और इसके स्तभो के शिरोभाग एवं ऊपरी भाग और अधिकाश सजावट की योजनाए शुद्ध हिंदू है। यद्यपि मेहराबे और गु बद इसकी बनावट मे प्रमुखता लिए हुए हैं किंतु वे इस काल की सभी अन्य मेहराबो और गु बदों की भाति हिंदू कदलिका (कारबेल) सिद्धात पर निर्मित किये गये है।"

इल्तुतमिश का मकबरा—दिल्ली मे कुतुब मस्जिद के उत्तरी भाग में जोडे हुए हिस्से के पीछे स्थित है। यह लाल पत्थर द्वारा निर्मित है और एक ही कक्ष का है। इसके तीन ओर मेहराबयुक्त प्रवेश द्वार है और पश्चिम मे एक मेहराब है जिसके दोनो पार्श्वों मे मेहराबयुक्त द्वार है। इसकी दीवारों के भीतर की ओर कुरान के अभिलेख और ज्यामिति की आकृतियो के अलंकरण है।

जामा मस्जिद—बदायू में स्थित है। सुल्तान इल्तुतमिश ने इसका निर्माण कराया था। आगे चल कर मोहम्मद तुगलक ने इसका जीर्णोद्धार कराया। बदायू मे ही हौज-ए-शम्सी तथा शम्सी ईदगाह का निर्माण भी इसी सुल्तान ने कराया था।

अतारकिन का दरवाजा—नागौर, राजस्थान (पहले जोधपुर राज्य) में स्थित है। इसका निर्माण भी सुल्तान इल्तुतमिश ने कराया था और स्वयं इसका नामकरण भी किया था।

सुल्तन बलबन का मकबरा—दिल्ली के किला-ए-रायपिथौरा के दक्षिण में स्थित है। इसके मकबरे का कक्ष वर्गाकार है, जिसके चारो ओर प्रवेश द्वार है। इसके पूर्व और पश्चिम मे छोटे-छोटे कक्ष है। इस इमारत के महराब-दीवारो के दोनो सिरो से एक के ऊपर एक पत्थर रख कर और इनमें से प्रत्येक को थोडा आगे निकाल कर बनाये गये है।

खिलजी काल (1290-1320 ई०) की स्थापत्य कला में हिन्द-इस्लामी शैली के एक नवीन अध्याय का शुभारंभ हुआ।[1] अलाउद्दीन खिलजी महत्त्वाकांक्षी था। वह कुतुब मीनार के आसपास एक मस्जिद और एक ऊंची मीनार का निर्माण करवाना चाहता था, किंतु उसकी मृत्यु के कारण उसका स्वप्न साकार न हो सका। फिर भी उसके काल में जो भी इमारतें बनी, उनमें सुंदरता,

1. देखिए डॉ० के० एस० लाल, हिस्ट्री आफ दि खिल्जीज, पृ० 872।

सुडौलता एव अनुरूपता थी, साथ ही उन पर भारतीयता की छाप लगी थी और उनमे मुस्लिम आदर्श अधिक उन्नतिशील थे ।

अलाई दरवाजा

कुतुब मीनार के निकटस्थ था । यह लाल पत्थर और सगमरमर द्वारा निर्मित किया गया । यह एक वर्गाकार विशाल कक्ष है, जिसके ऊपर एक गुबद है । इसके चारो ओर दीवारों में एक महराब युक्त दरवाजा है । इस पर कुरान की आयतें अंकित हैं । अलकरण का बाहुल्य है । इसकी योजना एवं रचना बडी कलात्मक है । भारत के इस्लामी स्थापत्य कला के विकास मे इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है ।[1] यह दो श्रेष्ठ शैलियो के समन्वय का नमूना है । अलाउद्दीन ने शेख निजामुद्दीन औलिया के दरगाह के अहाते मे 'जमात खाना मस्जिद' का निर्माण कराया । यह लाल पत्थरो द्वारा निर्मित है । इसके निर्माण की रूपरेखा एव शैली 'अलाई दरवाजा' से मेल खाती है । इसमे मुस्लिम स्थापत्य कला के तत्वों की प्रमुखता है । भारत मे पूर्णरूपेण मुसलमानी आदर्श पर निर्मित मस्जिदो मे यह प्रथम है ।[2] इसकी निर्माण योजना आयताकार है । अर्द्धवृत्तीय मेहराब बडे सुदर है । अलाउद्दीन ने दिल्ली के निकटस्थ सीरी नामक एक नगर बसाया और वही 'हजार सितून' (सहस्र स्तभोवाला) नामक महल का निर्माण कराया । यह महल अब पूर्णत नष्ट हो गया और सीरी नगर भी भग्नावस्था मे है । अलाउद्दीन ने सीरी नगर के पश्चिमी कोने पर होज-ए-अलाई नामक एक विशाल तालाब का निर्माण कराया । यह तालाब लगभग 700 एकड़ के विशाल क्षेत्र में विस्तृत था । अलाउद्दीन के उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन मुबारकशाह खिलजी ने बसाना (राजस्थान) मे ऊखा मस्जिद का निर्माण कराया था । यह मस्जिद दिल्ली की प्रातीय शैली में निर्मित है और इसे स्थानीय कारीगरो ने ही बनाया है । यह मस्जिद अलाउद्दीन खिलजी-कालीन उत्कृष्ट शैली का पतनोन्मुख रूप है ।

तुगलक-काल (1320-1413) की स्थापत्य कला की शैली खिलजी स्थापत्य शैली से भिन्न थी । स्थापत्य के अलकरण और विलासितापूर्ण वैभव का स्थान तुगलककाल मे इस्लामी सादगी और गभीरता ने लिया । इस काल में फीरोजशाह तुगलक ने भवन निर्माण के लिए एक अलग विभाग की स्थापना की । तुगलकाबाद, जो दिल्ली के सात नगरों में एक था बसाया गया और इसे सुरक्षित रखने के लिए उसने एक किला निर्मित कराया । अब इनके खडहर मात्र शेष हैं । सर जॉन मार्शल का मत है कि सभवत उक्त नगर और महल बहुत मामूली सामग्री से बहुत जल्दी मे बनाये गये, जिसके कारण वे अधिक समय तक

1. पर्सी ब्राउन, वही, पृ० 16 ।
2. वही, पृ० 19 ।

चल न सके । इस किले में तेरह द्वार और सात तालाबों की योजना है । किले के दक्षिण पश्चिम में एक महल (सभवत राम भवन) निर्मित था । इस महल के संबध में इब्नबतूता लिखता है कि "सूर्योदय के समय यह तेजी से चमकता था और इस पर किसी की दृष्टि नही टिकती थी ।"

तुगलकाबाद किला के बाहर उत्तरी भाग में गियासुद्दीन तुगलक का मकबरा स्थित है । यह मकबरा पचभुजीय छोटी सी गढ़ी के समान है । यह लाल पत्थर द्वारा निर्मित है । इसकी महराबो पर सगमरमर की पट्टिया जडी है । इसके प्रत्येक कोने पर एक बुर्ज है । इसकी दीवारें ढलुआ है और स्तभ चौकोर है । मार्शल का मत है कि 'तुगलक वश को स्थापित करने वाले दुर्द्धर्ष योद्धा के लिए इससे अधिक उपयुक्त और कोई विश्राम स्थल नही हो सकता ।' मुहम्मद तुगलक ने तुगलकाबाद नगर के निकट (उत्तरपूर्व) आदिलाबाद नामक एक किला का निर्माण कराया । साधारण सामग्री से बनने के कारण वह लगभग नष्ट हो चुका है । मोहम्मद तुगलक ने जहापनाह नामक एक नगर की स्थापना की थी । इसे चौथी दिल्ली कहा जा सकता है । यह नगर राय-ए-पिथौरा और सीरी के मध्य स्थित था । सुल्तान ने जहांपनाह मे सतपुला नामक एक दोमजिला पुल का निर्माण कराया था । इस पुल मे सात महराबें थी, सभवत इसीलिए इसे सतपुला कहा गया है । इसके निर्माण का लक्ष्य एक कृत्रिम झील मे पानी पहुँचाना था ।

सुल्तान फीरोजशाह ने फीरोजाबाद नामक पाचवी दिल्ली बसायी थी और उसमे एक महल की स्थापना की थी । उस महल का नामकरण 'कोटला फीरोजाबाद' किया गया । यह महल गिर चुका है । केवल इसका एक द्वार शेष है जिससे महल की स्थापत्य कला का आभास मिलता है । फीरोजशाह तुगलक ने मृगया एवं मनोरजन के उद्देश्य से दिल्ली से दूर 'कुश्क-ए-शिकार' नामक एक दुमजिले महल का निर्माण कराया था । फीरोजशाह तुगलक ने हौज खास के किनारे एक शानदार मदरसा का निर्माण कराया था । यह सुन्दर इमारत दुमजिली थी । यह अलाउद्दीन खिलजी के एक भवन के ध्वसावशेषों पर निर्मित था । यह झील के दक्षिणी और पूर्वी किनारे तक विस्तृत था । फीरोजशाह का मकबरा प्राचीरों से आवेष्ठित वर्गाकार इमारत है, जिसके ऊपर केवल एक ही गुम्बद है, जो अठपहला इमारती ढोल पर आधारित है । इसमें सगमरमर का सुंदर प्रयोग हुआ है । यह हिंदू-मुस्लिम शैली का विकसित रूप है ।

खान-ए-जहा वे जगानी का मकबरा निजामुद्दीन औलिया की दरगाह के दक्षिण में स्थित है और तुगलक काल की एक महत्त्वपूर्ण इमारत है । इसे उसके पुत्र खान-ए-जहा जौनाशाह ने निर्मित कराया था । इसकी योजना अष्टभुजीय

थी। इसके ऊपर एक गुम्बद था। इसके चारों ओर नीचा महराबदार बरामदा था। फीरोजशाह तुगलक के शासनकाल मे काली मस्जिद का निर्माण हुआ था। यह दुमंजिला थी। इसमे अर्द्धवृत्तीय महराबे थी। यह मस्जिद तात्कालिक स्थापत्य कला का उत्कृष्ट आदर्श प्रस्तुत करती है। खिर्की मस्जिद और बेगमपुरी मस्जिदें जहापनाह नामक नगर मे स्थित थी। इन मस्जिदों मे प्रभावशाली गुबद और महराब है। खिर्की मस्जिद वर्गाकार है और इसके चारो कोनो पर बुर्ज निर्मित हैं। बेगमपुरी मस्जिद मे सगमरमर प्रयुक्त है। कला मस्जिद विशाल एव सुदृढ़ है और यह मस्जिद शाहजहानाबाद में स्थित है। इसके छत पर अनेक गुबद है और इसके चारो कोनो पर विशाल बुर्ज निर्मित है।

कबीरुद्दीन औलिया का मकबरा लाल गुबद के नाम से विख्यात है। यह नासिरुद्दीन महमूदशाह (1383-92 ई०) के काल मे बना। यह मकबरा गियासुद्दीन तुगलक के मकबरा की प्रतिकृति है। इसमें सगमरमर का प्रयोग है। इसमे खिलजी काल की अधिक सुदर शैली पुन उभरी है।

सैयद और लोदीकालीन स्थापत्यकला

तैमूर लग के आक्रमण से दिल्ली सल्तनत जर्जर हो गयी। सुल्तान निर्धन एव असहाय हो गये। अत 1414 ई० से 1526 ई० तक कोई महत्त्वपूर्ण निर्माण कार्य न हो सका। आगे चल कर सैयद और लोदी शासको की स्थापत्य कला की ओर कोई विशेष रुचि न थी। फिर सैयद शासको की अपेक्षा लोदी शासको के काल मे अधिक निर्माण कार्य हुए। यह काल मकबरो का काल था। दोनो वश के शासको द्वारा बनायी गयी इमारतो मे प्रमुख निम्नोक्त है।

मुबारक शाह सैयद वश का दूसरा बादशाह था। मुबारक शाह सैयद मकबरा का आकार विशाल है। यह अष्टभुजीय है। इसकी छत पर एक विशाल गुबद ढोलाकार आधार पर है। ये केंद्रीय गुंबद के चारो ओर के अठपहलू भाग के प्रत्येक कोने पर एक-एक बनाए गये है और उनके ऊपर छोटे-छोटे गुबद हैं। मोहम्मदशाह सैयद के मकबरा का निर्माण अलाउद्दीन आलमशाह (1444-1451 ई०) ने करवाया था। इसकी योजना इसके सभी अगो की ओर सतोषजनक, सानुपातिक और अनुपम है। यह अष्टभुजीय आकार का है। छत के ऊपर एक ढोलाकार गुबद है, जिसके चारो ओर छतरिया निर्मित है।

सिकदर लोदी के मकबरा का नमूना मोहम्मद शाह सैयद के मकबरे के नमूने पर है। अतर केवल इतना है कि इसके केंद्रीय गुबद के चारों ओर छतरिया नही है। इसके चारो कोनो पर बुर्ज निर्मित है और छत पर दोहरे गुबद का प्रयोग है। इसका प्रवेश द्वार दक्षिणी भाग के बीच मे है। वर्गाकार अष्ट-

भुजीय योजना के मकबरे प्रचुर संख्या में है। ये अधिकाश 15वी शताब्दी में निर्मित हुए। प्रत्येक मकबरे के ऊपर एक गुंबद है, जिसके आधार के चारों ओर कमल की पत्तियो की बेल निर्मित है। ये गुबद अठपहला ढोल पर निर्मित है और इनके चारो कोनों पर एक-एक छतरी स्तभयुक्त है। इन मकबरो मे दफनाये गये व्यक्तियो के नाम अज्ञात है। ये निम्नोक्त सात मकबरे गुबद सहित है—बडा खा का गुबद, छोटे खा का गुबद, बडा गुबद, शीश गुंबद, शहाबुद्दीन ताज खा का मकबरा, दादी का गुबद और पोली का गुंबद। इस काल में बनी हुई मस्जिदो मे मोठ की मस्जिद विशेष महत्त्व की है। 16वी शताब्दी मे सिकन्दर लोदी के वजीर ने इसका निर्माण कराया था। यह एक भव्य इमारत है। इसके अग्रभाग मे पाच महराबयुक्त प्रवेशद्वार है। बीचोबीच मे प्रवेश द्वार आगे की ओर उभरा हुआ है। इसकी मीनारें ऊपर की ओर पतली होती चली गयी है। गुबद देखने मे सुदर हैं। इसके कोनों पर दुमंजिले बुर्ज निर्मित है। सर जॉन मार्शल ने लोदी-स्थापत्य कला मे इसे सर्वश्रेष्ठ माना है। इसमे स्वतत्र कल्पना, डिजाइन की स्पष्ट विविधता, प्रकाश और रग का सुदर समन्वय है। इसीलिए इसे मुस्लिम कला की श्रेष्ठ कृतियो मे गिना जाता है।

प्रांतीय शैलियां

अरब आक्रमण के समय से लेकर 1457 ई० तक मुल्तान विदेशियो के हाथ मे रहा और 1457 ई० मे स्वतत्र हुआ। मोहम्मद-बिन कासिम ने 712 ई० मे मुल्तान मे एक मस्जिद का निर्माण कराया था। 985 ई० में कोर्मेमियनों ने एक सूर्य मदिर ध्वस्त करा कर उसके ऊपर एक मस्जिद का निर्माण कराया था, किंतु सभी इमारतो के ध्वंसावशेष है।

बगाल के स्थापत्य मे पत्थर का कम, ईंटों का अधिक प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त छोटे-छोटे स्तभो पर नुकीली महराबें, बास की इमारतो से ली गयी हिंदू मदिरो की लहरियादार कार्निसो की परपरागत शैली का मुसलमानी अनुकरण और कमल सरीखे सुंदर हिंदू सजावट के प्रतीक चिह्नो को अपना लिया गया है। इन इमारतो के ध्वंसावशेष गौर, लखनौती, त्रिवेनी और पडुआ में प्राप्त हुए है। बंगाली स्थापत्य कला शैली के सर्वप्रथम नमूने जफर खा गाजी का मकबरा और उसकी मस्जिद है, जो हिंदू मदिरों की सामग्री से बने हैं। विख्यात विशाल अदीना मस्जिद का निर्माण सिकंदर शाह ने पाडुआ में कराया था। यहा जलालुद्दीन मोहम्मदशाह का सुदर मकबरा है। बगाल की अन्य उल्लेखनीय इमारतों में लोटन मस्जिद, बडा सोना मस्जिद, छोटा सोना मस्जिद और कदम रसूल मस्जिद है। बगाली शैली का अपना एक विशेष पृथकत्व है, जो डिजाइन, आकार, सज्जा एवं सौंदर्य मे अधिकाश अन्य प्रातीय शैलियो से न्यून है।

जौनपुर पहले हिंदू राज्य की राजधानी थी। 1394 ई० मे यह स्वतंत्र हो गया किंतु सिकंदर लोदी ने इस पर अधिकार कर लिया। शर्की राज्य वंश के एक शताब्दी के शासनकाल में यहा मस्जिदे, मकबरे एव भवन आदि बने। जौनपुर का किला 1377 ई० मे निर्मित हुआ। इन इमारतो की विशेषता हिंदू मुस्लिम शैलियो का समन्वय हैं। जौनपुर के निम्नोक्त स्थापत्य के उदाहरण उल्लेखनीय हैं।

अटाला देवी मस्जिद शर्की शैली का सुदर नमूना है। यह पूर्व निर्मित अटाला देवी के हिंदू मंदिर के स्थान पर बनी, जिसमें एक खुला वर्गाकार सहन है। सहन के दक्षिण-पूर्व मे स्तंभयुक्त कक्ष हैं और पश्चिम मे इबादतखाना हैं। इसके तीन प्रवेश द्वार है और प्रत्येक द्वार के ऊपर एक गुबद हैं। दूसरी महत्त्वपूर्ण इमारत झझरी मस्जिद है। इसे इब्राहीम शर्की ने 1430 ई० मे निर्मित कराया। इसके भग्नावशेषो मे प्रवेश द्वार ही शेष हैं। यह मस्जिद अटाला देवी मस्जिद की अनुकृति है। जौनपुर की 'लाल दरवाजा मस्जिद' 15वी शताब्दी के मध्य निर्मित हुई। यद्यपि यह भी अटाला देवी की अनुकृति है, इसमे कुछ भिन्नता है। उदाहरणार्थ इसमे एक ही विशाल प्रवेश द्वार है, जिसकी ऊचाई उसके आकार की चौडाई की तुलना मे कम है। जौनपुर की सर्वाधिक उल्लेखनीय तथा विशाल इमारत वहा की जामी मस्जिद है, जिसे हुसेन शाह शर्की ने 1417 ई० मे निर्मित कराया था। कुछ अतर के साथ यह भी अटाला देवी की अनुकृति है। यह ऊचे चबूतरे पर निर्मित है। इसके कक्ष दुमजिले है।

मालवा की प्राचीन राजधानी धार मे दो उल्लेखनीय मस्जिदे है। इनमें प्रथम हिंदू मदिर से सलग्न सस्कृत पाठशाला की इमारत का परिवर्तित रूप है, जिसे अभी भी योगशाला कहते है। दूसरी मस्जिद भी हिंदू मदिरो की सामग्री से बनी है। दोनो मस्जिदो मे हिंदू प्रभाव झलकता है। मालवा के मुसलमान शासकों ने माडू को राजधानी बनाया। माडू के किले का निर्माण हुशंगशाह ने कराया था। इसके चारो ओर बुर्जयुक्त प्राचीरे थी, जिनमे महराबयुक्त प्रवेशद्वार थे। इन प्रवेशद्वारो में दरवाजा का विशेष स्थान है। किला के अदर की इमारतों मे जामी मस्जिद सर्वाधिक विशाल और शानदार है। माडू के अन्य उल्लेखनीय इमारतो मे हिडोला महल, जहाज महल, हुशगशाह का मकबरा, रूपमती तथा बाजबहादुर के महल है।

तुर्की विजेताओ ने गुजरात के कारीगरो से अनेक इमारतो का निर्माण कराया, जिनकी विशेषता उनपर काष्ठ सरीखी खुदाई, पत्थर पर जाली का काम एव सज्जा है। गुजरात की राजधानी अहमदाबाद की नीव अहमदशाह ने डाली थी। नगर में जो अनेक इमारतें बनाई गयी थो, उनमे हिंदू मंदिरो की सामग्री का

प्रयोग हुआ था । गुजराती शैली की सर्वोत्कृष्ट कृति वहां की जामा मस्जिद है, जिसे अहमदशाह ने निर्मित कराया था। वह ऊंचे चबूतरे पर बनी है। इसके आगन के चारों ओर चार मठ हैं । पर्सी ब्राउन के मतानुसार यह जामा मस्जिद "संपूर्ण देश में नही तो कम से कम पश्चिमी भारत में मस्जिद निर्माण कला का श्रेष्ठतम नमूना है ।" इसके विविध भाग, सुदर स्तभों की कतारें और सुंदर वीथिकाएं महत्त्वपूर्ण है । अहमदशाह का मकबरा जामा मस्जिद के पूर्व में एक अहाते में निर्मित है । यह वर्गाकार है । इसका प्रवेशद्वार दक्षिणी भाग में है । इसके ऊपर एक गुंबद है । गुजरात के अन्य भागो मे अनेक ऐतिहासिक इमारतें हैं । महमूद बेगडा (1458-1511 ई०) ने भवनों सहित तीन नगर बसाये थे । चपारन में एक जामा मस्जिद बनी थी, जो शिल्पकला की दृष्टि से गुजरात की सबसे सुदर है । गुजरात स्थापत्य कला शैली को अनेक कारणों से सुंदर माना गया है । गुजराती शैली को 'सर्वाधिक स्थानीय भारतीय शैली' माना गया है ।

मुसलमान सुल्तानो ने कश्मीर मे भी हिंदुओ की पुरानी परंपरागत पत्थर और काष्ठ की कला शैली ही अपनायी । फलस्वरूप हिंदू-मुस्लिम कला शैलियो का समन्वय हुआ । जैनुअल आबिदीन (1420-1470 ई०) के शासनकाल में कुछ इमारतो का निर्माण हुआ । श्रीनगर मे स्थित मदानी का मकबरा और उससे संलग्न मस्जिद स्थापत्य कला के सुदर नमूनो मे से है । 'बुतशिकन' सिकदर ने श्रीनगर की जामा मस्जिद का निर्माण कराया था । उसके बाद जैनुअल आबिदीन ने उसका विस्तार कराया । इसे पूर्व मुगल शैली का शिक्षाप्रद उदाहरण माना गया है । इमारती लकडी की निर्मित शाह हमदान द्वारा निर्मित मस्जिद कला की दृष्टि से उत्तम है ।

दक्षिण भारत के बहमनी सुल्तानो ने स्थापत्य कला के क्षेत्र मे एक नवीन शैली को जन्म दिया, जो भारतीय, तुर्की, मिस्री और ईरानी शैलियो का समन्वय थी । गुलबर्ग और बीदर की मस्जिदें इसी कला की शैली मे निर्मित है । किंतु बीजापुर मे सर्वोत्तम दक्षिणी कला शैली दृष्टिगोचर होती है । मोहम्मद आदिलशाह का मकबरा, जो गोल गुबद के नाम से विख्यात है, इसी शैली मे निर्मित है । इस पर तुर्की कला के आदर्शों का प्रभाव है । इसी प्रकार अन्य उल्लेखनीय इमारतों में गुलबर्ग की जामा मस्जिद, दौलताबाद की मीनार और बीदर का महमूद गावा का मदरसा है । बहमनी इमारतो पर हिंदू स्थापत्य की छाप स्पष्ट दृष्टिगत होती है। मार्शल के अनुसार "बहमनी कला में अपने विकास के प्रारंभिक चरणो में दक्षिणी स्थानीय कला को अपने अस्तित्व के लिए बड़ा कठोर संघर्ष करना पडा, किंतु 15वी शताब्दी के अत तक यह फिर उभरने लगी और इस प्रकार अंत में भारतीय प्रतिभा ने विदेशी प्रभावो को आत्मसात कर लिया।"

अध्याय दस

मुगलकालीन संस्कृति

सामाजिक स्थिति[1]

मुगलकालीन भारत का समाज जागीरदारी-समाज था, जिसका मुखिया सम्राट् होता था। दूसरे स्थान पर सरदार (मनसबदार) होते थे, जो राज्य मे बडे पदों पर नियुक्त थे। समाज मे किसी भी व्यक्ति का स्तर उसके मनसब के अनुसार आका जाता था। सरकारी अफसरो (मनसबदारो) को विशेष अधिकार प्राप्त थे, अत उनका जीवन स्तर ऊँचा था। ये लोग विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। सरदार वर्ग के नीचे मध्यम वर्ग के परिवार थे, जिनमे निम्न स्तर के सरकारी कर्मचारी और व्यापारी आदि सम्मिलित थे। निम्नवर्ण के लोग मजदूरी, किसानी और दुकानदारी करते थे। ये बहुधा आधे तन ढके, नगे पैर रहते थे और इन्हे भर पेट रोटी भी नही मिलती थी।

हिंदुओ और मुसलमानो का सामाजिक मेलजोल

मुसलमानी सामाजिक व्यवस्था से तात्कालिक भारतीय समाज प्रभावित हुआ। हिंदू जाति प्रथा के बधन कुछ शिथिल पडने लगे थे, क्योकि निम्न वर्ग और निम्न वर्ण के लोग इस्लाम धर्म के समता एव भ्रातृत्व के सिद्धातो की ओर आकृष्ट होने लगे थे। अत दो विभिन्न सस्कृतियो के पारस्परिक प्रभाव के परिणामस्वरूप एक नवीन सामाजिक इतिहास के अध्याय का श्रीगणेश हुआ। मुसलमानो की सख्या भारत मे बढने लगी थी। इस्लाम स्वीकार करने के बाद भी भारतीय लोगो ने अनेक पुराने रीतिरिवाजो को नही तोडा। इन लोगो ने अपने पडोसी हिंदुओ के साथ अपने सबध बनाये रखे और सुख-दुख के अवसरो पर एक दूसरे के सहायक होते थे। धीरे-धीरे बाहर से आये हुए मुसलमानों के वशज भी अपने को भारतीय कहने में गर्व का अनुभव करने लगे।[2] इस प्रकार

---

1 मुगलकालीन साहित्य से राजनैतिक इतिहास पर तो पर्याप्त प्रकाश पडता है किंतु सामाजिक जीवन पर अत्यल्प सामग्री उपलब्ध है। सामाजिक जीवन की सामग्री के लिए अबुल फजल कृत आइने अकबरी और सोलहवी शती मे आये विदेशी यात्रियो का विवरण विशेष महत्त्वपूर्ण है।

2 खुसरो ने नूह सिफर में लिखा है कि 'भारत मेरी जन्मभूमि है और भारत मेरा देश है।' आगे खुसरो ने गर्रे उल कमाल में लिखा है

'तुर्क हिंदुस्तानियम मन हिंदवी गोयम जवाब।'

हिंदु-मुस्लिम समाज की स्थापना होने लगी ।

हिंदू मुसलमानों का मेल-मिलाप अकबर के राज्य काल में अधिक बढ़ गया और फिर कभी कम नही हुआ । अकबर ने हिंदुओं के साथ सहिष्णुता की नीत अपनाई और राजपूत राजकुमारियों से विवाह किये । उसने जाति-पात, रूप-रंग और नस्ल के भेदभाव के बिना योग्य व्यक्तियो को उच्च प्रशासकीय पद दिये । उसकी प्रजा के साथ, विभिन्न धर्मावलबियों के साथ समान व्यवहार की नीति से मेल-मिलाप को अधिक प्रोत्साहन मिला । इस समय हिंदू और मुसलमान विद्यालयों मे एक साथ पढ सकते थे । हिंदू भी फारसी मे शिक्षा प्राप्त करते थे । अनेक मुसलमानो ने हिंदी और संस्कृत पढकर काव्य रचना और अनुवाद कार्य किया । इसके अतिरिक्त हिंदू और मुसलमानो ने अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए सम्मिलित माध्यम 'उदू' का विकास किया । इस प्रकार दोनो का सामाजिक सबध बढता रहा था । यहा तक कट्टर सुन्नी सम्राट् औरगजेब के काल में अलवल नामक एक मुसलमान कवि ने हिदी काव्य **पद्मावत** का बगला मे अनुवाद किया और वैष्णव विषयो पर अनेक कविताए लिखी । सैयद भाइयो मे से एक भाई अब्दुल हसन होली का त्यौहार मनाया करता था । कुछ मुसलमान हिंदू धर्म से प्रभावित हुए और कुछ हिंदू भी मुसलमान धर्म से प्रभावित हुए ।

वेष-भूषा

उच्च श्रेणी (अमीर वर्ग) के लोग अपने सिर पर कुलाह (लबी टोपी) धारण करते थे और कामदार (सोने-चादी से जडे हुए) बहुमूल्य वस्त्र पहनते थे । कमर के ऊपर कबा (एक लबा वस्त्र) धारण करते थे । वे सलवार और चूड़ीदार पायजामा पहनते थे ।[1] सामान्यत सभी लोग साफा बाधते थे । साधारणत हिंदू धोती और मुसलमान पायजामा पहनते थे । निम्न वर्ग के मुसलमान लुगी बाधते थे । कुछ लोग लंगोटा बाधते थे ।[2] उच्च वर्ग के हिंदू और मुसलमान एक से वस्त्र पहनते थे । हिंदू अपने अगरखे के बद बाई ओर और मुसलमान दाई ओर लगाते थे । हिंदू स्त्रिया साडी और अगिया पहनती थी तथा मुसलमान स्त्रिया पायजामा, घाघरा, जाकेट और दुपट्टा पहनती थी । स्त्रिया हाथों, पैरों और नखो को रगने के लिए मेंहदी का प्रयोग करती थी । गरीब सादे वस्त्रों से किसी प्रकार तन ढकते थे ।[3]

---

1 ब्लाक मैन द्वारा अनूदित तथा अबुल फजल कृत आइन-ए-अकबरी, पृ० 95 ।

2. ए० एस० बेवरिज द्वारा अनूदित तथा बाबर कृत तजुक-ए-बाबरी, पृ० 519 ।

3. डॉ० के० एम० अशरफ, लाइफ एंड कंडीशन आफ दि पीपुल आफ हिंदुस्तान, पृ० 175 ।

मुगल बादशाह सजधज की वेश-भूषा धारण करते थे। हुमायूं वेश-भूषा में विशेष रूचि रखता था और विभिन्न प्रकार की पोशाकें पहनता था, जिसमें उलबग्चा (वास्कट) उल्लेखनीय है।[1] इतिहासकार बदायूनी के अनुसार हुमायूं और अकबर नक्षत्र के अनुसार वस्त्र धारण करते थे।[2] मासरेट के अनुसार अकबर बादशाह रेशम के कपडो पर सोने के सुदर काम किये हुए वस्त्रो को धारण करता था।[3] कभी-कभी बादशाह धोती भी पहनता था। जहागीर और शाहजहा भी सुसज्जित वस्त्रो का प्रयोग करते थे किंतु औरंगजेब सादो वेशभूषा में रहता था।

आभूषण

स्त्रियो और पुरुषो को आभूषणो से विशेष प्रेम था। स्त्रिया सिर से लेकर पैर तक कई प्रकार के आभूषण पहनती थी।[4] आभूषणो में कर्णफूल, बाली, चपाकली, गुलूबद, बाजूबद, गजरा, कगन, चूडिया, बिछुआ, कडे, नाक में फूल, लौंग आदि प्रचलित थे। कई विद्वानो की धारणा है कि नाक के आभूषण मुसलमानों के आने के बाद ही पहने जाने लगे। अबुल फजल ने सैंतीस प्रकार के आभूषणो का उल्लेख किया है।[5] हिंदुओ की अपेक्षा मुसलमान आभूषण का कम प्रयोग करते थे। वे अधिकाशत गले मे तावीज पहनते थे। स्त्रिया हाथो पैरो मे महावर और आखो में सुरमा लगाती थी। चदन का भी लेप करती थी।

भोजन एव पेय

मुगलकालीन भारत मे हिंदू और मुसलमान लगभग एक सा भोजन करते थे। केवल मास का प्रयोग मुसलमान अधिक करते थे। हिंदुओ मे मास कम खाया जाता था। अधिकाश हिंदू शाकाहारी थे। हुमायू ने स्वयं कुछ समय के लिए मासाहार बद कर दिया था। अकबर ने रविवार के दिन पशुवध पर प्रतिबध लगा दिया था। शुक्रवार और रविवार को स्वय मास भक्षण बंद कर दिया

---

1 डॉ० बेनी प्रसाद द्वारा अनूदित तथा ख्वादमीर कृत कानून-ए-हुमायूनी, पृ० 60।

2. लोबी द्वारा अनूदित तथा बदायूनी कृत मुतखब-उत-तवारीख, जिल्द 2, पृ० 168।

3. होम लैड द्वारा अनूदित तथा मासरेट द्वारा लिखित दि कमेंटेरियस, पृ० 198।

4 डॉ० के० एम० अशरफ, वही पृ० 175।

5. डॉ० यूसूफ हुसेन, ग्लिपसेज आफ मिडीवल इंडियन कल्चर, पृ० 134।

था ।[1] जहागीर इन दो दिनों के अतिरिक्त बृहस्पतिवार को भी मास नही खाता था ।[2] अब्दुल कादिर बदायूनी के मतानुसार 'अकबर ने मास नहीं वरन लहसुन और प्याज खाना भी छोड दिया था ।[3] मुसलमान चपाती और रोगनी (घी लगा कर विशेष प्रकार से बनाई गयी रोटी) का प्रयोग करते थे । बगाल, गुजरात और दक्षिण में चावल का प्रयोग अधिक होता था । मुसलमानों के सामिष भोजन में *कबाब*, *कीमा*, *पुलाव*, *जुजबिरियान*, *मीठा हलुआ* तथा *फालूदा* सम्मिलित थे । मुसलमान लोग 'दस्तरखान' पर बैठ कर तश्तरियों में भोजन करते थे ।

हिंदुओं मे पजाब, राजपूताना और बगाल के लोग मांस खाते थे । किंतु साधारणतया रोटी, दाल, सब्जी का प्रयोग होता था । विशेष अवसरों पर पूडी कचौडी आदि का प्रयोग होता था । लोग खिचडी भी खाते थे । ये लोग अचार, खटाई और मसालो का सेवन भी शौक से करते थे । हिंदू लोग चूल्हे चौके[4] की पवित्रता पर विशेष ध्यान रखते थे और भोजन करते समय निम्न-जातीय अथवा अहिंदू उन्हे छू नही सकता था ।

धार्मिक दृष्टि से निषिद्ध होते हुए भी अधिकांश मुसलमान (विशेषतया उच्च श्रेणी के) मद्यपान करते थे । अगूर, ताड, खजूर और महुआ से शराब बनती थी । हिंदुओं मे राजपूत लोग ही ज्यादातर शराब पीते थे । सम्राट बाबर शराब को अर्क कहता था । अकबर ने मद्य-निषेध की नीति अपनायी थी किन्तु जहागीर खूब शराब पीता था ।[5] शाहजहा ने दक्षिण पर आक्रमण पर जाते समय शराब पीना छोड दिया था ।[6] औरगजेब ने मद्य-निषेध की नीति अपनायी थी ।[7]

अन्य नशीले पदार्थों में अफीम, पोस्त, भाग, गाजा, तम्बाकू का प्रयोग होता था । हुमायूँ की बहन गुलबदन ने स्वरचित ग्रथ **हुमायू नामा**[8] में लिखा है कि हुमायू काफी मात्रा में अफीम खाता था । अकबर पोस्त का सेवन करता था ।[9] हिंदू लोग प्राय भाग और गाजा का सेवन करते थे ।

---

1 ब्लाकमैन द्वारा अनूदित आइन-ए-अकबरी, पृ० 64 ।
2. रोजर्स द्वारा अनूदित तुजुक-ए-जहागीरी, पृ० 1, 185 ।
3 लीवी द्वारा अनूदित मु तखब-उत-तवारीख, पृष्ठ 2, 313 ।
4. अशरफ, वही, 182 ।
5. राजर्स द्वारा अनूदित तुजुक-ए-जहागीरी, 2, 35 ।
6. बनारसी प्रसाद सक्सेना, हिस्ट्री आफ शाहजहा आफ डेलही, 27 ।
7. हरविन द्वारा अनूदित तथा मनूची कृत स्टोरिया दो मोगोर, 2, पृ० 5 ।
8. बेवेरिज द्वारा अनूदित, हुमायू नामा, 131 और आगे ।
9. विंसेंट स्मिथ कृत अकबर दि ग्रेट मुगल, पृ० 336 ।

आमोद-प्रमोद

मुगलकाल मे सम्राट् से लेकर प्रजा तक मनोविनोद मे विशेष रुचि लेते थे। घर के अदर खेले जानेवाले खेलो मे शतरज, ताश, चौपड, पचीसी आदि प्रमुख थे। कहा जाता है कि भारत मे सर्वप्रथम ताश का प्रचार बाबर ने किया था[1] और अकबर ने 'ताश' के भी अनेक खेल प्रचलित किये थे। शतरज भारतीयों का प्रिय खेल था।[2] शतरज के मैच हुआ करते थे। बाग बगीचे लगाना भी मनोरंजन के साधन थे। बाबर, हुमायू, अकबर, जहागीर, शाहजहा आदि बादशाहो ने इसमे खूब रुचि ली थी। जहागीर और शाहजहा ने कश्मीर का शालीमार बाग, लाहौर का शालीमार बाग, एतमादुद्दौला के मकबरे का बाग और ताजमहल के निकटस्थ एक बाग लगवाया था।

मैदान के खेलो मे शिकार, पशुयुद्ध और चौगान (पोलो) विशेषत शासक वर्ग के लोगो के मनोरजन के साधन थे। अकबर ने एक विशेष प्रकार का शिकार निकाला था। इसमे बहुत से हकवे (शिकार की खोज करनेवाले) चालीस कोस के घेरे मे जगली जानवरो को घेरते थे और सम्राट् के पास लाते थे और सम्राट् हाथी पर सवार होकर उनका शिकार करता था।[3] केवल सम्राट् ही हाथी और चीता का शिकार कर सकता था। नौका विहार भी अच्छा मनोरजन का साधन था। दरबार के पास अनेक नौकाएँ रहती थी। हुमायू नदी की सैर मे विशेष रुचि रखता था। इसके अतिरिक्त कुश्ती, बाजीगरी और जादू के खेल, नकल, पतग उडाना, आखमिचौनी, लपक-डडा आदि खेल खेले जाते थे।

नृत्य एव सगीत मनोरजन का प्रमुख साधन था। नगर मे नर्तकियाँ उचित मूल्य पर उपलब्ध थी। मुगल सम्राटो के जन्म दिन के अवसर पर नृत्य एव सगीत आयोजित होते थे। अकबर सगीत प्रेमी था। तानसेन उसके नवरत्नो में से एक था। जहागीर और शाहजहाँ भी नृत्य एव सगीत मे रुचि लेते थे। इनके काल मे नृत्य और सगीत प्रचलित थे।[4] किंतु औरगजेब ने सगीत का जनाजा निकाल दिया।[5]

उत्सव तथा त्योहार

मुगलकाल मे अनेक प्रकार के मेलो का आयोजन होता था। हिंदुओ के मेले

1 अशरफ, वही, 197।

2 सचाउ द्वारा अनूदित, अल्बरूनीज इडिया, 1, 183।

3 डॉ० आर्शीवादी लाल श्रीवास्तव कृत मुगलकालीन भारत पृ० 535।

4. डॉ० पी० एन० चोपडा कृत सम आस्पेक्ट्स आफ सोसायटी ऐंड कल्चर इन मुगल एज, पृ० 79।

5 मनूची कृत स्टोरिया दि मोगोर इरविन द्वारा अनूदित, 2, पृ० 8।

उनके धार्मिक तीर्थ स्थानो में लगते थे। इनमे काशी, प्रयाग, अयोध्या, उज्जैन, नैमिषारण्य, गया, द्वारका, मथुरा आदि प्रमुख तीर्थस्थल थे, जहाँ विशेष अवसरों पर या त्योहारो पर मेले लगते थे। मुसलमानों के मेले बहुधा मजारो पर लगते थे। इनमें अजमेर, सरहिंद, पानीपत, बहराइच, दिल्ली, मकनपुर और अजोधन आदि तीर्थस्थानों पर मेले लगते थे। मुगल दरबार में वर्ष मे अनेक उत्सव होते थे, जिनमे जन-साधारण भाग लेते थे। इनमें शासको का जन्मोत्सव प्रमुख था। इनमे शाहजादों को तौला जाता था।[1] कुछ त्योहारों का विशाल पैमाने पर आयोजन होता था, जिनमे हिंदू-मुसलमान सभी सम्मिलित होते थे। नवरोज (नववर्ष) का त्योहार एक तरह से राष्ट्रीय त्योहार था।[2] हुमायूं ने मीना-बाजार का प्रचलन किया था। अकबर के काल मे यह बडी धूमधाम से मनाया जाता था।[3] मुस्लिम त्योहार इस्लाम के ऐतिहासिक घटनाओ से संबधित थे। इन त्योहारो की तिथि चाद पर निर्भर करती थी। मुगलकाल मे मुस्लिम त्योहार लगभग वही थे जो आजकल मनाये जाते है, यथा शब-ए-बरात,[4] ईद-उल फितर,[5] ईद-उल-जुहा,[6] मोहर्रम,[7] बारावफात[8] आदि।[9] आजकल की भाति

1 ब्लाकमैन द्वारा अनूदित आइन-ए-अकबरी, 277।

2 वही, 286।

3 वही, 287।

4 यह त्योहार शाबान की 14वी तारीख का मनाया जाता है, इसी दिन मोहम्मद साहब का देहात हुआ था।

5 रमजान के मास के बाद जिस दिन चाद निकलता है।

6 इसे बकरीद भी कहते हैं। इस्लाम के इतिहास मे हजरत इब्राहीम अपने पुत्र हजरत इस्माइल को ईश्वर की श्रद्धा मे बलि चढाने को तैयार हो गये थे, जिसपर ईश्वर ने उनके विश्वास और भक्ति से प्रसन्न होकर आकाश से पशु भेज दिये थे, जिनकी बलि दी गयी। इसीलिए इस अवसर पर पशुओ की बलि दी जाती है।

7 इसमे हजरत इमाम हसन और हुसेन का सस्मरण किया जाता है, जो कर्बला के युद्ध में सत्य के लिए शहीद हो गये थे। अत यह शोक का त्योहार है।

8. यह रबी-उल-अव्वल की बारह तारीख को मनाया जाता है। यह त्यौहार पैंगबर मोहम्मद साहब के जन्म एवं मृत्यु से संबधित है। अत खुशी का त्योहार है।

9. अन्य त्योहारों में ईद-मीलाद, आखिरी चहार शंबा, चहल्लुम आदि है, जो मुगल काल में मनाये जाते थे।

हिंदू त्योहारों की सख्या अधिक थी । कुछ त्योहार प्राचीन घटनाओं एवं कथाओं के आधार पर होते थे । कुछ त्योहार ऋतुओं से सबधित होते है ।[1] हिंदुओ के प्राय सभी त्योहार हंसी-खुशी के होते थे । हिंदू त्योहारों में प्रमुख त्योहार बसत पंचमी, होली, रक्षाबंधन,[2] दशहरा,[3] दीपावली,[4] शिवरात्रि[5] आदि थे ।[6]

स्त्रियों की दशा

हिंदू-समाज में स्त्रियों के अधिकार सीमित थे । वे जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत पुरुष के सरक्षण मे रहती थी ।[7] उन्हे पैतृक सपत्ति मे भी अधिकार न था ।[8] हिंदू समाज में पुत्री का जन्म विशेष प्रसन्नता की बात नही समझी जाती थी । मंदिरो में स्त्रिया देवदासियो के रूप में रखी जाती थी, जो नृत्य एव सगीत मे भाग लेती थी । हिंदू धर्मशास्त्रो में बहुविवाह अच्छा नही कहा गया है । सामान्यतः राजा और उच्च वर्ग के लोग ही बहु-विवाह करते थे । मुसलमानो के भय एव अत्याचार के कारण बाल्यावस्था में विवाह कर देने के लिए स्मृतिकारो ने नये नियम बनाये । कन्याओ का विवाह सात वर्ष की आयु से बारह वर्ष की आयु के बीच कर दिये जाने लगे थे ।

मुस्लिम समाज में भी स्त्रियों की दशा खराब थी । वे विलासिता की सामग्री समझी जाती थी। बादशाहो के अत पुर का आकार बढ रहा था । इनमे विधिवत विवाहिता रानियो की सख्या कम और रखैलों की सख्या अधिक होती थी । अकबर के महल मे लगभग 5000 स्त्रिया थी । आर्थिक दृष्टि से हिंदू स्त्रियो की अपेक्षा मुस्लिम स्त्रियो की स्थिति अच्छी थी । मुस्लिम स्त्रिया अपने पिता की सपत्ति के एक निश्चित अश की अधिकारिणी थी ।[9] किंतु हिंदू स्त्रियो को ऐसी कोई भी सुविधा प्राप्त न थी ।

---

1. अशरफ, वही, पृ० 202 ।

2 यह भाई-बहन का त्योहार है । शाहजहा इसे निगाहदाश्त कहता था । (रोजर्स द्वारा अनूदित तुजुक-ए-जहागीरी, 1,244) ।

3 इसे विजयदशमी भी कहते है । इसी दिन राम ने रावण पर विजय प्राप्त की थी ।

4 यह कार्तिक मे मनाया जाता है । यह लक्ष्मी-पूजा का त्योहार है ।

5. यह माघ मास में मनाया जाता है । यह शिव की पूजा का त्योहार है ।

6. अन्य त्योहारो में रामनवमी, कृष्ण-जन्माष्टमी आदि आते है ।

7. अशरफ, वही, 134 ।

8 तात्कालिक कवि तुलसीदास ने एक स्थान पर उनकी तुलना पशु से की है—'ढोल गंवार शूद्र पशु नारी । यह सब ताडन के अधिकारी' ।

9. देखिये, कुरान ।

मुसलमानों के आने के पूर्व भारतवर्ष में पर्दा-प्रथा नहीं थी, या बहुत कम थी। केवल विवाहिता हिंदू स्त्रियां घूंघट काढती थी। किंतु मुसलमानों के आने के बाद हिंदुओं ने अपनी स्त्रियों की इज्जत बचाने के लिए पर्दा-प्रथा का कठोर·ा से पालन किया। मुसलमानों में खूब पर्दा होता था। राजमहल में घोर पर्दा और कठोर नियंत्रण के बावजूद व्यभिचार प्राप्त था। अकबर का समकालिक इतिहासकार अब्दुल कादिर बदायूनी लिखता है "यदि कोई युवती बिना पर्दा किये हुए सडको एव बाजारों में घूमती हुई पायी जाती थी तो उसको वेश्यालय भेज दिया जाता था, वहा वह वेश्या का पेशा ग्रहण कर लेती थी।" मुगल काल में पर्दा-प्रथा इस सीमा तक पहुँच गयी थी कि उच्च वर्ग की स्त्रियां उपचार के लिए चिकित्सक के पास तक नहीं जा सकती थी। चिकित्सक उनके स्पर्श किये हुए कपडे को सूंघ कर इलाज करते थे। यदि कोई स्त्री पर्दा नही करती थी तो उसे इसी कारण तलाक दे दिया जा सकता था। स्त्री होने के कारण जहागीर के शासन में नूरजहा का बढते हुए प्रभाव लोगों को विशेष रूप से असह्य इसलिए हुआ कि वह स्त्री थी।

हिंदुओं और मुसलमानो के सामाजिक जीवन में विवाह का बडा महत्त्व था। दोनो समाजो में बाल-विवाह प्रचलित थे।[1] हिंदुओं में रजस्वला होने से पहले नही, तो रजस्वला होने पर शीघ्र ही बालिका का विवाह करने का चलन था। सम्राट् अकबर ने लडकों के लिए कम से कम सोलह वर्ष और लडकियो के लिए चौदह वर्ष विवाह की अवस्था निश्चित किया था। मुसलमानो में विवाह में निकाह एक महत्त्वपूर्ण रस्म थी। विवाह में लिखित अनुबंध की व्यवस्था थी, किंतु हिंदुओ मे विवाह एक धार्मिक सस्कार था। तिलक, द्वारपूजा अग्निपरिक्रमा आदि विवाह की प्रमुख क्रियाएं थी। मुसलमानो में तलाक की प्रथा थी किंतु हिंदुओं मे नही। कुरान के अनुसार मुसलमान चार विवाह तक कर सकते थे किंतु हिंदुओं में बहुपत्नीत्व उच्च वर्ग तक ही सीमित था। अकबर ने बहुविवाह को रोकने का प्रयत्न किया था।[2] मुगल काल में बारात एक दिन से लगा कर दस दिन तक ठहरा करती थीं।

सामाजिक कुरीतियां

मुगलकालीन समाज मे अनेक कुरीतिया प्रचलित थी। इन कुरीतियों ने रीति-रिवाजों का रूप धारण कर लिया था। उदाहरणार्थ हिंदुओं में सती-प्रथा का प्रचलन था। प्राय· उच्च वर्गीय कुछ हिंदू स्त्रियां अपने पति की मृत्युपरांत वैधव्य जीवन से मुक्ति पाने के लिए अपने मृत पति के शरीर के साथ (कभी-

1. असरफ, वही, पृ० 146।

2. ब्लाक मैन द्वारा अनूदित आइन-ए-अकबरी, 288।

कभी अकेले भी) चिता पर बैठ कर आत्मदहन करती थी ।[1] इब्नबतूता लिखता है कि सती होने के पूर्व राज्य-स्वीकृति लेना आवश्यक था । मुगल शासको ने सती प्रथा को हटाने के लिए उस पर प्रतिबध लगाये थे ।[2] दूसरी प्रथा जौहर थी । जब रणभूमि में पति की विजय की सभावना धूमिल पड जाती थी तो हिंदू स्त्रिया (विशेषकर राजपूत स्त्रिया) अपहृत होने की अपेक्षा अग्नि की ज्वाला मे कूद-कर भस्म हो जाना बेहतर समझती थी । सतीत्व एवं लाज की रक्षा के लिए आत्म बलिदान अपने मे गौरवपूर्ण समझा जाता था मुगल शासकों ने इस जौहर प्रथा पर भी प्रतिबध लगाये । वेश्यावृत्ति का प्रचलन प्राचीन काल से चला आ रहा था । प्राचीन काल में वेश्याएँ राज्य की आय वृद्धि का स्रोत थी । सभवत इसीलिए इस सस्था को समाप्त नही किया गया । वेश्याएँ नृत्य एव सगीत मे भी दक्ष होती थी । वे मनोरजन और यौन-तृप्ति का साधन थी । अकबर ने वेश्याओ के निवास के लिए नगरें के वाहर स्थान प्रदान किया था, जिसे 'शैतानपुरी' कहा जाता था । दासपथा को राजकीय मान्यता प्राप्त थी । हिंदुओ और मुसलमानो दोनो को दास दासियो को रखने का शोक था । हिंदुओ की अपेक्षा मुसलमानो मे दास प्रथा का प्रचलन अधिक था । मुगल दरबार में भी दास दासियाँ रहती थी । दासियाँ बादशाहों की रखैल के रूप मे रहती थी । इसके अतिरिक्त अमीर और उच्च अधिकारी भी दास दासी रखते थे । सम्राट् अकबर ने एक फरमान द्वारा युद्ध मे बनाये हुए बदियों को दास बनाने की प्रथा को बद कर दिया था ।

धार्मिक स्थिति

मुगल सम्राटों की धार्मिक नीति

बाबर और हुमायूँ ने हिंदुओ के प्रति जो नीति अपनायी थी उसमें असहिष्णुता का पुट दिखाई देता है । राणा सागा से युद्ध करते समय बाबर ने उस युद्ध को जिहाद कहा था । उसने स्वधर्मियो को रसूम (कर) से मुक्त कर दिया था, जब कि हिंदुओं से कठोरता के साथ वसूल करता था ।[3] उसने कुछ मदिरो को ध्वस्त कराया और मूर्तियों को नष्ट किया । शेरशाह ने भी जोधपुर के कुछ मदिरो को ध्वस्त कराया था ।

अकबर की नीति सिंहासनारोहण (1559 ई०) के प्रारभिक कुछ वर्षों तक धार्मिक मामलो में अनुदार थी । परतु धीरे-धीरे वह मुल्लाओं के प्रभाव से

---

1 यदि मृतक व्यक्ति की अनेक पत्निया होती थी तो ज्येष्ठ पत्नी पति के शरीर के साथ और शेष पत्निया पृथक्-पृथक् भस्म होती थी ।

2 हरविन द्वारा अनूदित तथा मानूची कृत स्टोरिया दो मोगोर 2, 97 ।

3. मेम्बायर्स आफ बाबर, 2, 281 ।

मुक्त हो गया और उसने हिंदुओं के प्रति सहिष्णुता की नीति अपनायी। उसने युद्धबंदियों को दास और मुसलमान बनाने की प्रथा पर 1562 में रोक लगाई। हिंदुओं को तीर्थ-यात्रा कर से मुक्त कर दिया। वह हिंदुओ के प्रति इतना सहिष्णु हो गया था कि 1564 ई० में उसने जजिया समाप्त कर दिया। उसने हिंदुओ के प्रति भेद-भावपूर्ण नीति का भी परित्याग कर दिया। इस प्रकार उसने हिंदुओं को मुसलमानो के समान नागरिकता प्रदान की। हिंदुओ को नये मंदिरों के निर्माण और पुराने मदिरों का जीर्णोद्धार कराने का अधिकार मिल गया। आमेर की राजपूत राजकुमारी से विवाहोपरात उसने हिंदू रानियो को महलों के भीतर पूजा-पाठ की अनुमति दे दी थी।

उसने इस्लाम धर्म के सिद्धातों को समझा। धार्मिक विचार-विमर्श करने के लिए इबादतखाने की स्थापना की। बाद को उसने इबादतखाना अन्य धर्माव-लबियो के लिए भी खोल दिया। सभी धर्मों का मार्ग और लक्ष्य समझने के बाद उसने अन्य धर्मों की उपासना पद्धतियो को भी अपना लिया और सभी धर्मों के त्योहारो मे भाग लेने लगा। उसने 'दीन-ए-इलाही' नामक मत की स्थापना की जिसमें सभी धर्मों की अच्छी बातो का सन्निवेश किया गया था। उसने हिंदुओ की भावनाओ का ध्यान रख कर ही स्वय गौ-मास का प्रयोग और सार्वजनिक रूप से गौ-वध वर्जित कर दिया।

अकबर ने प्रशासकीय एव सैनिक पदो पर नियुक्ति की कसौटी योग्यता रखी, फलत हिंदुओ को वजीर, सेनापति, सूबेदार आदि पदों पर नियुक्त किया जाने लगा। टोडरमल की पदोन्नति कर उसे प्रधान मत्री और मानसिंह को सबसे बड़ा मनसबदार बना दिया गया। इसके अतिरिक्त उसने राजसत्ता के इस्लामीकरण के स्थान पर सम्राटो के दैवी अधिकार की स्थापना करके सर्वा-धिक क्रातिकारी पग उठाया। इस प्रकार भारत में लगभग 400 वर्षों से चले आ रहे मज़हबी राज्य को उसने धर्मनिरपेक्ष राज्य मे परिवर्तित कर दिया। यह उसके अपूर्व साहस, चारित्रिक शक्ति और राजनीतिक दूरदर्शिता का परि-चायक था।[1]

अकबर की धार्मिक सहिष्णुता की यह नीति जहांगीर के काल तक कुछ हेर-फेर के साथ किसी न किसी फर चलती रही। यद्यपि जहागीर ने कुछ गैर मुस्लिमों को अपने धर्म में दीक्षित किया और जब उसे पता चला कि राजौरी के हिंदुओं ने कुछ मुसलमान कन्याओं का धर्म-परिवर्तन कर उससे विवाह कर लिया है तो उसने इसे अवैध घोषित कर दिया और अपराधियों को दडित किया।[2] किंतु

1. डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव, वही, पृ० 4।

2. रोजर्स द्वारा अनूदित, तुज़ुक-ए-जहांगीरी, जिल्द 1 पृ० 83, 146,322।

उसने हिंदुओं को विवश करके मुसलमान नही बनाया और न ही उनके नये मंदिरों के निर्माण में कोई बाधा डाली। ईसाइयो के प्रति वह मैत्रीभाव रखता था। सार्वजनिक पदों पर नियुक्तियों में उसने भी योग्य दूसरे धर्मावलंबियों को स्थान दिया।

शाहजहा हिंदुओं के प्रति कुछ असहिष्णु हो गया। उसने दरबार मे गैर इस्लामी उत्सव एवं रीति-रिवाजों का संपन्न कराना बद करवा दिया और हिजरी को राष्ट्रीय संवत् बना दिया। शबे-बारात एव ईद-मिलाद सरीखे कुछ त्यौहारों को, जिनका मानना अकबर ने बद करवा दिया था, उसने उनका मनाना फिर चालू किया। उसने 'सद्र-उस-सुदूर' की सत्ता पुन स्थापित की और सुन्नी इसलाम का प्रमुख रक्षक बन गया। उसने हिंदुओं पर पुन यात्रा कर लगा दिये और मदिरो के निर्माण और उनके जीर्णोद्धार पर रोक लगा दी, किंतु कुछ लोगों के हस्तक्षेप के कारण यात्रा कर भी हटा लिये और मंदिरों के निर्माण आदि पर लगायी गयी रोक के आदेश वापस ले लिये। वह ईसाइयों के प्रति भी असहिष्णु हो गया किंतु संभवत इसका कारण राजनीतिक था।

औरंगजेब कट्टर सुन्नी मुसलमान था। उसने अभी तक चली आयी धार्मिक नीति में परिवर्तन कर दिया। उसने अपने पुरखो की नीति की अवहेलना करके मुगल साम्राज्य में इस्लाम की प्रमुखता पुन स्थापित की और गैरइस्लामी प्रथाओं को दरबार से समाप्त कर दिया। उसने नृत्य और सगीत को दरबार में बंद करा दिया और झरोखा दर्शन-प्रथा समाप्त कर दी। उसने तुलादान रोक दिया और सिक्कों पर से कलमा हटवा दिया जिसमें गैर मुसलमानं के स्पर्श से वह अपवित्र न हो। उसने हिंदू राजाओं द्वारा अपने मस्तक पर टीका लगवाना निषिद्ध कर दिया और हिंदू ज्योतिषियों को दरबार से निकाल दिया। उसने हिंदू मंदिरों और विद्यालयो को भी नष्ट करने के आदेश दिये थे। औरगजेब जब शाहजादा ही था तभी से उसने अपनी धर्मांधता का परिचय देना शुरू कर दिया था। गुजरात के सूबेदार की हैसियत से अनेक मदिरों को उसने गिरवाया था। औरगजेब सिक्खों के प्रति विद्वेष रखता था। उसने सिक्खों के गुरु तेग बहादुर को इस्लाम धर्म में दीक्षित हो जाने का आदेश दिया और उनके इंकार करने पर उनका कत्ल करा दिया। उनके पुत्र तथा उत्तराधिकारी गुरु गोविंद सिंह को बंदी बनाने का आदेश दिया किंतु वे भाग गये। उसने राजकीय सेवाओं मे भी हिंदुओं की संख्या कम कर दी थी। हिंदुओं पर पुन यात्रा कर लगा दिया था और उनके कुछ त्यौहारों को सार्वजनिक रूप से मनाने की मनाही कर दी थी।[1] उसने 1694 ई० में एक आदेश निकाला कि मराठों और राजपूतों को छोड़कर

1. देखिये, फतवा-ए-आलमगीरी।

कोई इराकी, तूरानी अश्वों, हाथियों और पालकियों पर न सवार हो। हिंदुओं को सार्वजनिक रूप से अस्त्र-शस्त्र लेकर चलने की मनाही थी। उसने हिंदुओं पर जजिया कर लगा देने के अतिरिक्त अनेक चुंगी कर भी लगा दिये और मुसलमानो को चुंगी करो से मुक्त कर दिया। यह सब इसलिए किया गया था कि हिंदू तंग होकर इस्लाम स्वीकार कर लें। औरंगजेब की यह असहिष्णु नीति उसकी मृत्यु के बाद, बहादुरशाह के काल तक चलती रही किंतु उसके उत्तराधिकारी निर्बल और अयोग्य थे, और मराठो के बढते हुए प्रभाव के कारण उन्हे यह नीति त्याग देनी पडी।

विभिन्न मत

वैष्णव मत

मुगलकाल मे वैष्णवो की चार शाखाओं का प्रभाव अधिक था यथा प्रथम धारा रामानुज के अनुयायियो की थी। इस परंपरा में लक्ष्मी नारायण के उपासक विशिष्टाद्वैत के समर्थक संपूर्ण भारत मे विद्यमान थे। अनेक स्थानों पर इनके मठ थे, जिनमें रहकर वैष्णव सन्यासी अपने मत का प्रचार कर रहे थे। इस धारा का प्रभाव ब्राह्मणों मे अधिक था। दूसरी धारा चैतन्य के अनुयायियों की थी। जो हरि-कीर्तन, नाम-जप और भावो की शुद्धता पर बल देते थे। इन्होने बगाल, बिहार, उडीसा और उत्तर प्रदेश मे कीर्तन का प्रचार करके कृष्ण-भक्ति का प्रसार किया। तीसरी धारा वल्लभ के पुष्टिमार्गियो की थी। वल्लभ के पुत्र विट्ठल नाथ ने और पौत्र गोकुल नाथ ने इस सप्रदाय का प्रचार किया। इसके अनुयायी प्रतिमा की पूजा इस श्रद्धा एव तन्मयता के साथ करते थे जैसे कि वह स्वय श्रीकृष्ण हो। फलत: कृष्ण-प्रतिमा की सेवा सुश्रूषा होने लगी। इस परंपरा मे अनेक कवि हुए जिन्हे अष्टछाप कहते है। उनमें **सूरसागर** के रचयिता सूरदास सर्वाधिक प्रसिद्ध है। राजस्थान की मीराबाई भी इस धारा से सबद्ध थी। सूर और मीरा के भक्तिपूर्ण पद बडे लोकप्रिय हुए। चौथी धारा रामानद के अनुयायियों की थी। इसमें राम की उपासना का विधान है। रामानद की शिष्य परपरा में अनेक निर्गुण धारा के सत थे, जिन्होंने भगवान को निर्गुण और निरजन कहने पर भी उनके लिए 'राम' शब्द का प्रयोग किया है। उनके पद भक्ति भावना से परिपूर्ण है और भाषा अति सरल है। इन संतो में दादू, मलूकदास, शिवदयाल आदि हुए हैं। इन्होंने भक्ति पर अधिक बल देकर जाति भेद को गौणता प्रदान की। इन संतो की भाषा अटपटी थी, जिससे उच्च वर्ग पर उनका प्रभाव नही पड़ा। इस वर्ग को रामानदियों के दूसरे वर्ग ने प्रभावित किया, जिसके सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि तुलसीदास है। इन्होंने राम-भक्ति विषयक अनेक ग्रंथों की रचना की, जिनमें **रामचरित मानस** और **विनयपत्रिका** सर्वप्रमुख है।

सूफी मत[1]

इसकाल के सूफी संत वहदतुलवुजूद (अद्वैतवाद) के सिद्धात मे विश्वास करते थे। इस प्रकार वे भारतीय वेदात मत से प्रभावित थे।[2] सूफी अल्लाह् के साथ प्रेमी और प्रेमास्पद के सबध को मानते थे। और अतिम एकत्व लाभ करना उनकी साधना का लक्ष्य था। इस सिद्धात के अनुयायियो मे शेख अब्दुल कुद्दूस गगोह (मृत्यु 1537 ई०), मिया मीर लाहौरी (1550-1635 ई०), दारा के धर्म गुरु मुल्लाशाह बदाख्शी और चिश्तिया एव कादिरिया शाखा के सत विशेष रूप से आते है। नक्शबदिया शाखा के सत इस सिद्धात (वहदतुलवजूद) के कट्टर विरोधी थे। वे 'अब्दियत' और 'वहदतुलसुहूद' (एकत्व की प्रतीति) को मानते थे। इस शाखा के सतो मे सर्वाधिक ख्याति प्राप्त है ख्वाजा वकी बिल्लाह्। ये भारत मे नक्शबदिया सप्रदाय के सस्थापक थे। इनके प्रमुख शिष्य शेख अहमद सरहिंदी थे। इनका प्रभाव कट्टर पथी इस्लाम को पुष्ट करने में इतना सहायक हुआ कि उन्हे मुजद्दित (पुनरुद्धारक) कहा गया है। शाह वलीउल्लाह् (1702-1768 ई०) भी नक्शबदिया शाखा के सत थे। इन्होने वहदतुलवुजूद और वहदुतुलसुहूद के सिद्धातो मे समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया।

मुगल काल मे अनेक सूफी सत बादशाहो के सपर्क मे आये। अकबर के काल में शेख सलीम चिश्ती का प्रभाव बहुत बढ गया क्योकि उसने शाहजादा सलीम (जहागीर) के प्राण बचाये थे। जहागीर मुजद्दित से रूष्ट हो गया था क्योकि वह अखिल विश्व की आध्यात्मिक प्रभुता का दावा करता था। शाहजादा मिया मीर का भक्त था और दारा सत सरमद का। सरमद अपने विचारो के कारण औरंगजेब का कोपभाजन बना और उसे मृत्युदड मिला। औरंगजेब की इस्लामी नीति पर मुजद्दित के पुत्र ख्वाजा मोहम्मद मासूम का प्रभाव पडा।

कुछ सूफी सतो ने हिंदू-मुस्लिम सद्भाव बढ़ाने के लिए यत्न किया। अबुल फजल[3] ने अकबर की नीति का समर्थन किया और हिदुओं की प्रशसा की। दारा ने अपने धर्म गुरु मुल्लाशाह बदख्शी के प्रभाव से अनेक ग्रथों की रचना की, जिनमें उनसे दोनो धर्मों के बीच भेद-भाव समाप्त करने का यत्न किया

---

1 विस्तृत विवरण के लिए देखिये, सल्तनतकालीन संस्कृति अध्याय मे, सूफीवाद।

2 यह इस्लाम के सिद्धात का थोडा विरोधी है। क्योंकि इस्लाम मे व्यक्ति और अल्लाह् का सबध 'अब्दियत' अर्थात् प्रभु एव दास का है।

3. देखिए, आइन-ए-अकबरी।

गया। उसने उपनिषदों का फारसी में अनुवाद किया। मिर्जा जनज्ना भजहर (1699-1781 ई०) ने वेदों को अपौरुषेय स्वीकार किया।

सिख-मत[1]

गुरुनानक[2] (1469-1538 ई०) की दृष्टि मे हिंदू और मुसलमान समान थे। नानक के अनुयायी सिख (शिष्य) कहलाते थे। उनकी शिष्य परपरा में दस गुरु हुए है, जिनमे अतिम गुरु गोविंद सिह थे, जो औरगजेब के समकालिक थे। प्रारभ मे सिक्ख गुरुओं का रूप प्राय रामानुजाचार्य और रामानद आदि की शिष्य परपरा के आचार्यों का था। किंतु शनै शनै यह शिष्य परंपरा एक पथ (मत) के रूप मे परिणत हो गयी। सिक्खो के गुरु अर्जुन देव जहागीर का समकालिक था। जब शाहजादा खुसरो (जहागीर का ज्येष्ठ पुत्र) अपने पिता के प्रति विद्रोह करके लाहौर जा रहा था तो गुरु अर्जुन देव ने उसे आश्रय प्रदान किया था। फलत गुरु बादशाह के कोपभाजन हुए और उन्हे मृत्यु दंड भोगना पडा। इस घटना ने सिख धर्म मे क्रातिकारी परिवर्तन किये। सिक्खो ने अपने को सगठित किया और सिक्ख धर्म मात्र धार्मिक पथ न रह कर राजनीतिक शक्ति भी बन गया।

सिखो के नवे गुरु तेग बहादुर थे, जो औरगजेब के समकालिक थे। औरगजेब ने हिदुओं पर जजिया लगाकर और उनके मदिरो को गिरवा कर जिस हिंदू विरोधी नीति का आश्रय लेकर उनपर अत्याचार किये, उस नीति का गुरु तेग बहादुर ने घोर विरोध किया। औरगजेब को यह सहन नही हुआ और उसने गुरु पर बगावत का अभियोग लगाकर उन्हे मृत्यु दड दिया। इससे सिक्खों में सनसनी फैल गयी और वे अपने गुरु का बदला लेने के लिए कटिबद्ध हो गये, किंतु एक छोटे पंथ के लिए एक शक्तिशाली सम्राट् का सामना करना सरल न था। इसलिए सिखो के दसवें तथा अतिम गुरु गोविंदसिह (तेगबहादुर के पुत्र) ने सिख मत को एक शक्तिशाली सैन्यशक्ति के रूप मे सगठित कर हिंदू धर्मरक्षक के रूप मे कार्य किया।

गुरु गोविंद सिंह ने पजाब के पहाडो को अपना अड्डा बनाया और समय-समय पर मुगल छावनियों पर आक्रमण करना प्रारभ कर दिया। मुगलो ने गुरु गोविंद की शक्ति को समाप्त करने का बडा प्रयत्न किया। गुरु गोविंद सिंह के दो पुत्रो को पकड कर उनकी हत्या कर दी। औरगजेब की मृत्युपर्यन्त गोविंद सिंह ने मुगलों के विरुद्ध अपना संघर्ष जारी रखा। औरगजेब की मृत्यु के बाद

1. कैंब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, 4, 244।

2 नानक के विषय में विस्तृत विवरण के लिए देखिए नवें अध्याय में भक्ति आदोलन।

मुगल साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगी। अतः सिखों को अपने उत्कर्ष का मौका मिला। गोविंद सिंह सिखो के अंतिम गुरु थे। उन्होंने यह व्यवस्था दी कि भविष्य में 'ग्रंथ साहब' ही सिखों के गुरु का कार्य करें। 'ग्रंथ साहब' में सिख गुरुओं की वाणी सग्रहीत की। गुरु गोविंद सिंह ने धार्मिक दृष्टि से 'ग्रंथ साहब' को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और सिखो का सैनिक नेतृत्व वीर बंदा बैरागी को सौंप दिया। बदा ने गुरु गोविंद सिंह के पुत्रो की हत्या का बदला लेने के लिए सरहिद पर आक्रमण किया और वहाँ के मुगल फौजदार को परास्त कर के सरहिद पर अधिकार कर लिया। इसी नगर में गुरु गोविंद सिंह के पुत्रो को जीवित दीवार मे चुनवाया गया था। सरहिद पर अधिकार करने के बाद बदा मुगलो से सघर्ष करता रहा और उसने अनेक बार मुगलों को सकट मे डाल दिया। अत मे 1716 ई० मे बादशाह फर्रुखसियर ने उनका वध करवा दिया और अनेक सिखो का कत्ल कराया। किंतु सिख शक्ति निरतर बढती गयी और अंततोगत्वा सिखो ने पजाब मे अपने अनेक स्वतत्र राज्य स्थापित किए।

दीन इलाही

धार्मिक रूढियो तथा सत्ता से असतुष्ट होकर सम्राट् अकबर ने तर्क को धर्म का मूलाधार मानकर प्रत्येक धर्म को धार्मिक स्वतत्रता प्रदान की थी। उसने धर्मांध व्यक्तियो के घृणा के भाव को दूर करने के लिए और धार्मिक विद्वेष को समाप्त करने के लिए विभिन्न धर्मों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया और इसका नाम 'तवहीदे-इलाही' (दैवी एकेश्वरवाद) रखा। यह विभिन्न धर्म के लोगों को सन्निकट लाकर सामाजिक-धार्मिक भ्रातृ सप्रदाय स्थापित करने का प्रयास था। इसकी रचना सुलहेकुल (सहिष्णुता) के सिद्धात को आधार मानकर की गयी थी। इसमे सभी धर्मों की अच्छी बातो का सन्निवेश था।

1582 ई० में काबुल अभियान के उपरात अकबर ने दरबारियो का एक सम्मेलन बुलवाया और उनके विचारार्थ 'दीनइलाही' नामक प्रस्तावित सप्रदाय का स्वरूप रखा। उसने इस बात पर बल दिया कि सभी संप्रदायों मे एकता लाने के लिए उन्हे समन्वित करना चाहिए। जिससे सभी सप्रदायो की अच्छी बातों का उसमे समाहार हो सके। लगभग सभी दरबारी इस नवगठित सप्रदाय के सदस्य बन गये। अबुल फजल इसके प्रधान पुरोहित थे। दीनइलाही के सदस्य बनने के लिए एक निश्चित प्रक्रिया थी—सदस्य बनने के इच्छुक व्यक्ति का प्रधान पुरोहित परिचय देता था। तब वह व्यक्ति अपनी पगडी उतार कर अपना सिर सम्राट् के चरणों मे रखता था। सम्राट् उसे उठाकर उसकी पगडी उसके सिर पर रखता था और उसे शिस्त (अपना स्वरूप) प्रदान करता था। अपनी वर्षगाठ के अवसर पर प्रत्येक सदस्य को प्रीतिभोज देना आवश्यक था।

सदस्यों को मांस भक्षण वर्जित था। सदस्यगण अपने से बहुत बड़ी या बहुत छोटी उम्र की बाला से विवाह नहीं कर सकते थे। सदस्यों से सम्राट् की सेवार्थ अपनी धनसंपदा, अपना मान सम्मान, जीवन एवं धर्म का बलिदान कर देने की अपेक्षा की जाती थी। बीरबल इसके सक्रिय सदस्य थे। दीन इलाही अकबर के देहावसान के साथ ही समाप्त हो गया। दीन इलाही की स्थापना मे अकबर का महान् राजनीतिक उद्देश्य यह था कि वह इसके द्वारा हिंदू और मुसलमान धर्मों को सगठित कर मुगल साम्राज्य को दृढता प्रदान कर राजनीतिक एकता स्थापित करना चाहता था। दीन इलाही के प्रवर्तक के रूप में उसने सार्वजनिक सहिष्णुता की नीति अपनाकर राष्ट्रीय आदर्शवाद का प्रमाण प्रस्तुत किया। **दबिस्ताने मजाहब** के लेखक श्री मोहसन फानी ने दीन इलाही के कुछ मुख्य सिद्धातों का प्रतिपादन किया है, यथा, 1 उदारता और उपकार 2 सासारिक इच्छाओ से विरक्ति 3 अपराधी को क्षमा करना 4 प्रत्येक के लिए विनीत, कोमल और मधुर शब्दो का प्रयोग 5 सपर्क मे आने वाले सभी लोगों के साथ सद्व्यवहार करना 6 आत्मा को ईश्वरीय प्रेम मे समर्पण करना। अकबर के सपूर्ण जीवन दर्शन का सार यह था पवित्र 'शस्त' और पवित्र दृष्टि से कभी भूल नही होती। उसने देखा कि सकुचित विचार वाले धार्मिक कट्टरपंथी लोग समाज के लिए भय बने हुए हैं। अत उसने सभी महत्त्वपूर्ण धर्मों के समन्वय करने का प्रयत्न किया और इसका नाम 'दीन इलाही' रखा। यह एक सामाजिक धार्मिक सस्था थी—एक ऐसा भ्रातृभाव था, जिसका आशय देश मे निवास करने वाली विभिन्न जातियों को परस्पर मिलाना था। इसकी आधारशिला प्रेम, सच्चाई और धार्मिक सहिष्णुता पर रखी गयी थी और इसमें उन सभी धर्मों की अच्छी-अच्छी बातें सम्मिलित थी। अबुल फजल ने आइन-ए-अकबरी में दीन इलाही का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उसके अनुसार दीक्षा संस्कार के लिए रविवार का दिन निश्चित था। इस दिन दीक्षा सस्कार अकबर स्वयं करता था। इसके बाद बादशाह उसे 'शस्त' (अपना स्वरूप) देता था जिस पर 'हू' (सत्यनाम) का शब्द अंकित किया होता था। श्री एम० राय चौधरी का विचार है कि शस्त एक प्रकार की अंगूठी होती थी, जो हीरे जवाहरों से जडे हुए एक सुंदर वस्त्र में लपेटी हुई होती थी। दीन इलाही का सदस्य इसे अपनी पगडी के सिरे पर लगाता था। पवित्र शस्त और पवित्र दृष्टि कभी भूल नही करती यह पक्ति दीक्षित व्यक्ति को बार-बार दुहराना पडता था। सदस्यों के लिए कुछ अन्य नियम भी थे। सभी सदस्य एक दूसरे को मिलने के समय 'अल्ला हू अकबर, जल्ले जलाल हू' कह कर अभिवादन करते थे। सभी सदस्य अपने जन्म के महीने में मास भक्षण नहीं कर सकते थे। दीन इलाही के सदस्य स्वेच्छानुसार अपनी

मृत्यु के बाद जलाये या दफनाये जा सकते थे। इसके सदस्यो से बादशाह की सेवा के लिए धन सपत्ति, मान-सम्मान जीवन और धर्म का बलिदान करने की अपेक्षा की जाती थी। दीनइलाही के सदस्य के लिए गर्भवती, वृद्धा, बंध्या तथा अल्पवयस्क कन्या के साथ सहवास अथवा विवाह वर्जित था और कसाइयो, मछेरों और चिडीमारो के बर्तनों को प्रयोग मे लाने का निषेध था।

अन्य मत

ऊपर जिन मतो का उल्लेख किया गया हैं उनके अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे मत भी प्रचलित थे, जो प्राचीन काल से चले आ रहे थे। वैष्णवो के प्रभाव से शाक्तों एव तान्त्रिको का प्रभाव धूमिल पड गया था। शैव मत का प्रभाव एव प्रचार कश्मीर मे दक्षिण भारत तक व्याप्त था। इनके अनेक वर्ग थे, जिनकी पूजा पद्धतियों मे थोडा ही अतर था किंतु इनका दार्शनिक पक्ष पहले के समान ही दृढ बना रहा।

हिंदू मुस्लिम धर्मों मे समन्वय

मुगलकालीन धार्मिक जीवन मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात हिंदू मुसलमानो के बीच पारस्परिक सद्भावनापूर्ण व्यवहार की वृद्धि है। कई हिंदू और सूफी सतो का भी यही प्रभाव पडा। सम्राट् अकबर की सद्भावनापूर्ण धार्मिक नीति ने इस सहयोग और सद्भावना को और अधिक दृढ किया। उसने हिदुओ को पूण धार्मिक स्वतत्रता दी। उसने सस्कृत ग्रथो का फारसी मे अनुवाद कराया। हिंदुओ के साथ विवाह सबध किये। उन्हे उच्च पद दिये। इसके अतिरिक्त उसने 'दीन-इलाही' मत मे सभी धर्मों की अच्छी बातों का समावेश किया। जिनका परिणाम बडा ही सतोषप्रद और हितकर रहा। जहागीर के समय में भी बहुत हद तक यही स्थिति रही। शाहजहा ने इस नीति में थोडा परिवतन किया और अपेक्षाकृत अनुदार रहा। औरगजेब ने अपनी असहिष्णुता की नीति कारण से दोनो धर्मावलबियो के बीच विद्यमान मेलजोल की भावना पर कुठाराघात किया जिसके फलस्वरूप भीषण विद्वेष फैला, साप्रदायिक दगे हुए, ईर्ष्या बढी और दोनो धर्मों को क्षति उठानी पडी और अत मे मुगल साम्राज्य का पतन हुआ।

शिक्षा और साहित्य

मुगल काल के प्रारभिक चरण मे शिक्षा को बडी प्रगति हुई।[1] बाबर स्वय विद्वान् एव शिक्षा प्रेमी था। उसने दिल्ली में एक मदरसा की स्थापना की, जिसमें इस्लामी विषयो के अतिरिक्त गणित, ज्योतिष एव भूगोल आदि विषयों के अध्ययन की विशेष व्यवस्था थी। हुमायू भी स्वयं विद्वान् था और शिक्षा के

1 यूसुफ हुसेन, ग्लिम्पसेज आफ मेडिकल इडियन कल्चर, 78।

प्रति जागरूक था। उसने विद्वानों को प्रोत्साहन दिया था। शेरशाह सूरी को को भी शिक्षा में रुचि थी। उसने शिक्षा को राजकीय संरक्षण प्रदान किया था और जौनपुर को उच्च शिक्षा का महत्वपूर्ण केंद्र बनाया।

अकबर स्वय विशेष शिक्षा प्राप्त व्यक्ति न था, फिर भी उसने शिक्षा के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन एवं सुधार किये। उसने निश्चय किया कि "प्रत्येक लडके को नैतिकता, गणित और गणित से सबधित धारणाओं, कृषि, ज्यामिति, ज्योतिष, शरीरविज्ञान, गृहविज्ञान, सरकारी कानून, औषधि, तर्कशास्त्र, भौतिक विज्ञान, मात्रा विज्ञान, धर्मशास्त्र, विज्ञान और इतिहास पर पुस्तकें पढ़ना चाहिए और सभी विषयों का ज्ञान धीरे-धीरे प्राप्त कर लेना चाहिए।"[1] उसने हिंदू मुसलमानो को शिक्षा के माध्यम से एक दूसरे के निकट लाने का प्रयास किया। उसने संस्कृत विद्यालयो में व्याकरण, न्याय और पतजलि का भाष्य पढाये जाने पर बल दिया।[2] उसका लक्ष्य था कि जो मुसलमान सस्कृत का अध्ययन करे उसे इन विषयो का ज्ञान भी हो सके। उसने आधुनिक युग के विषयो के पढ़ाये जाने की आवश्यकता पर भी बल दिया।[3] उसने बेसिक शिक्षा प्रणाली में नवीन सुधारो द्वारा शिक्षा के स्तर को ऊचा उठाने का प्रयास किया।[4] अकबर ने इन सुधारों से मकतबों और मदरसो की दशा सुधर गयी और हिंदू अधिक सख्या मे फारसी का अध्ययन करने लगे। इनमें माधो भट्ट, श्री भट्ट, विशननाथ, राम-किशन, बलभद्र मिश्र, वासुदेव मिश्र, विद्यानिवास, गौरी नाथ, गोपीनाथ, किशन पडित, भट्टाचार्य, भगीरथ भट्टाचार्य, काशीनाथ भट्टाचार्य, महादेव, भीमनाथ, नारायण तथा शिवजी का नाम उल्लेखनीय है।[5] इनमे से अंतिम चार वैद्य थे, जिन्होने फारसी में औषधि विज्ञान पर ग्रथ लिखे। अकबर ने हिंदुओं का फारसी पढाने के लिए अनेक अध्यापक नियुक्त किये। इस प्रकार अकबर के शासनकाल में शिक्षा में धर्मनिरपेक्षता का समावेश हुआ।

अकबर ने फतेहपुर सीकरी में एक विशाल सुंदर मदरसा स्थापित किया।[6] आगरा में भी उसने एक मदरसा स्थापित किया था। आइन-ए-अकबरी के लेखक अबुल फजल अल्लामी ने स्वय सीकरी में 'मदरस-ए-अबुल फजल' नामक संस्था की स्थापना की थी। अकबर की उपमाता माहम अंगाह ने दिल्ली में

1. ब्लाकमैन द्वारा अनूदित आइन-ए-अकबरी, पृ० 289।
2. वही।
3. वही।
4. वही 288-89।
5 वही, 611-13।
6. बेवरिज द्वारा अनूदित अकबरनामा, 2, 531।

'खैरुल मनाजिल' नामक एक प्रसिद्ध मदरसा स्थापित किया था। अकबर ने व्यवसायिक शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया था। कारखानो में माल के उत्पादन के अतिरिक्त व्यवसायो का प्रशिक्षण भी दिया जाने लगा, जिसके लिए योग्य एवं अनुभवी कारीगरों की नियुक्ति की गयी।

जहांगीर और शाहजहा के शासन काल में भी राज्य की ओर से शिक्षण-संस्थाओ को संरक्षण प्रदान किया गया। जहांगीर के काल में तो आगरा शिक्षा का विशाल केंद्र बन गया था। शाहजहाँ ने भी अनेक मदरसो की स्थापना की की। इनमे से जामा मस्जिद के निकट स्थापित मदरसा उल्लेखनीय है। उसने लेखको और कवियो को आश्रय प्रदान किया और उन्हे प्रोत्साहित किया।[1] इनमे चद्रभान ब्रहमन, अब्दुल हकीम सियालकोटी और मुल्ला मोहम्मद फाजिल के नाम प्रमुख है। शाहजहाँ की पुत्री जहाआरा बेगम ने आगरा की जामा मस्जिद से सलग्न एक मदरसा स्थापित किया था।

औरगजेब स्वय शिक्षित एव विद्वान् था। उसने शिक्षा के प्रसार में बडी रुचि ली और अनेक मदरसो की स्थापना की। उसने उदारता के साथ छात्रों को छात्रवृत्तियाँ और अध्यापको को आर्थिक सहायता प्रदान की। उसने शाह वल्ली उल्लाह के पिता शाह अब्दुर रहीम के नाम पर 'मदरस-ए-रहीमियाँ' नामक एक उच्च कोटि की सस्था की स्थापना की। शाह अब्दुर रहीम ने फतवा-ए-आलमगीरी' में अपना साहाय्य प्रदान किया था। औरगजेब के बाद मुगल सम्राटों ने मदरसा स्थापित करने की परपरा को बनाये रखा और शिक्षा की उन्नति में अपना पूर्ण योगदान दिया।

मुगल काल में प्रचलित पाठ्यक्रम (दर्स-ए-निजामी) का विवरण 18 वी शताब्दी मे मुल्ला निजामुद्दीन ने दिया है।[2] इस पाठ्यक्रम में निम्नलिखित ग्यारह विषय थे और प्रत्येक के लिए पृथक्-पृथक् पुस्तकें थी। विषयों के नाम थे—(अ) सर्फ (विभक्ति और क्रिया पदो के रूप) (आ) नह्व (व्याकरण और वाक्य रचना), (इ) मतिक (तर्कशास्त्र), (ई) हिकमत (दर्शन), (उ) रियाजी (गणित), (ऊ) बालागट (साहित्य शास्त्र), (ए) फिक (न्याय शास्त्र), (ऐ) उसूल-ए-फिक (न्याय शास्त्र के सिद्धात), (ओ) कलाम (तर्क विद्या), (औ) तफसीर (कुरान टीका), (अं) हदीस (परपराएँ)।

कहा जाता है कि कुछ समय के बाद चार विषय और इस पाठ्यक्रम मे मिला दिये गये, यथा (1) अदब (साहित्य), (2) फरायज (कर्तव्य), (3) मनाजरा (वाद विवाद) और (4) उसूले हदीस (हदीस के सिद्धात)।

1. डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना, हिस्ट्री आफ शाहजहां आफ डेलही।
2. निजामुद्दीन लखनऊ से 32 मील दूर 'सिहाली' गाँव में रहते थे।

यद्यपि देश की सभी मुस्लिम शिक्षा संस्थाओं में पाठ्यक्रम और अध्यापन पद्धति लगभग एक ही प्रकार की थी तथापि कुछ उच्च शिक्षा-केंद्रों में किसी एक विषय पर विशेष योग्यता दिलायी जाती थी, उदाहरणार्थ लखनऊ के फरंगी महल में न्याय शास्त्र की विशेष शिक्षा दी जाती थी। शाह वली उल्लाह का दिल्ली का मदरसा हदीस (परंपराओं और तफसीर (टीकाओं) के अध्ययन पर विशेष बल देता था। सियालको: के मदरसा में नह्व (व्याकरण) पर विशेष बल दिया जाता था।

धर्मशास्त्र के विशेषज्ञ को 'आलिम' और साहित्य के विशेषज्ञ को 'कामिल' की उपाधियो से विभूषित किया जाता था। इसके अतिरिक्त 'आलिम' और 'फाजिल' की उपाधियाँ दी जाती थी। गुरु और शिष्य के घनिष्ठ संबंध थे। यह अध्यापन प्रणाली पीढी-दर-पीढ़ी से चली आ रही थी। परीक्षाएँ नहीं होती थी अध्यापकों की अनुमति से विद्यार्थी अगली कक्षा में जाते थे।

नारी शिक्षा

मुगल काल मे सर्व साधारण बालिकाओ के मकतबो और मदरसो मे पढने का विवरण नही मिलता। संभवत सार्वजनिक रूप से उनके पढने का कोई प्रबंध न था। परतु शाही परिवार और सपन्न परिवारों की बालिकाओं के लिए शिक्षा का प्रबध रहा होगा, क्योकि हुमायूँ की बहिन गुलबदन बेगम सुपठित विदुषी और फारसी लेखिका थी। उसने **हुमायूँ नामा**[1] नामक इतिहास ग्रंथ की रचना की थी। अकबर की माता हमीदाबानू बेगम, माहम अनगा, सलीमा सुल्ताना बेगम, नूरजहाँ, चाँद सुल्ताना और मुमताज महल आदि सुशिक्षित स्त्रियाँ थी जो तत्कालीन राजनीति एवं सास्कृतिक विषयों में विशेष रुचि लेती थी। मौंसरेट लिखता है कि "अकबर शाहजादियो की शिक्षा-दीक्षा का बडा ध्यान रखता है। उन्हे मनुष्यों की नजरों से दूर रखा जाता है। उन्हें लिखना पढ़ना सिखाया जाता है और वृद्ध स्त्रियाँ उन्हें अन्य बातों की शिक्षा देती हैं।"[2] उक्त कथन से अनुमान लगाया जा सकता है कि अत:पुर की स्त्रियो को शिक्षा दी जाती रही होगी शाहजहाँ की पुत्री जहानारा बेगम और औरगजेब की पुत्री जैबुन्निसा सफल कवयित्री थी। जैबुन्निसा ने एक साहित्य अकादमी और एक पुस्तकालय की स्थापना की थी।

हिंदू शिक्षा

प्राचीन काल में तक्षशिला, नालंदा और विक्रमशिला जैसे उच्च शिक्षा के

1. गुलबदन बेगम, हुमायूँ नामा।
2, मौंसरेट, कमेंटारियस, पृ० 203।

विश्वविख्यात केंद्र अब न थे। मुगलकाल में हिंदू शिक्षण-संस्थाएँ केवल अपने लघु रूप में दृष्टिगत होती है। ये शिक्षण संस्थाएँ तीन प्रकार की थी, यथा पाठशालाएँ, विद्यालय और गुरुशालाएँ। पाठशालाओ मे केवल प्राथमिक शिक्षा दी जाती थी। विद्यालय उच्च शिक्षा के केंद्र थे, जिनमे संस्कृत भाषा और साहित्य का अध्ययन कराया जाता था। इनमे पुराण, वेद, दर्शन, औषधि शास्त्र, ज्योतिष, काल-गणना, इतिहास और भूगोल आदि भी पढाये जाते थे। कुछ विद्यालयो में सगीत, भक्ति योग, अलकार कोष, तत्र और मल्ल विद्या सिखायी जाती थी। एक तात्कालिक कवि ने मुगलकाल मे पढाये जाने वाले विषयो का उल्लेख किया है,[1] जो इस प्रकार है—विभिन्न शास्त्र, न्याय रक्षित, पजिका टीका,[2] और अमर सिंह कृत अमर कोष और दडी कृत दशकुमारचरितम् और काव्य दर्शन आदि। छद सूत्र नामक पिंगल और जैमिनी, भारतमित्र, कालिदास के मेघदूत, कुमारसभव आदि भी पाठ्य ग्रंथ थे।

वाराणसी, मथुरा, प्रयाग, अयोध्या, नवद्वीप (बगाल) मिथिला, श्रीनगर आदि उच्च शिक्षा के प्रमुख केंद्र थे। वाराणसी के विषय मे अबुल फजल[3] ने लिखा है कि 'अनादि काल से यह हिंदुस्तान का मुख्य विद्या केंद्र था। देश के सुदूर-तम भागो के लोग बडी सख्या मे विद्या प्राप्त करने यहा आते है और बडी श्रद्धापूर्ण लगन से अध्ययन करते है।'

अनेक ब्राह्मण अपना सपूर्ण जीवन वेद शास्त्रो के पठन-पाठन में लगा देते थे और अपने आवास पर ही कुछ शिष्यो को शिक्षा देते थे। ये ही गुरुशालाए थी। इनके विषय मे प्रसिद्ध यात्री बर्नियर ने कहा है 'अध्यापक नगर के विभिन्न भागो में निजी आवासो मे और मुख्य रूप से नगर के लगे उन बागो में रहते है जिनमे कि धनी व्यापारियों ने उन्हें रहने की अनुमति दी है। इनमे कुछ अध्यापको के चार शिष्य, कुछ के छ या सात और बहुत ही सुप्रसिद्ध के 12 या 15 शिष्य होते है। साधारणतया ये छात्र 10-12 वर्ष तक अपने-अपने गुरुओ के साथ रहते है।'[4] बर्नियर किसी कारणवश भारत में उच्च शिक्षा के केंद्र नही देख सका, किंतु उच्च शिक्षा के विकास का उल्लेख प्रसिद्ध योरोपीय यात्री टेव-र्नियर (दिसबर 1665) ने किया है। इसने वाराणसी मे राजा जयसिंह द्वारा स्थापित विद्यालय की कार्यप्रणाली का वर्णन किया है।[5] नवद्वीप (बंगाल) सर्वा-

---

1 मुकुदराम कृत कवि ककण चडी।

2 औषधि ग्रथ, विजय रक्षित की टीका।

3. आइन-ए-अकबरी।

4. कांसट बिल द्वारा सपादित बर्नियर ट्रेवल्स, पृ० 334 और आगे।

5 टैवर्नियर ट्रैवल्स, भाग 2, 234 और आगे।

धिक प्रसिद्ध विद्या केंद्र था जहा देश के विभिन्न भागो से विद्यार्थी उच्च शिक्षा के (विशेषकर नव्य न्याय) अध्ययन के लिए आते थे। सोलहवीं शताब्दी के वृन्दावनदास ने नवद्वीप के प्रख्यात अध्यापकों की प्रशंसा की है। रघुनाथ शिरोमणि ने **तत्त्व चिंतामणि** पर एक टीका लिखी है। वे सभवत नवद्वीप में नव्य न्याय के प्रणेता थे। वहा तर्क शास्त्र की एक अकादमी थी।[1] इसके अतिरिक्त मिथिला (उत्तरी बिहार) भी विद्या का प्रख्यात केंद्र था। कहा जाता है कि नवद्वीप के प्रसिद्ध तर्कशास्त्री वासुदेव सार्वभौम ने मिथिला में अध्ययन किया था और नवद्वीप के अनेक विद्यालयो ने मिथिला के अध्यापको से प्रेरणा ली थी। शाहजहा के काल में भी मिथिला की ख्याति थी।[2]

बालिकाओ के लिए कोई पृथक् विद्यालय नही थे। प्रारभ में वे बालकों के साथ ही पढती थी, किंतु उच्च शिक्षा के लिए कोई व्यवस्था न थी। सभवत. वे अध्यापको के द्वारा घर मे ही उच्च शिक्षा प्राप्त करती थी। क्योंकि तात्कालिक साहित्य[3] मे भी सुशिक्षित स्त्रियो का उल्लेख मिलता है। इच्छावती नामक स्त्री साहित्य, काव्य और सगीत तथा रुक्मणि व्याकरण, पुराणो, स्मृतियो, शास्त्रों, वेद-वेदागो मे निपुण थी। इसके अतिरिक्त नर्तकिया और वेश्याए भी थी जो नृत्य एव सगीत मे पारगत होती थी।

फारसी साहित्य का विकास

भारत में मुगल वश का प्रथम सम्राट् बाबर स्वय तुर्की और फारसी का एक विद्वान् लेखक और कवि था।[5] उसने **तुजुक-ए-बाबरी**[4] नामक अपनी आत्म-कथा तुर्की भाषा में लिखी थी। जब वह भारत आया तो मध्य एशिया से अनेक कवि और इतिहासकार साथ लाया था।[6]

बाबर का पुत्र हुमायू स्वय विद्या प्रेमी था और विद्वानो की कद्र करता था और उन्हे आश्रय प्रदान करता था। उसके दरबार में ख्वादामीर और बयाजिद नामक इतिहासकार थे। हुमायू इस्लाम धर्म के अतिरिक्त तुर्की, फारसी साहित्य,

---

1 विद्याभूषण, हिस्ट्री आफ इंडियन लाजिक पृ० 461-89।

2. आइन-ए-अकबरी।

3 भारत चद्र कृत विद्या सुदरी।

4. एस० एम० जाफर कृत मुगल एंपायर, पृ० 27-28।

5. मेम्वायर्स आफ बाबर।

6. कवियों में अयुल वाहिदफरीगी, नादिर समरकदी, ताहिर ख्वादी और इतिहासकारों में जैन-उल-आब्दीन ख्वाफी, मिर्जा हैदर दोगलत, के नाम प्रमुख हैं।

दर्शन, ज्योतिष और गणित का ज्ञान रखता था। उसकी बहन गुलबदन बेगम ने सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्रंथ **हुमायूं नामा** की रचना की थी।

अकबर का शासनकाल भारतीय इतिहास मे सास्कृतिक पुनरुत्थान का युग था। अकबर की सहिष्णु एवं उदार नीति उसके विद्याप्रेम और कुशल प्रशासन के फलस्वरूप स्थापित आतरिक शांति एव समृद्धि ने साहित्य के विकास में विशेष योग दिया। इस काल के फारसी साहित्य को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम मौलिक रचनाएं और दूसरे अनुवाद। मौलिक रचनाओ में काव्य ग्रंथों और गद्य ग्रंथों का विशेष महत्त्व है। अबुल फजल के अनुसार अकबर के दरबार में अनेक कवि थे, जिन्होने अनेक दीवान और मसनविया लिखी।[1] शेख अबुल फैज फैजी को इस काल का सर्वश्रेष्ठ कवि माना जा सकता है। वह राजकवि था। अकबर ने उसकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर 'मालिक-उश-शोहरा' (कविराज) की उपाधि दी थी।[2] उसका प्रसिद्ध काव्य ग्रथ **नलदमन** है। उसकी रचनाओ में अद्भुत कल्पना शक्ति है। उसने अनेक कसीदो की रचना की है। इसके काल में कुछ ऐसे भी कवि थे जो बाहर (ईरान आदि) से अपनी रचनाएं भेजते थे। गद्य लेखन के क्षेत्र में कई ऐतिहासिक ग्रथ और **कुरान** की अनेक टीकाएं लिखी गयी। अबुल फजल अल्लामी ने **आइन-ए-अकबरी** और **अकबर नामा**, अब्दुल कादिर बदायूनी ने **मुंतखब-उत-तवारीख**[3] निजामुद्दीन अहमद ने **तबकात-ए-अकबरी**,[4] जौहर ने **तजकिरात-उल-वाकियात** और गुलबदन बेगम ने **हुमायूं नामा** नामक ऐतिहासिक ग्रथो की रचना की। इस काल में कुछ अन्य ऐतिहासिक ग्रथो की रचना हुई यथा मुहम्मद आरिफ कंधारी कृत **तारीख-ए-अकबरशाही**, अब्बास सागानी कृत **तुहफा ए-अकबरशाही उर्फ तारीख शेरशाही**, मौलाना अहमद तथा अन्य द्वारा रचित **तारीख-ए-अल्फी**, मोहम्मद कासिम हिंदू शाह कृत **तारीख-ए-फरिश्ता**, अहमद यादगार कृत **तारीख-ए-सलातीन-ए-अफगाना**, शेख नूरुलहक कृत **जब्दत-उत-तवारीख**, शेख अहलदाद फैजी सरहिंदी कृत **अकबरनामा** तथा **वकाया**।

अकबर ने हिंदू मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय स्थापित करने के लिए अनेक पुस्तकों का अनुवाद कराया तथा अनुवाद विभाग की स्थापना की। इसके अंतर्गत संस्कृत, अरबी, तुर्की, और ग्रीक भाषाओं के अनेक ग्रथों का अनुवाद

---

1. ब्लाकमैन द्वारा अनूदित आइन-ए-अकबरी। पृ० 618।
2. वही। उसने बाद को फयाजी नाम से भी रचनाएं की।
3. यह ग्रथ अकबर की मृत्यु के बाद जहांगीर के काल में प्रकाशित हुआ।
4. इसे तवारीख-ए-निजामी भी कहते हैं।

राजभाषा फारसी में कराया। इस योजना के अंतर्गत जिच-ए-अबोव-ए-मिरजई के एक भाग का फारसी में अनुवाद हुआ। ज्योतिष ग्रंथ तजक और तुजुक बाबरी फारसी में अनूदित किये गये। अरबी ग्रंथ मुजमुल-बुल्दान का अनुवाद हुआ। अबुल फजल ने अनेक संस्कृत ग्रंथो का फारसी में अनुवाद किया। नकीब खा बदायूनी और शेख सुल्तान द्वारा महाभारत का फारसी में रज्मनामा नाम से अनुवाद किया गया। रामायण का भी अनुवाद हुआ। फैजी ने गणित के संस्कृत ग्रंथ लीलावती और मौलाना शेरी ने कश्मीर का इतिहास (संस्कृत) का अनुवाद किया। अबुल फजल ने पंचतंत्र की कथाओं का अनवर-ए-साहिली के नाम से अनुवाद किया और फैजी ने नल दमयंती की कथा का अनुवाद फारसी में किया।

जहागीर स्वय अपने पितामह के समान उच्च कोटि का विद्वान् और समालोचक था। इसने तुजुक-ए-जहांगीरी[1] नामक आत्मकथा फारसी में लिखी।[2] उसने भी अनेक विद्वानो संरक्षण प्रदान किया। इनमें से मोतमद खा ने इकबालनामा-ए-जहांगीरी और कामदार खा ने मआसीर-ए-जहांगीरी नामक विख्यात ग्रथो की रचना की। इसके अतिरिक्त कुरान पर भाष्य लिखे गये और काव्य रचना हुई किंतु अनुवाद कार्य न हो सका।

शाहजहा का काल मुगलकाल का स्वर्ण युग कहलाता है। इस काल में प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति हुई। साहित्यिक क्षेत्र में भी अछूता न रहा। उसने विद्वानो और कवियो को सरक्षण प्रदान किया।[3] इनमे अबूह तालिब कलीम, हाजी मोहम्मद जान और चद्रभान ब्रहमन विशेष उल्लेखनीय हैं। उसने कलीम को राजकवि नियुक्त किया, जिसने साकीनामा लिखा। उसके दरबारी इतिहासकार अब्दुल हमीद लाहौरी ने पादशाहनामा लिखा। अमीन काजविनी ने एक अन्य पादशाहनामा लिखा। सौदाई गीलानी फरसी का कवि था। इनायत खा ने शाहजहांनामा और मोहम्मद सालिह ने अमल-ए-सालिह की रचना की। शाहजहा का ज्येष्ठ पुत्र द्वारा[4] अरबी, फारसी और संस्कृत का ज्ञाता था। उसने सूफीदर्शन पर ग्रंथ लिखे। शाहजहा ने अनुवाद कार्य में रुचि ली। द्वारा शिकोह ने कुछ उपनिषदों भगवद्गीता और योगवशिष्ठ नामक ग्रंथों का अनुवाद किया। इब्न

1. इसमें 17 वर्षों का ब्योरा स्वयं जहागीर ने और दो वर्षों का मोतमद खा ने लिखा।

2 डॉ० बेनी प्रसाद कृत हिस्ट्री आफ जहागीर, 418।

3. डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना, हिस्ट्री आफ शाहजहा आफ डेलही पृ० 246।

4. दारा ने सफीनत-उल-औलिया, मज्म-उल-बहरैन की रचना की।

हरकरन ने **रामायण** का फारसी मे अनुवाद किया। मुंशी बनवाली दास ने **प्रबोध चंद्रोदय** का फारसी में अनुवाद किया।

औरंगजेब एक उच्च शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति तथा इस्लामी धर्मशास्त्र और न्याय शास्त्र का ज्ञाता था। कविता में उसकी रुचि नही थी। वह ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे जाने के पक्ष में नही था, तथापि उसके सरक्षण के बिना भी कुछ ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे गये। इनमें से ख्वाकी खा कृत **मुन्तखब-उल-लुबाब**, मिर्जा मोहम्मद काजिम कृत **आलमगीरनामा**, साकी मुस्ताद कृत **मासीर-ए-आलमगीरी**, ईश्वर दास नागर कृत **फतूहात-ए-आलमगीरी** और भीमसेन कायस्थ बुरहानपुरी कृत **नुस्ख-ए-दिलकुशा** नामक ग्रंथ उल्लेखनीय है। औरंगजेब के सरक्षण में उलमा लोगों ने **फतवाए-आलमगीरी** नामक वृहत् **संहिता** की रचना की। इसमें इस्लामी कानून का पूरा विवरण है। औरगजेब के उत्तराधिकारी फारसी साहित्य को विकास एव संरक्षण प्रदान करते रहे।

उर्दू का विकास

मुगल सम्राट् बाबर ने तुर्की मे लिखित अपनी आत्मकथा '**तुजुक-ए-बाबरी**' में उर्दू (हिंदवी) के शब्दों का प्रयोग किया है, यथा हाथी, पान, गिलहरी, दोपहर आदि।

अकबर ने हिंदू मुसलमानो को सन्निकट लाने के लिए बड़ा प्रयत्न किया। जातीय मिश्रण के फलस्वरूप भाषा का मिश्रण हुआ। अत: उर्दू या हिंदवी की लोकप्रियता बढ़ने लगी।[1] अब बोलचाल की भाषा के साथ-साथ इसका साहित्य भी विकसित होने लगा था। शाहजहा और औरगजेब के काल में यह और विकसित हो गयी थी और उसी समय से उर्दू शायरी की परपरा विकसित होने लगी थी। शाहजहा के दरबारी पं० चंद्रभान ब्रहमन[2] शायरी करते थे। दूसरे उर्दू कवि अब्दुल गनी कश्मीरी[3] ने उर्दू कविता के विकास में पूर्ण योगदान किया। इन्ही कवियों के पदचिह्नो पर चलकर शम्सउद्दीन 'वली'[4] ने

---

1. अकबर के काल में 'हिंदवी' को लोग 'रेख्ता' के नाम से जानने लगे थे।
2. इनकी गजल का एक शेर—
   "खुदा ने किस शहर के अंदर हमन को लाय डाला है।
   न दिलबर है, न साकी है न शीशा है न प्याला है॥"
3. इनका शेर है—
   "दिल यों खियाले जुल्फ में फिरता है नारा जन।
   तारीक शब में जैसे कोई पासबां फिरै॥"
4. इनका जन्म औरंगाबाद में 1668 ई० में हुआ था। अहमदाबाद में मौलाना वहीदुद्दीन के मदरसा में उच्च शिक्षा ग्रहण की।

उर्दू कविता में बड़ी ख्याति अर्जित की। उन्हें आधुनिक उर्दू साहित्य का जन्मदाता माना गया है। उन्होंने दिल्ली में (1700 ई०) सूफी कवि शाह सादउल्ला गुलशन के संपर्क में आकर उर्दू में शायरी अरंभ की। मुगल सम्राट् मोहम्मद शाह के निमंत्रण पर वे दिल्ली आए और उन्होने अपनी प्रसिद्ध रचनाएं मुगल सम्राट् को सुनायी।[1] वली के समय उर्दू कविता का तीव्र गति से विकास हुआ। इनके बाद आबरू आरजू, हातिम, मजहर, जानजाना, मीर, दर्द और सौदा नामक उस्ताद हुए जिन्होने उर्दू शायरी को समृद्ध बनाया।[2] बाद में उर्दू कवि दो स्कूलों मे विभक्त हो गये। लखनऊ स्कूल और दिल्ली स्कूल। लखनऊ स्कूल के अंतर्गत आतिश, नासिखा, मीर, अनीस आदि स्वनामधन्य उर्दू शायर हुए। दिल्ली स्कूल के अंतर्गत जौक, गालिब और मोमिन सरीखे प्रख्यात शायर हुए। गालिब ने अपनी रचनाओ में तर्क और दर्शन का समावेश किया।[3]

सैयद सुलेमान नदवी के अनुसार "आजकल बाज फाजिलों ने पंजाब में उर्दू और पजाब में बाज अहले दकन ने दकन उर्दू और बाज अजीजों ने गुजरात में उर्दू का नारा बुलंद किया। लेकिन हकीकत यह मालूम होती है कि हर मुम्ताज सूबे की मुकामी बोली मे मुसलमानो की आमद व रफ्त और मेलजोल से जो तग्यूरात हुए उन सबका नाम उर्दू रखा गया है।"[4]

हिंदी साहित्य का विकास

मुगलकाल में हिंदी का साहित्यिक भाषा के रूप में द्रुत गति से विकास हो रहा था। अकबर के शासन काल के पूर्व हिंदी काव्य का पर्याप्त विकास हो चुका था। अकबर की हिंदुओ के प्रति सहिष्णु नीति के फलस्वरूप बौद्धिक एव साहित्यिक प्रगति के लिए अनुकूल वातावरण तैयार हो गया। परिणाम स्वरूप हिंदी कवियों द्वारा उच्चकोटि के काव्य ग्रंथ लिखे गये। इन कवियों मे तुलसी-

---

1. इनकी गजल के दो शेर ये हैं—
   "फिर मेरी खबर लेने वह सैयाद न आया।
   शायद कि मेरा हाल मेरा याद न आया।।" और
   "आरजू चश्म-ए-कौसर नही, तिश्ना लब हूँ शर्बते दीदार नही।"
2. वली के संबंध में मीर का एक शेर इस प्रकार है—
   "खूंगर नही कुछ यूं ही हम रेखता गोई के,
   माशूक जो अपना था बाशिंदा दकन का था।।"
3. एक उदाहरण देखिए—
   "रंज से खूंगर हो इंसा तो मिट जाता है रंज,
   मुश्किलें इतनी पड़ी मुझ पर कि आसां हो हो गयी।"
4. सैयद सुलेमान नदवी, मकालाते-उर्दू, पृ० 51।

दास, सूरदास, अब्दुल रहीम खानखाना, रसखान और बीरबल सर्वाधिक विख्यात हैं। तुलसीदास ने अनेक उच्च कोटि के ग्रंथ लिखे जिनमें **रामचरितमानस** सर्वाधिक लोकप्रिय है। वे राम के उपासक थे। **रामचरितमानस** एक श्रेष्ठ महाकाव्य है और तुलसीदास एक महान् प्रतिभाशाली कवि और उनके चरित्रनायक अपने वीर युग के सजीव पात्र है। हिंदी के दूसरे प्रख्यात कवि सूरदास हैं जिन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की। उनका ग्रथ **सूरसागर** बडा ही लोकप्रिय ग्रथ है। यह मुक्तक छदो की रचना है। सूर कृष्ण के उपासक थे। उनका बाल मनोविज्ञान का ज्ञान अद्भुत था। वे अकबर के दरबार से सबधित थे। अकबर के काल मे अनेक ऐसे मुसलमान हिंदी कवि हुए, जिन्होंने भारतीय सकृति की सफल व्याख्या की है। इन लेखकों में अब्दुर्रहीम खानखाना प्रमुख है जो फारसी, अरबी, तुर्की और संस्कृत के विद्वान् तथा हिंदी के श्रेष्ठ कवि थे। ये तुलसीदास के मित्र थे। इसके लिखे सहस्त्रों पद उपलब्ध हैं। कृष्ण को आराध्य मानकर रचना करने वाले मुसलमान कवि रसखान का इस युग के कवियो में निजी स्थान है। वे कृष्ण-भक्त कवि थे। उन्होने वृन्दावन में कृष्णलीला का वर्णन किया है। अकबर के अतिरिक्त उसके दरबारी बीरबल, मानसिंह और टोडरमल हिंदी कविता प्रेमी और कवियों के आश्रयदाता थे। अनुश्रुति है[1] कि अकबर स्वयं हिंदी का कवि था। अकबर के काल में हिंदी के प्रसार इतना हुआ कि गावो मे भी जमीनदारो के सरक्षण में अनेक हिंदी कवि आश्रय पाने लगे थे।[2]

जहागीर के काल में हिंदी साहित्य का प्रसार होता रहा। उसने जदुप गोसाईं, रामममनोहर लाल, बूटा तथा वृक्ष राज और किशन दास आदि हिंदी के विद्वानों को प्रश्रय दिया था। इस काल के सर्वाधिक ख्याति प्राप्त कवि केशव दास थे जिनकी अमर काव्य कृतियों में **रामचंद्रिका** सर्वाधिक प्रख्यात है। इनकी **कविप्रिया** और **अलकार मजरी** उस युग के पिंगल और छद शास्त्र के अनुसार आदर्श कृतियाँ हैं। जहागीर का अनुज दानिचद हिंदी का कवि था।

शाहजहाँ ने भी अपनी वंश परपरा का अनुसरण करते हुए हिंदी के प्रसार में योगदान दिया। उसने तिरहुत के दो हिंदी कवियो को खिलअत और प्रत्येक को सोलह सहस्त्र रुपये का पुरस्कार देकर सम्मानित किया। शाहजहाँ के काल के कवियों में सुदर कविराम चितामणि, मतिराम, देव, बिहारी और कवीद्र आचार्य उल्लेखनीय हैं। प्रख्यात कवि हरिनाथ, शिरोमणि मिश्र और वेदाग राय उसके दरबारी कवि थे। शाहजहाँ ने सुदर कविराय को राजदूत के पद पर नियुक्ति करके सम्मानित किया है। मिर्जा राजा जयसिंह सुविख्यात कवि बिहारी

1 आइन-ए-अकबरी, 1, 520।

2. मिश्र बंधु विनोद और रामचंद्र शुक्ल का हिंदी साहित्य का इतिहास।

के संरक्षक और आश्रयदाता थे। इसके अतिरिक्त पांडु के प्राणनाथ और अहमदाबाद के दादू भी हिंदी के सुविख्यात कवि थे। इन दोनों कवियों ने दोनों धर्मों में सद्भाव उत्पन्न करने के लिए सफल प्रयास किया। ये प्राणनाथी और दादूपंथी संप्रदायो के प्रवर्तक थे।

शाहजहा के शासन काल के उत्तरार्द्ध (1643 ई०) से हिंदी साहित्य का तीसरा युग (रीतकाल) प्रारभ होता है। कुछ विद्वानों ने इसे शृंगार रस की प्रधानता के कारण 'शृगार काल' कहा है। इसी को 'कला काव्य' और अलकृत युग भी कहा गया है। यह इसलिए कि इस युग का रचनाशिल्प कलात्मकता और अलकरण पर अधिक बल देता रहा था।

औरंगजेब के शासनकाल में हिंदी को क्षति पहुँची। यद्यपि हिंदी के प्रति उसका रूख कठोर था, तथापि अनेक हिंदू राजाओ ने हिंदी के कवियों को प्रोत्साहन दिया भूषण, मतिराम और वृन्द आदि कवियो ने हिंदू राजाओं के सरक्षण में अपनी अमर कृतियों का सृजन किया। किंतु राज्य सरक्षण के अभाव मे 18 वी शताब्दी मे हिंदी की काव्य शैली और भावों का ह्रास होने लगा।

संस्कृत साहित्य का विकास

बाबर और हुमायू ने हिंदी की भाति सस्कृत में भी रूचि नही ली। किंतु अकबर ने सस्कृत को भी प्रश्रय दिया। संस्कृत के अनेक कवि और विद्वान् उसके दरबार मे थे। अकबर उनकी कविता को सुनकर उनसे हिंदू विचारधारा पर विचार विमर्श करता था। अकबर ने सर्वप्रथम फारसी प्रकाश नामक फारसी सस्कृत शब्दकोश सकलित कराया। इस काल के हिंदू पंडितों एव जैनाचार्यों ने अनेक ग्रंथो की रचना की। दरभगा के महेश ठाकुर ने संस्कृत के **अकबरकालीन इतिहास** लिखा।[1] जैन विद्वान् पद्मसुदर ने **अकबर शाही शृंगार दर्पण** की रचना की। दूसरे जैन विद्वान् सिद्धिचद्र उपाध्याय ने **भानुचंद्र चरित** की रचना की। तीसरे जैन विद्वान् देव विमल ने संस्कृत में **हीर सौभाग्यम्** की रचना कर उसे हीर विजय सूरि को समर्पित किया। इसमें जैन भिक्षुओ की गतिविधियों, जैन आचार-व्यवहारों एवं त्यौहारो का विवरण मिलता है। हीर विजय के एक शिष्य ने **कृपारसार कोष** लिखा।

जहागीर ने अपने पिता का अनुसरण कर संस्कृत के विद्वानों और कवियों को आश्रय प्रदान किया। शाहजहा ने भी अपने पूर्वजो की नीति का अनुसरण किया और संस्कृत के विद्वानों को प्रश्रय दिया। **रस गंगाधर और गंगालहरी** के

---

1. इसे गंगा ओरियटल सिरीज ने अनूप संस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर से प्रकाशित किया।

रचयिता पंडित राज जगन्नाथ शाहजहा के राजकवि थे। एक और संस्कृत के विद्वान् कवींद्र सरस्वती भी शाहजहा के दरबारी और कृपापात्र थे। इसके अतिरिक्त अन्य सस्कृत कवि भी थे, जिनका नामोल्लेख इतिहासकार अब्दुल हमीद लाहौरी ने किया है। औरंगजेब और उसके बाद के मुगल शासकों ने संस्कृत के साथ बिल्कुल न्याय नही किया फलत सस्कृत की उन्नति न हो सकी।

बंगला साहित्य

मुगलकाल मे बगला साहित्य की बडी उन्नति हुई। बगला साहित्य को भी धर्म से प्रेरणा मिली। चैतन्य महाप्रभु के बगला में प्रभाव के फलस्वरूप ही अनेक बंगला-ग्रंथो की रचना हुई जिनसे वैष्णव भक्तो और महात्माओं के जीवन वृत्त के अतिरिक्त तत्कालीन बगला हिंदू समाज का प्रामाणिक एव रोचक विवरण प्राप्त होता है। इन सर्वोत्कृष्ट रचनाओ मे कृष्णदास कविराज कृत **चैतन्य चरितामृत**, गौराग महाप्रभु की सर्वश्रेष्ठ जीवन वृत्त है। इसी विषय पर अन्य ढग से वृन्दावनदास कृत **चैतन्य भागवत** की रचना हुई। नरहरि चक्रवर्ती कृत **भक्ति रत्नाकर** चैतन्य महाप्रभु के जीवन की वृहत्कथा है। इसके अतिरिक्त वैष्णव सिद्धातो पर अनेक छोटे-छोटे ग्रथो की रचना हुई। मूल ग्रथो के अतिरिक्त इस काल में अनुवाद ग्रथ भी लिखे गये, जिनमे मुकुदराम चतुर्वेदी द्वारा अनूदित **कवि ककण चडी**, काशीदास द्वारा अनूदित **महाभारत** और कृतिवास द्वारा अनूदित **रामायण** बगाल मे बडी जनप्रिय है। इसी प्रकार अन्य प्रादेशिक भाषाओ, यथा राजस्थानी, गुजराती, मराठी, तेलगु, उडिया और मैथिली आदि के साहित्य में भी अभिवृद्धि हुई।

मुगलकालीन कला

स्थापत्य कला (1526-1707 ई०)

बाबर के विजयोपरात स्थापत्य कला के क्षेत्र मे नव-युगारंभ हुआ। बाबर के आगमन से स्थापत्य कला के क्षेत्र में एक विशेष शैली का विकास हुआ, जिसे 'मुगल स्थापत्य कला शैली', 'इडोपर्शियन स्थापत्य शैली' और 'इडो-सारसेनिक स्थापत्य कला शैली' नाम दिये गये है। इस शैली का विकास बाबर के सत्तारूढ़ होने के बाद से प्रारंभ हुआ और शाहजहा के काल में यह चरम सीमा पर पहुँच गयी थी।

बाबर के सत्तारूढ होने के बाद भारत का सांस्कृतिक संबध मध्य एशिया से पुनः स्थापित हो जाने से मुगल दरबार में समरकंद, ईरान, इटली और फ्रास आदि देशों से शिल्पकार आने लगे और उन्होंने अपनी शैली को प्रस्तुत कर मुगल स्थापत्य कला शैली के विकास में अपना योगदान दिया, किंतु वास्तव में विदेशी शैली भारतीय परंपराओ मे ढल गयी। तैमूरलग भारत के आक्रमण के

बाद जब वापस गया था तो भारत से अनेक शिल्पियों को समरकंद ले गया था और वे बाबर के आक्रमण के साथ फिर भारत आ गये, इस प्रकार उनकी स्थापत्य कला शैली में विदेशी प्रभाव का सुदर समन्वय हुआ। मुगल स्थापत्य में विदेशी तत्वों का समावेश तो हुआ किंतु उसको यहां के पर्यावरण में ढाल कर भारतीयता का स्वरूप प्रदान किया गया।

बाबर कालीन स्थापत्य

बाबर कला प्रेमी था। उसे सुलतानों के काल की बनी इमारतें सुदर नही लगी, किंतु वह ग्वालियर की स्थापत्य कला से प्रभावित हुआ था।[1] ग्वालियर के महल सोलहवी शताब्दी के प्रथम चरण के हिंदू कला के सुदर उदाहरण है और जब उसने अपने लिये इमारते बनवायी तो वे उसके लिए नमूने बन गये। उसने आगरा सीकरी, धौलपुर, बयाना, अलीगढ और ग्वालियर में स्नानगृह, कुए,[2] तालाब और फव्वारे आदि बनवाये थे, जो सुदृढ न होने के कारण नष्ट हो गये। उसके द्वारा निर्मित करायी गयी केवल दो इमारतें शेष है, उदाहरणार्थ पानीपत की काबुली बाग की विशाल मस्जिद और रुहेलखंड में संभल की जामा मस्जिद। ये दोनो ही 1526 ई० में बनकर तैयार हुई थी। बाबर के काल की निर्मित तीसरी इमारत भी मस्जिद है, जो बाबर के आदेश से अब्दुल बकी ने अयोध्या मे निर्मित करायी थी।

हुमायू भी कला प्रेमी था, किंतु दुर्भाग्यवश उसका सपूर्ण राज्यकाल कष्टमय रहा। इसलिए वह किसी कलात्मक भवन का निर्माण न करा सका। दिल्ली में उसके 'दीन पनाह' नामक भवन बनवाया था, जिसका निर्माण बडी शीघ्रता में हुआ था। अत उसमे कलात्मक सौंदर्य एवं सुदृढता का अभाव था, इसीलिए वह शेष न रह सकी। इसके अतिरिक्त उसने आगरा और फतेहाबाद (हिसार) में दो मस्जिदें बनवायी थीं, जिनके भग्नावशेष विद्यमान हैं। हुमायूं की मृत्यु के उपरात उसकी बीबी हाजी बेगम ने दिल्ली मे हुमायूं का मकबरा बनवाया था, जो मुगल स्थापत्य कला का सुदर उदाहरण है। इसमें चहारदीवारी निर्मित है, जो मकबरों से सबसे पहले बनवायी गयी थी।

शेर शाह ने स्वय सहसराम (बिहार) में अपना मकबरा बनवाया था। यह मुगल स्थापत्य कला का सभवत' सर्वाधिक सु दर नमूना है। इसकी डिजायन मुस्लिम है, किंतु इसमें भीतरी भाग में हिंदू स्थापत्य कला के दर्शन होते है। आलोचकों का मत है कि यह मकबरा "तुगलक काल की इमारतों के गाभीर्य और शाहजहां की महान् कृति ताजमहल के नारी सुलभ सौंदर्य के बीच संपर्क

1. देखिये, कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, 4, 523।

2. वही, 524।

स्थापित करता है।" शेरशाह ने दिल्ली मे हुमायू के 'दीप पनाह' नामक महल को गिरवा कर एक किला बनवाया था जिसका एक भाग अवशिष्ट है।

अकबर भारत मे एक मिश्रित हिंदू-मुस्लिम संस्कृति के स्वप्न को साकार करना चाहता था। इसलिए उसने प्रत्येक क्षेत्र में दोनो सस्कृतियों को समन्वित करने का प्रयास किया। स्थापत्य कला के क्षेत्र में उसी भावना का प्रभाव पडा। इसीलिये उसके द्वारा बनवायी गयी इमारतो मे ईराकी तथा भारतीय स्थापत्य कला के तत्त्व स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं। उसने दोनो शैलियो के बीच सामजस्य स्थापित किया। अकबर का समकालिक इतिहासकार[1] लिखता है कि "बादशाह सुदर भवनो की योजना बनाता है और अपने मस्तिष्क एव हृदय के विचारो को पत्थर और गारे का रूप प्रदान करता है।" इसीलिए उसके द्वारा बनवाए गये भवनो मे उसके व्यक्तित्व की छाप है। उसके काल मे स्थापत्य कला की जो शैली विकसित हुई वह वास्तव मे हिंदू और मुस्लिम शैलियो का समन्वय है।[2]

अकबर द्वारा निर्मित इमारतों मे अधिकतर लाल पत्थर और सगमरमर का प्रयोग हुआ है। उसने देश की सुरक्षा को ध्यान मे रखकर अनेक किलो (आगरा, लाहौर, इलाहाबाद) का निर्माण कराया था।

अकबरी शैली का सर्वप्रथम उदाहरण आगरा का किला है। इसका निर्माण 1565 ई० मे अकबर के दरबार के प्रधान स्थपित कासिम खा की देखरेख मे प्रारभ हुआ था। इसको हजारो कारीगरो ने 15 वर्षों मे पूरा किया था। इसमें लगभग 35 लाख रुपये व्यय हुए थे। यह किला यमुना नदी के किनारे पर लगभग डेढ मील के घेरे में स्थित है। यह लाल पत्थरो से निर्मित है। इसकी दीवारें लगभग 70 फुट ऊँची हैं। दीवारों के विषय में कहा जाता है कि "ऊपर से नीचे तक आग जैसे लाल पत्थरो को, भीतर मिट्टी, गारे और ककरीट और बाहर लौह के कडों से इस बारीकी से जोडा गया है कि उनके जोड मे एक बाल भी नही जा सकता है।"[3] इसके दो प्रवेश द्वार हैं। पश्चिमी द्वार को दिल्ली दरवाजा कहते हैं। पर्सी ब्राउन के अनुसार[4] "यह निसदेह भारत के सर्वाधिक प्रभावशाली दरवाजो मे से एक है।" इसके मुख्य प्रवेश द्वार या महराबी द्वार पर दोनो ओर दो बुर्ज हैं, जिससे यह प्रभावशाली और कलात्मक लगता है। ये बुर्ज अठपहले हैं और इनमें अनुरूपता है। इनमे कोष्ठको और बालकनियों

1 अबुल फजल कृत आइन-ए-अकबरी, 1, 222।

2. फर्ग्युसन, ए हिस्ट्री आफ इडियन एड ईस्टर्न आर्कीटेक्चर, 297।

3 पर्सी ब्राउन, इण्डियन आर्किटेक्चर (इस्लामिक पीरियड) पृ 100।

4. वही।

का सुंदर प्रयोग हुआ है। महराबों को संगमरमर और उस पर विभिन्न डिजाइनों का निर्माण कर सुसज्जित किया गया है। इन पर फूल पत्तियों, पशु-पक्षियों का निर्माण हुआ है।[1] दूसरा दरवाजा छोटा है, जो अमरसिंह द्वार कहलाता है।[2] यह बादशाह के निजी उपयोग के लिए था। किला के चारो ओर एक परिखा (खाई) थी, जिसमें पानी भरा रहता था।

किला के भीतर अकबर ने लाल पत्थरों से 500 से अधिक भवनों का निर्माण कराया था। ये भवन बगाल और गुजरात की सुंदर शैलियों में निर्मित थे। इनमें से अनेक भवनो को शाहजहा ने गिरवा कर उनके स्थान पर श्वेत संगमरमर के भवन बनवाये थे। किंतु अकबर की कुछ इमारतें अब भी शेष है।

जहागीरी महल आगरा के किला के अदर स्थित है। इसे अकबर ने अपने पुत्र तथा उत्तराधिकारी शहजादा सलीम (जहागीर) के निवास के लिए बनवाया था। यह लगभग वर्गाकार है इसकी लबाई 249 फुट और चौडाई 260 फुट है। इसके चारो कोनो पर चार छतरिया हैं। महल का प्रवेश द्वार नोकदार महराब का है। इसका निर्माण लाल पत्थर से किया गया है। केवल बाह्य भाग मे न्यून मात्रा मे संगमरमर का प्रयोग हुआ है। महल के अदर आगन है। इस महल की रचना, आकार एवं शैली हिंदू स्थापत्य कला से प्रभावित है। इसकी शैली ग्वालियर में निर्मित भवनों की भाति है। कहा जाता है कि ग्वालियर के किले में मानसिंह तोमर के किले को देखकर ही अकबर को जहागीर के लिए यह महल बनवाने की प्रेरणा मिली थी। जहागीरी महल के सामने एक प्यालानुमा हौज है, जिसके बाह्य भाग मे फारसी में कुछ पक्तिया उत्कीर्ण है।

आगरा के किला के अदर, जहागीरी महल के निकटस्थ अकबरी महल था जिसके अब केवल अब केवल मात्र भग्नावशेष रह गये हैं। क्योंकि इस भवन का निर्माण अकबर के शासन के प्रारभिक काल में हुआ है इसलिए इसमें अपेक्षाकृत कलात्मकता का अभाव है।

लाहौर के किला का निर्माण आगरा के किला के निर्माण के समय हुआ था। इसकी शैली भी आगरा के किला की शैली सरीखी है, किंतु उसकी

1. पशु पक्षियों का अकन कुरान के आदेशों के विपरीत है।

2. जोधपुर के रावश का एक सरदार अमरसिंह राठौर नागौर का जागीरदार और मुगल मनसबदार था। वह वहां से बच निकलने के प्रयत्न मे अपने घोडे की छलाग द्वारा दीवार लाघ कर इस द्वार के पास कूदा था। इसीलिए उसे अमरसिंह द्वार कहा गया। आजकल उक्त स्थान पर एक पत्थर के घोड़े की मूर्ति बनी है।

योजना उससे अधिक उत्कृष्ट है। पर्सीब्राउन के मतानुसार 'लाहौर के किला की योजना आगरा के किले की योजना से बहुत अच्छी है क्योंकि यह आयताकार है और इसकी भीतरी व्यवस्था क्रमानुसार सुनियोजित की गयी है।' इसके ब्रेकेटों पर हाथियों और सिहो और छज्जो पर मयूर की आकृतिया बनी है। इससे यह प्रतीत होता है कि इसका निर्माण कदाचित हिंदू स्थपतियों ने किया है।

अकबर ने इलाहाबाद के किला का निर्माण 1583 ई० मे कराया था। यह इलाहाबाद में सगम के निकट स्थित है। इसका अधिकाश भाग नष्ट हो गया है, किंतु अवशिष्ट भाग तत्कालीन कलात्मकता की साक्षी देता है। इनमे जनाना महल प्रमुख है। इसकी कलात्मकता एव अनुरूपता विशिष्ट है। इसमे कोष्ठकों का प्रयोग हुआ है, जो भारतीय स्थापत्य कला के अग है। इनमे स्तंभो का प्रयोग बडी कुशलता एव निपुणता से हुआ है।

अटक और अजमेर के किले का निर्माण मुगल साम्राज्य की सीमाओ की सुरक्षा की दृष्टि से किया गया था। अजमेर का किला 1570 ई० मे और अटक का किला 1581 ई० मे बना था। अटक का किला बहुत बडा है। अजमेर का किला छोटा है। अटक के किला के अब मात्र खडहर शेष रह गये है। अजमेर में अकबर ने अनेक भवनो का निर्माण करवाया, जिनमे किला और अकबरी मस्जिद उल्लेखनीय है।

सीकरी आगरा से तेइस मील की दूरी पर स्थित है। पहले यह एक साधारण गाव था, जहा सूफी सत शेख सलीम चिश्ती रहते थे। प्रारभ में अकबर के कोई पुत्र न था। अत पुत्र प्राप्ति की लालसा में वह सीकरी जाया करता था। अनुश्रुति है कि शेख सलीम के आशीर्वाद से अकबर को पुत्र-प्राप्ति हुई। अत सत के ही नाम पर पुत्र का नाम सलीम रखा गया। सीकरी नामक ग्राम को उसने नगर के रूप मे परिणत कर दिया तथा वहा पर अनेक इमारतो का निर्माण कराया।[1] गुजरात विजयोपरात इसका नाम फतेहपुर रखा। इस संपूर्ण नगर का निर्माण 14–15 वर्षों में पूरा हुआ था। आगरा दरवाजा इसका मुख्य प्रवेश द्वार था। यह पूर्व की ओर था, जिससे इसका रुख आगरा नगर की ओर था। इसकी दीवार में नौ द्वार थे। सीकरी की प्रमुख इमारतें ये है।

दीवान-ए-आम एक ऊंची मेधि पर स्थित है। इसके सामने एक बरामदा है, जिसके ऊपर लाल पत्थर के ढलावदार छज्जे हैं। इसमें आड़ के लिए सुदर जालिया लगी है। यह एक आयताकार कक्ष है, जिसमें अकबर अपना आम दरबार करता था। दीवान-ए-खास एक लघु आकार का भवन है (तेंतालिस फुट

---

1 देखिये बैवरिज द्वारा अनूदित तुजूक-ए-जहागीरी 1, पृ० 2 और बैवरिज द्वारा अनूदित अकबरनामा, 2,530 और आगे।

वर्गाकार), जिसकी निर्माण योजना सीकरी में निर्मित अन्य भवनों से भिन्न है। यह भी लाल पत्थरों द्वारा निर्मित है। इसमें एक डाटदार कक्ष की योजना है, जिसमें छत पटी है। प्रत्येक कोण पर ऊपर की ओर एक स्तंभयुक्त छतरी है। इसकी भीतरी योजना सुंदर, कलात्मक एवं अनोखी है। कक्ष के बीच में एक सुगढ़ स्तंभ है, जिसके ऊपरी भाग पर 36 सटे हुए फूल की पंखडियों सरीखे लहरियेदार ब्रेकेट हैं, जिनके ऊपर एक गोल पत्थर का मच सरीखा है[1] इस पर सम्राट् बैठकर विभिन्न धार्मिक सप्रदायों के प्रतिनिधियो के बीच हो रहे वाद विवाद सुनता था। राजकीय कोषागार दीवान-ए-खास के उत्तर की ओर स्थित है। इसमें अनेक कक्ष हैं। इसमें कोई कलात्मक विशेषता नही है। इसके भीतर के गहरे आले आभूषण के सदूक रखने के लिए बनाये गये थे। ज्योतिषी की बैठक पश्चिम में कोषागार से सलग्न है और पत्थर की मेधि पर स्थित है। यह चारो ओर से खुली हुई है और इस पर सुदर घनी खुदाई का काम है। पर्सी-ब्राउन ने इसकी अत्यधिक सजावट को ही इसका मुख्य दोष माना है।[2] इसकी निर्माण शैली में कोष्ठकों का प्रयोग है। इसमें बडे-बडे लहरियादार ब्रेकेट हैं, जो गुजरात और पश्चिमी भारत के जैन मदिरो में पाये जाते हैं। ज्योतिषी की बैठक के निकट पंच महल स्थित है। यह सुसज्जित स्तभो पर आधारित पंच-मजिली इमारत है। स्तभ सज्जायुक्त हैं, किंतु उनकी सजावट मे एकरूपता नही है। सबसे निचले भवन का आकार बडा है किंतु इसकी प्रत्येक मजिल अपने से नीचे की मजिल से छोटी होती चली गयी है। एक से दूसरी मजिल मे जाने के लिए सीढ़ियो का निर्माण किया गया है। हिंदू और बौद्ध धर्म ग्रंथो में उल्लिखित प्राचीन सभा भवन के आदर्श पर इसका निर्माण किया गया है। प्रत्येक मजिल के स्तंभ योजनाबद्ध रूप से बने हैं। इन स्तंभो पर उभडी घंटिया, साकरें पुष्प-पत्तियों सहित कलश, रुद्राक्ष मालाए और ऐसे ही चिह्न उत्कीर्ण हैं। पच महल की सबसे ऊपर की मजिल पर चार स्तंभों पर आधृत एक गुंबदयुक्त मडप बना है। जनानखाना के अहाते में लघु आकार की एक नक्काशीदार सुंदर इमारत है, जिसे 'तुर्की सुल्ताना की कोठी' कहा जाता है, जो उसके निवास के लिए निर्मित की गयी थी।[3] यह एक मंजिली इमारत है। इसमें स्तंभयुक्त बरामदे हैं।[4] इसका भीतरी भाग सज्जायुक्त है। पर्सी ब्राउन के अनुसार इसकी सज्जा

1. पसी ब्राउन, वही, पृ० 99।

2. वही।

3. तुर्की सुल्ताना या तो हिंदाल की पुत्री रुकिया बेगम (प्रथम बीवी) थी, या रुकिया बेगम (बैरम खां की विधवा से विवाह कर लिया था)।

4. पर्सी ब्राउन, वही, पृ० 103।

में काष्ठ-कला का अनुकरण लगता है । तुर्की सुल्ताना की कोठी से सलग्न 'खास महल' स्थित था । यह अकबर का आवासगृह था । यह दुमजिला महल 210 फुट लबे और 120 फुट चौडे पत्थर के फर्श के आगन में स्थित है । इसके चारों कोनो पर चार छतरिया हैं । इसकी बाह्य दीवार श्वेत संगमरमर के जाली-युक्त पर्दों और लाल ग्रेनाइट के पत्थरों की बनी थी, जिससे राजकीय हरम की महिलाओं के लिए आड हो सके । इस महल आगन के दक्षिण मे सम्राट् का शयनागार (15 वर्ग फुट का वर्गाकार कक्ष) है । इसमें चार द्वार थे । शयनागार से सलग्न ही पुस्तकालय कक्ष है । खास महल के ऊपरी मजिल के किनारे पर 'झरोखा-ए-दर्शन' है, जहा से सम्राट् प्रतिदिन प्रात नीचे खडी हुई प्रजा को दर्शन देता था । जोधा बाई का महल सीकरी मे निर्मित इमारतो में सर्वाधिक विशाल था । इसमें तात्कालिक स्थापत्य-कला-शैली का विकसित रूप दृष्टिगत होता है ।[1] यह आयाताकार (320 × 215 × 32 फुट) इमारत है । इसकी चहारदीवारी सादी एवं सुदृढ है । भवन के चारो कोनो पर चपटे गुबद है । इसकी निर्माण शैली मे कोष्ठको (विशुद्ध भारतीय शैली) का प्रयोग किया गया है । इसकी स्थापत्य कला शैली के आधार पर पर्सी ब्राउन का अनुमान है कि उसका निर्माण-कार्य गुजरात के स्थपतियो ने किया होगा ।[2] हवामहल दुमजिली इमारत जोधाबाई के महल के उत्तर मे स्थित है । यह हवादार जालीयुक्त महल है । मरियम का भवन एक दुमजिली इमारत है, जो जोधाबाई के महल के निकटस्थ है । इसमें कक्ष है और चारो ओर स्तभयुक्त बरामदे है । स्तभों पर पशुओ की आकृतियां उत्कीर्ण है । इसकी दीवारे भी मानवाकृतियो से अलकृत है । अकबर के दरबारियो (नवरत्नो) में बीरबल का स्थान प्रमुख था । 'बीरबल का महल' दुमंजिला है और 'मरियम का भवन' की शैली पर निर्मित है । इसके ऊपर भी चपटे गुबद और बरसातियों की छतें पिंडाकार (पिरामिडनुमा) है । इसमें भी कोष्ठकों का प्रयोग हुआ है । इसके छज्जे कोष्ठको पर आधारित है । इस भवन के बाह्य और आतरिक दोनो भाग सुसज्जित है । यह सीकरी की इमारतें सर्वाधिक सुसज्जित है ।[3] अकबर ने सीकरी में हाथी, घोडे और ऊंटों के बाधने के लिए अस्तबल का निर्माण कराया था । इस आयताकार इमारत के बीच में एक आगन था, जिसके दोनो ओर महराबदार बरामदे थे । अकबर के काल में देश विदेश से यात्री एव व्यापारी आते थे । अकबर ने उनके ठहरने के लिए एक

1 वही, पृ० 102 ।

2 वही, पृ० 103 ।

3. वही ।

सराय का निर्माण कराया था । सराय के कोने पर झील के किनारे 90 फुट ऊंची वृत्ताकार मीनार है । अनुश्रुति है कि अकबर इस पर चढ़कर हिरन का शिकार करता था । इसीलिए इसका नाम हिरन मीनार पड़ा ।

सीकरी की 'जामा मस्जिद' का आकार मक्का की मस्जिद की भांति है । आंगन आयताकार है, जिसमें शेख सलीम चिश्ती और इस्लाम खा के मकबरे है । इस मस्जिद में उत्तर दक्षिण और पूर्व में तीन द्वार हैं । मस्जिद के ऊपर एक विशाल गुंबद और दो अपेक्षाकृत छोटे गुबद हैं । मस्जिद के भीतर बरामदे, कक्ष और आगन हैं । यद्यपि इसकी योजना इस्लामी है किंतु इसके स्तभ, छतों, और कोष्ठको के प्रयोग से भारतीय स्थापत्य कला के तत्त्व भी दृष्टिगत होते है । सुंदर पच्चीकारी के कारण मस्जिद, कलात्मक एवं सज्जायुक्त है । बुलद दरवाजा जामा मस्जिद का दक्षिणी द्वार है । यह भारत का सर्वाधिक ऊंचा (176 फुट) एवं वैभवशाली प्रवेश द्वार है । इसके चबूतरे की ऊंचाई 42 फुट और चबूतरा से दरवाजा की ऊंचाई 134 फुट है । इसके अग्रभाग की चौडाई 130 फुट और आगे से पीछे तक की लबाई 123 फुट है । अकबर ने दक्षिण-विजय के उपरांत इस द्वार का निर्माण कराया था । यह दरवाजा अपने मे एक पूर्ण भवन है । इसमें अनेक कक्ष है जिनके द्वारा जामा मस्जिद के आगन तक पहुंचा जा सकता है । इसके किनारे के दोनों भाग तीन मंजिल के है, जिनमें खिडकिया बनी है । इसके अग्रभाग की प्रमुख विशेषता बीच का महराबी मार्ग है । अनेक सुदर महराबों पर कलश निर्मित हैं । शेख सलीम चिश्ती का मकबरा जामा मस्जिद के आगन में उत्तरी कोने में स्थित है । यह संगमरमर का बना हुआ है ।[1] यह मकबरा वर्गाकार है । इसमें सुसज्जा के लिए, स्तंभो, छज्जों और कोष्ठको का प्रयोग किया गया है । भारतीय स्थापत्य कला के इन तत्त्वों के आधार पर विंसेंट स्मिथ ने इसमें हिंदू स्थापत्य कला की अनुभूति बतायी है ।[2] पर्सी ब्राउन के मतानुसार "इसकी स्थापत्य कला-शैली इस्लाम की बौद्धिकता एवं गाभीर्य की अपेक्षा मदिर के निर्माता की स्वतंत्र कल्पना का परिचय देती है ।"[3] इसके मकबरा के आतरिक भाग सुदर जालियों, दीवालों एव अलंकृत फर्श से सुसज्जित है ।

1. पर्सी ब्राउन के अनुसार सीकरी की अन्य इमारतों की भांति यह मकबरा भी लाल पत्थरों से बना था, किंतु जहांगीर या शाहजहां के काल में इसे संगमरमर भवन के रूप में ज्यों का त्यों परिवर्तित कर दिया गया । देखिये, वही 105 ।

2. देखिये स्मिथ कृत अकबर दि ग्रेट मुगल, 321 ।

3. पर्सी ब्राउन, वही, 106 ।

उपर्युक्त इमारतों के अतिरिक्त अकबर ने सीकरी में अनेक इमारतों का निर्माण कराया था, जिनमें इस्लाम खां का मकबरा नौमहला, इबादतखाना, मरियम का चमन, जनाना बाग, शफाखाना (चिकित्सालय) जनाना रास्ता, मीना बाजार, दफ्तरखाना, हकीम का महल, जौहरी बाजार, नौबतखाना, बारहदरी, हमाम, लगरखाना, कबूतरखाना, सगीन बुर्ज, मैदान-ए-चौगान, मस्जिद शाहकुली और राजा टोडरमल का महल आदि उल्लेखनीय है। फतेहपुर सीकरी 1569 ई० से 1585 ई० तक मुगल साम्राज्य की वास्तविक राजधानी बनी रही। इस काल मे अकबर और उसके दरबारी यहा रहते थे। 1585 ई० के बाद सम्राट् को उजबेक आक्रमण का सामना करने के लिए लाहौर जाना पडा। तबसे वह कभी-कभी ही सीकरी आ पाता था।

सीकरी की इमारतें अकबर के महान् निर्माता एव शासक होने की परिचायक है। फर्ग्युसन[1] के अनुसार "फतहपुर सीकरी के यह भवन पाषाण का एक ऐसा रोमास है जो कि अन्यत्र कम, बहुत ही कम मिलेंगे, और ये उस निर्माण कराने वाले के मस्तिष्क की एक ऐसी प्रतिच्छाया है, जोकि किसी अन्य स्रोत में सरलता पूर्वक उपलब्ध नही हो सकता।" इतिहासकार स्मिथ महोदय[2] ने भी अकबर के निर्माण कार्य की प्रशसा करते हुए लिखा है कि "फतेहपुर सीकरी जैसा निर्माण कार्य न पहले कभी हुआ था और न कभी होगा। यह रोमांस का ऐसा प्रतिस्वरूप है, जिसमें अकबर को अद्भुत प्रवृत्ति के सभी मनोभाव जड गये हों।"

उपर्युक्त प्रसिद्ध इमारतों के अतिरिक्त अकबर की वास्तुकला-प्रियता उसके द्वारा निर्मित अनेक गुबदो, विद्यालयों, सरायों और तालाबो से भी अभिव्यक्त होती है।

अकबर के पुत्र एव उत्तराधिकारी जहागीर को स्थापत्य कला की अपेक्षा चित्रकारी एव उद्यान के प्रति अधिक रुचि थी। अत जहागीर के काल में (1605-27 ई०) स्थापत्य कला की प्रगति अवरुद्ध रही। स्थापत्य कला की ओर जहागीर की उदासीनता रहने पर भी उसने दो महत्त्वपूर्ण इमारतों का निर्माण कराया। प्रथम उसने अपने पिता अकबर के मकबरे को पूरा कराया, जिसकी नीव अकबर के काल में रखवायी गयी थी। दूसरे उसने एतमाद-उद-दौला का मकबरा निर्मित कराया जो मुगल स्थापत्य कला की एक महत्त्वपूर्ण देन मानी जाती है। 'अकबर का मकबरा'[3] आगरा से लगभग पाच मील की दूरी

1. फर्ग्युसन कृत, हिस्ट्री आफ इडियन एड ईस्टर्न आर्कीटेक्चर 2, 323।
2. अकबर दि ग्रेट मुगल, 323।
3. इसे साधारणतया सिकंदरा ही कहा जाता है।

पर स्थित सिकंदरा नायक ग्राम में स्थित है। अनुश्रुति है कि अकबर ने अपने जीवन काल में इसकी योजना बनायी थी।[1] जहांगीर ने इसे सुंदर एवं वैभव शाली निर्मत कराया। जहांगीर ने अपनी आत्मकथा[2] में इसका विस्तृत विवरण दिया है। इसकी बनावट परपरागत मुसलमानी मकबरा जैसी न होकर बौद्ध बिहार जैसी है। यह पिरामिडनुमा है। इसके चारों ओर बुर्जियोंदार ऊंची दीवार है। इसमें चार प्रवेश द्वार है, जिसमें दक्षिण द्वार मुख्य-द्वार है जो सर्वाधिक सुंदर है। इसके चारो कोनों पर निर्मित श्वेत संगमरमर की चार सुंदर मीनारें है। पर्सी ब्राउन के अनुसार "सिकंदरा के इस मकबरा के पहले उत्तरी भारत की किसी ऐतिहासिक इमारत में ऐसी सुंदर मीनारें नही बनी हैं।" सर्वप्रथम इस प्रकार की मीनारें निर्मित कराने का श्रेय जहांगीर को है। यह एक पचमजिली इमारत है। इसकी प्रत्येक ऊपरी मजिल नीचे की मजिलों से आकार में छोटी होती गयी है। अकबर की कब्र सगमरमर की बनी है। पहली मजिल पर निर्मित कब्र असली है और उसके ऊपर की मंजिल पर निर्मित कब्र नकली है। दोनों कब्रों पर पुष्पों का चित्रण है। कब्र के सिरहाने 'अल्लाहु-अकबर' (ईश्वर महान् है) और पैरों की ओर 'जल्ले-जलालल हू' (उसकी शान में वृद्धि हो) अंकित है। कब्र के चारों ओर ईश्वर के 99 नाम अरबी में खुदे है। जैसा हैवेल ने कहा है "अकबर का मकबरा एक महान् भारतीय शासक का उपयुक्त स्मारक है।" यह अकबर की उदारता एव सहिष्णुता के अनुरूप सर्वजातीय स्मारक है, अर्थात यह हिंदू बौद्ध, मुस्लिम और ईसाई स्थापत्य कला शैलियों के सुदर समन्वय का अनुपम उदाहरण है। एतमाद-उद्-दौला का मकबरा जहांगीर कालीन आगरा में निर्मित दूसरी महत्त्वपूर्ण इमारत है। एतमाद-उद्-दौला नूरजहा बेगम के पिता और जहागीर के श्वसुर थे। जहागीर द्वारा निर्मित यह मकबरा अकबर और शाहजहा की स्थापत्य कला शैलियो को जोडने वाली श्रृखला माना जाता है, क्योंकि इसके निर्माण में लाल पत्थर और सगमरमर दोनों का प्रयोग हुआ है। इसका निर्माण नूरजहा ने 1626 ई० में ईरानी शैली में इसे आगरा से दो मील दूर निर्मित कराया था। यह यमुना के किनारे पर स्थित है। यह मकबरा 540 फुट लबे और चौड़े अहाते में 150 फुट वर्गाकार चबूतरे पर निर्मित है। इसके चारों ओर चार प्रवेश द्वार हैं यह दुमंजिली इमारत है। इसकी निचली मंजिल वर्गाकार (70 फुट लंबी 70 फुट चौडी)। ऊपरी मंजिल के

1. अकबर दि ग्रेट मुगल, 42।

2 तुजुक-ए-जहांगीरी 1,151-52।

रोजर्स बेवरिज द्वारा अनूदित और ब्रजरत्नदास द्वारा अनु॰ जहांगीर का का आत्मचरित्र, 222-23।

चारों कोनों पर चार लघु मीनार हैं। मकबरा का मुख्य कक्ष वर्गाकार 22 फुट 3 इंच और 22 फुट 3 इंच चौड़ा) है। इसमें एतमाद-उद-दौला और उसकी पत्नी की कब्रें हैं। कक्ष का फर्श संगमरमर और कब्रें पीले बहुमूल्य पत्थर की बनी हैं। कक्ष की दीवारों पर कुरान की आयतें अंकित हैं। इससे सलग्न अनेक कक्ष हैं जिसमें उसके परिवार के लोगो की कब्रें हैं। इसके ऊपर का कक्ष वर्गाकार है, जिसकी दीवारे संगमरमर की जालियो से बनी हैं। इसकी फर्श पर रंगबिरंगा जडाऊ काम है। पर्सी ब्राउन के अनुसार एतमाद-उद्-दौला के मकबरा में संगमरमर में सोने तथा बहुमूल्य पत्थरो के जडाऊ के काम का श्रीगणेश मिलता है।[1]

जहांगीर कालीन उपर्युक्त दो महत्त्वपूर्ण इमारतों के अतिरिक्त जहांगीर का मकबरा, अब्दुर्रहीम खानखाना का मकबरा, जालधर में निर्मित सराय, लाहौर में निर्मित मोती मस्जिद तथा अनारकली का मकबरा उल्लेखनीय हैं। जहांगीर का मकबरा लाहौर के निकट शाहदरा मे स्थित है। नूरजहां ने इसका निर्माण कराया था। यह अकबर के मकबरा के नमूने पर बना है। यह एकमंजिला इमारत वर्गाकार है और 22 फुट ऊँची है। इसके प्रत्येक कोने पर एक सुंदर मीनार है। अत्यधिक सजावट और जडाऊ संगमरमर इसकी प्रमुख विशेषता है।

मुगल सम्राटो मे स्थापत्य कला का सबसे बडा पुजारी शाहजहाँ था। भारतीय इतिहास मे उसका राज्य-काल स्थापत्य-कला की उत्कृष्टता का स्मारक बन गया। उसने संगमरमर[2] तथा पक्के पत्थर का अत्यधिक प्रयोग करके स्थापत्य कला मे सौंदर्य की अत्यधिक वृद्धि की। उसने स्थापत्य-कला मे ईरानी नमूनो एवं आदर्शों को पुन अपना लिया। उसने अपने पूर्ववर्ती कुछ इमारतो को गिरवा कर उनके ऊपर मडप, दरबार और स्तंभ युक्त विशाल कक्ष बनवाये। इसके अतिरिक्त महराबों की बनावट में परिवर्तन किया। इस काल की लगभग सभी इमारतो में महराबें पत्तियोंदार अथवा नोकदार है, जिसके श्वेत संगमरमर के स्तभो पर निर्मित आधारित किनारेदार महराबो की कतारें इस युग की विशेषता बन गयी। आगरा के किला में स्थित नयी श्वेत संगमरमर की इमारतें यथा दीवान-ए-आम, दीवान-ए-खास, शीश महल, मुसम्मन बुर्ज, अंगूरी बाग, मच्छी भवन तथा मोती मस्जिद आदि निर्मित हुई।

दीवान-ए-आम आगरा के किला मे स्थित है। शाहजहाँ ने अकबर के

---

1 पर्सी ब्राउन, वही, पृ० 109।

2 श्वेत संगमरमर राजस्थान में साभर झील के निकट मकराना की खदानों में प्राप्त होता है।

दीवान-ए-आम को तुड़वा कर उसका पुनर्निर्माण (1627 ई०) कराया था। यह संगमरमर का विशाल भवन है, जो तीन ओर से खुला है। इसकी छत एकसी दूरी पर स्थित ऊंचे-ऊंचे स्तंभो की तीन पंक्तियों पर आधारित हैं। इसके स्तंभ संगमरमर की सुंदर महराबों से एक दूसरे से जुड़े हैं। इस भवन को सुंदर फूल पत्तियों और एवं जड़ाऊ काम के द्वारा सज्जायुक्त एवं अलंकृत है। इसमें सम्राट् के बैठने के लिए ऊंचाई पर एक मंडप है, जिस पर स्थित सिंहासन 'तख्त-ए-ताऊस' पर राजा बैठता था।[1] दीवान-ए-आम के पीछे 'मच्छी भवन' है। यह लाल पत्थर की निर्मित एक आयताकार इमारत है। इसके मध्य में 60 गज लंबा और 55 गज चौड़ा एक सहन है। इसकी पहली मंजिल के तीन ओर ऊंची-ऊंची इमारतें हैं। सहन के दक्षिण में चार स्तंभों पर आधारित संगमरमर का नक्काशीदार मंडप है। सहन के श्वेत संगमरमर के निर्मित सरोवर में जल भरकर मछलियां छोड़ दी जाती थीं, जिनका शिकार शाही परिवार के लोग करते थे।

दीवान-ए-खास श्वेत संगमरमर की आयताकार 64 फुट 9 इंच लंबी, 34 फुट चौड़ी और 22 फुट ऊंची इमारत है। इसमें दो विशाल कक्ष हैं, जो महराबयुक्त स्तंभो के बरामदे की वेदिका से जुड़े हैं। दीवान-ए-खास कक्ष की दीवारों के निचले बीच के भागो मे नक्काशी का काम है और किनारों पर मूंगे आदि जड़े हैं। कक्ष के दक्षिणी भाग में एक फारसी अभिलेख उत्कीर्ण है। दीवान-ए-खास के सामने 41 गज लंबा और 29 गज चौड़ा एक खुला सहन है। इसके पश्चिमी किनारे पर संगमरमर का एक चबूतरा है, जिसपर शाहजहां सायंकाल बैठा करता था। इसके पूर्व में काले संगमरमर का एक सिंहासन है। दीवान-ए-खास के नीचे 'शीश महल' स्थित है। यह एक सुंदर कक्ष है। इसकी दीवारों और दरवाजों पर शीशे जड़े हैं और उनपर विभिन्न रंगों का काम है। इसमें स्नान के लिए दो हौज हैं। दीवान-ए-खास से संलग्न संगमरमर द्वारा निर्मित 'खास महल' निर्मित है। यह बादशाह और उसकी बेगम के निवास के लिए बनाया गया था। इसके नीचे का भाग लाल पत्थर का बना है। किसी समय यमुना की लहरें इससे टकराया करती थी। इसका शाही शयनागार 26 गज लंबा और $10\frac{1}{2}$ गज चौड़ा है। इसके स्तंभों और दीवारों पर सुंदर पच्चीकारी

---

1. यह साढ़े तीन गज लंबा और ढाई गज चौड़ा और पांच गज ऊंचा रत्न जटित सिंहासन था। इसमें बारह छोटे स्तंभ थे, जिन पर रत्नों से सुसज्जित दो दो मोरों की आकृतियां निर्मित है। सिंहासन पर पहुँचने के लिए तीन रत्न जड़ित सीढ़ियां हैं।

है । छत एवं दीवारो पर विभिन्न रगो का अलंकरण किया गया है । 'मुसम्मन बुर्ज'[1] खास महल के उत्तर में स्थित और सगमरमर द्वारा निर्मित छह मंजिली इमारत है । इस पर सुंदर खुदाई और जडाई का काम है और जाली के काम की सजावट है । इससे संलग्न एक सुंदर बरसाती है, जिसके बीच मे एक हौज है । इस हौज में गुलाब की पखडियो के आकार का एक फव्वारा लगा हुआ है । इसके सामने के कक्ष में एक झरना है । मुसम्मन बुर्ज से मुगल हरम की स्त्रिया नीचे मैदान में हो रहे पशु युद्धों को देखती थी । बेगम मुमताजमहल की मृत्यु के बाद शाहजहा यही रहता था और यही बैठकर ताजमहल देखा करता था ।[2]

मोती मस्जिद आगरा के किला के अदर की सर्वाधिक सुदर इमारत है । यह दीवान-ए-आम के उत्तर मे है । इसकी लंबाई 237 फुट और चौडाई 187 फुट है । इसका बाहरी भाग लाल पत्थरों से और भीतरी भाग सगमरमर से निर्मित किया गया है । इसका आगन वर्गाकार है । इसके चारो ओर सफेद पत्थरो से निर्मित वीथिका एव स्तभयुक्त बरामदा है । मस्जिद के अदर दोनों ओर संगमरमर के और जालीदार पर्दों की व्यवस्था है और उसके ऊपरी भाग में सुडौल गुबद तथा सुदर मीनार निर्मित हैं । इसमें महराबो और छतरियो की सुदर योजना है । पर्सी ब्राउन के अनुसार मोती मस्जिद 'अपनी निर्दोष निर्माण सामग्री एव अपने अगो की कौशलपूर्ण नियत्रित रचना के कारण चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई मुगल कला का प्रतिनिधित्व करती है ।'[3]

आगरा के किला से मुख्य द्वार से लगभग एक फर्लांग की दूरी पर सामने 'जामा मस्जिद' निर्मित है । शाहजहा की ज्येष्ठ पुत्री जहाआरा बेगम ने इसका निर्माण कराया था । यह ऊची मेधि पर लाल पत्थर की बनी है । यह 130 फुट लंबी और 100 फुट चौडी है । यह तीन भागो मे विभाजित है और तीनों भागो पर एक-एक सुदर गुबद बना है । "मस्जिद की छत के प्रत्येक कोने पर एक-एक अठपहला गुबद-युक्त छतरी है और इसका अग्रभाग छोटी-छोटी अनेक छतरियों की पक्तियो से सुसज्जित हैं । केंद्रीय भाग की छत के चारों कोनों पर चार पतली सुंदर मीनारे निकलती है और इसके पीछे के भाग में तीन विशाल गुबद है जिनपर लाल पत्थर और सफेद संगमरमर की चौडी पट्टियां एक के बाद एक जडी है ।" अकबर की फतहपुर सीकरी की भाति शाहजहा ने दिल्ली

1. इसे पहले 'शाह बुर्ज' कहा जाता था ।

2. डॉ० बनारसी प्रसाद सक्सेना कृत हिस्ट्री आफ शाहजहां आफ देहली, पृ० 264 ।

3. पर्सी ब्राउन, वही, पृ० 110 ।

में 'शाहजहानाबाद' नामक नगर की नीव डाली थी।[1] इस नवीन नगर में उसने अनेक सुदर भवनों का निर्माण कराया था, जिनमें लाल किला सर्वाधिक उल्लेखनीय है।

लाल किला का निर्माण सुनिश्चित योजना के अनुसार हुआ है। यह उत्तर से दक्षिण की ओर समानांतर चतुर्भुजकार है। इसकी लबाई लगभग 3200 फुट, चौडाई 1600 फुट है। आगरा के किला की भाति यह भी परकोटे से घिरा हुआ है, किला में तीन प्रवेश द्वार है। मुख्य प्रवेशद्वार (लाहौरी द्वार) कला की दृष्टि से उत्कृष्ट है। किला के भीतर 'दरबार-ए-आम' और 'दरबार-ए-खास' तथा 'नौबतखान' स्थित है। इसके अतिरिक्त अनेक महल, राजकीय संग्रहालय, राजकीय कक्ष, रसोईगृह, अस्तबल तथा अन्य इमारतें (दूकानें, बैरकें, सेवको के निवासगृह) है। नदी के ऊपर के भाग में अनेक संगमरमर के मंडप और सुंदर महल, (मोती महल, हीरा महल और रगमहल) आदि एक ही शैली में निर्मित है। इन इमारतो के एक सिरे से दूसरे सिरे तक छोटी-छोटी नहरों की व्यवस्था है, जो कि आशिक रूप से अनेक हम्मामों को पानी देने के लिए बनायी गयी थी। इनमे जल की व्यवस्था के लिए यमुना से 70 फुट ऊपर की ओर बाध बाधा गया था और वहा से एक नहर द्वारा किला मे पानी लाया गया था। यह नहर शाहबुर्ज से खुले केंद्रीय महराबदार मंडप के संगमरमर के झरने से प्रवेश करती थी और वहां से नालियों द्वारा सभी दिशाओं में विभक्त हो जाती थी। यह सपूर्ण व्यवस्था इतनी कलात्मक है कि इसके एक कक्ष मे उत्कीर्ण[2] पक्तिया उपयुक्त लगती है।' लालकिला के बाहर ऊंचे चबूतरे पर स्थित 'जामा मस्जिद' का निर्माण शाहजहा ने कराया था। इसमे तीन प्रवेश द्वार है। पूर्वी प्रवेश द्वार से शाहजहा नमाज पढने जाया करते थे। उत्तरी और दक्षिणी प्रवेश-द्वारो से सामान्य प्रजा जाती थी।[3] प्रवेश द्वार तक पहुँचने के लिए सीढिया निर्मित थी। इसके ऊपरी भाग पर तीन गुंबद (बीच का गुंबद बडा और आस पास के छोटे) निर्मित थे। मस्जिद के अदर अग्र भाग में एक महराब बनी है और दोना किनारों पर दो ऊंची मीनारें बनी है। धार्मिक स्थापत्य कला का अत्यन्त उत्कृष्ट एव परिपूर्ण नमूना है।

'ताजमहल' आगरा के किला से लगभग एक मील पूर्व यमुना के किनारे

---

1 पर्सी ब्राउन, वही, 111।

2. गर फिरदौस बर रूये जमी अस्त। यी अस्त यी अस्त, यी अस्त ।।
अगर कही पृथ्वी पर स्वर्ग है, तो यही है, यही है, यही है।

3. पर्सी ब्राउन, वही 266।

स्थित है। शाहजहा ने इसका निर्माण, अपनी सर्वाधिक प्रिय पत्नी अर्जुमंद बानो बेगम[1] (उपाधि मुमताजमहल) की पुण्य स्मृति मे, उसके मकबरा के रूप में किया था।[2] अनुश्रुति है कि इसकी योजना का निर्माण उसने स्वयं किया था और कुशल कारीगरों से ताजमहल नामक इमारत का निर्माण कराया। कारीगरों के सबंध में विद्वानो में मतभेद है। फादर मेनरिक के अनुसार 'ताजमहल की रूप-रेखा वेनिस निवासी जेरोनियो वेरोनियो नामक कलाकार ने बनायी थी।' विसेंट स्मिथ ने इस मत का समर्थन किया है।[3] इसके विपरीत समकालिक फारसी लेखों के आधार पर निष्कर्ष निकाला गया कि इसका निर्माणकार्य शाहजहा की देख-रेख मे सम्पन्न हुआ। इसके सर्वप्रमुख कलाकार उस्ताद ईसा खा और सहायक कलाकार मोहम्मद हनीफ, अमानत खा, मोहम्मद खा, मोहम्मद शरीफ, इस्माइल खा, मोहन लाल और मोहम्मद काजिम थे, जो वास्तुकला के विभिन्न क्षेत्रों मे विशेषज्ञ थे।[4] प्रख्यात कला विशेषज्ञ ई० बी० हैवेल एव पर्सीब्राउन ने ताजमहल को पाश्चात्य प्रभाव से मुक्त तथा परपरागत भारतीय शैली का स्वाभाविक विकसित रूप माना है।[5] बंगलौर के सैयद महमूद के पास उपलब्ध हाफिज लुत्फुल्ला ममदीस लिखित **दीवा-ए-महंदीस** नामक एक समकालिक लेख से ज्ञात होता है, कि ताजमहल की रूपरेखा उस्ताद अहमद लाहौरी ने तैयार की थी और वही शाहजहा का प्रधान कारीगर था, जिसे बादशाह ने "नादिर-उल-असर" की उपाधि से सम्मानित किया था।[6]

ताजमहल की मुख्य इमारत की स्थापत्य कला शैली दिल्ली मे स्थित हुमायू के मकबरा तथा खानखाना के मकबरा पर आधारित है।[7] हैवल के अनुसार

---

1 वह शाहजहा के प्रथम वजीर आसफ खा की पुत्री थी और जहागीर की बेगम नूरजहा की भतीजी थी।

2 शाहजहा ने इसके पहले आगरा के किला में उसके लिए बेगम साहिबा नामक सगमरमर की इमारत का निर्माण कराया था।

3 वी० ए० स्मिथ, हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट्स, 183 और आगे।

4 ईसा खा कुशल नक्शा, नवीस, अमानत खा और मुहम्मद शरीफ 'तुगरा नवीसी', इस्माइल खा गुबद साजी और मोहनलाल पच्चीकारी मे विशेषज्ञ थे।

5. कैंब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया 4, 562 तथा पर्सी ब्राउन, वही, 116।

6 माडर्न रेव्यू, मार्च 1956, पृ० 226, दृष्टव्य डॉ० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, वही 200।

7. पर्सी ब्राउन वही 116। इसके विपरीत हैवेल ने कहा है कि इसकी रचना की प्रेरणा दिल्ली के हुमायू के मकबरा से नही ली गयी थी। वे केवल गुंबद की शैली मुस्लिम मानते हैं। तीसरा मत है कि गुंबदों की प्रेरणा हिंदू मदिरों की डाटदार छतो में एक के ऊपर एक बने हुए चक्रों से ली गयी है।

'इसका प्राक्रूप जावा मे प्राम्बनम के चडी सेवा मंदिर में देखा जा सकता है ।' ताजमहल के साथ की अन्य इमारतें सिकंदरा के अकबर के मकबरा अथवा आगरा के एतमाद्उद्दौला के मकबरा से मिलती जुलती हैं । सहायक इमारतों सहित ताजमहल की मुख्य इमारत की संपूर्ण योजना आयताकार (1900 फुट लंबाई और 100 फुट चौडाई) है । यह ऊची चहारदीवारी से घिरा है, जिसके चारों कोनो पर चार चौडे-चौडे महराबयुक्त मडप है । एक सज्जायुक्त प्रवेश द्वार है । प्रवेश द्वार के दोनो पार्श्वों में महराबी कक्षों की लबी-लबी कतारें है । अहाते के अंदर एक वर्गाकार (एक भुजा 1000 फुट) उद्यान है, जिसके उत्तरी सिरे पर एक सगमरमर का चबूतरा है । इसी चबूतरे पर 22 फुट ऊची मेधि पर मुमताज महल का श्वेत संगमरमर का 108 फुट ऊचा वर्गाकार मकबरा है । यह बाग के बीच मे न होकर उत्तरी सिरे पर है । इसके प्रत्येक कोने पर एक-एक छतरी और बीच मे 187 फुट ऊंची सर्वाधिक सुदर और सुडौल गुबद है । इसके चबूतरे के चारों कोनो पर 137 फुट ऊंची तिमजिली मीनारें ऊपरी छतरी सहित निर्मित है । मकबरा के सामने के भूभाग मे एक सुदर बाग है, जिसमे नहरें और सज्जायुक्त हौज है । मकबरा की इमारत जितनी चौडी है उतनी ही ऊची है । ताजमहल के भीतर एक अठपहला केंद्रीय विशाल कक्ष है, जिसकेनीचे तहखाना है और ऊपर एक महराबी डाटदार कक्ष है । मुमताज महल की कब्र इसी कक्ष के बीचोबीच है ।[1] बाद मे शाहजहा की कब्र भी उसके पार्श्व में बना दी गयी । इन कब्रों के चारो ओर अठपहला श्वेत सगमरमर का आठ फुट ऊचा पर्दा है । इस समाधि कक्ष के आसपास प्रत्येक कोने मे एक-एक कक्ष है, जो बरामदो से सलग्न है । इमारत के प्रत्येक भाग में जालीयुक्त झझरियो और पर्दों से प्रकाश पहुँचता रहता है । ताजमहल का केंद्रीय भाग भी दो महराबी मंजिलों का है और उसके ऊपर एक अर्द्धगोलाकार डाट है । यह डाट ताजमहल के गुंबद का भीतरी आवरण है । पर्सीब्राउन के अनुसार "ताजमहल में जडाई का सुंदर काम (पीट्रा ड्यूरा) में भारतीय जडैये का अनुपम धैर्य एव कौशल स्पष्ट दृष्टिगत है ।" इसकी सरल योजना लयात्मक वितरण और संपूर्ण इमारती एकता मे अंगों के परस्पर कुशलतापूर्ण समन्वय के कारण इस सपूर्ण इमारत की

---

1 शाहजहा की इच्छा थी कि वह अपने लिये महताब बाग में काली संगमरमर का मकबरा बनवाये किंतु उसके पुत्रो मे उत्तराधिकार का युद्ध छिड़ा और वह बदी बना लिया गया । जब वह मरा तो औरंगजेब ने उसके शव को मुमताजमहल की कब्र के बगल मे ही दफना दिया । यह उस दोषरहित मकबरा में खटकने वाला दोष है । इससे व्यवस्था गड़बड हो गयी है । क्योंकि पहली कब्र बीच में थी परंतु दूसरो कब्र बन जाने से संतुलन नही रहा ।

रचना का प्रभाव हमारी सौंदर्यानुभूति पर बडा ही प्रेरणाप्रद पडता है ।" ताजमहल के निर्माण कार्य को 20,000 लोगों ने प्रतिदिन 20 वर्षों तक कार्य करके पूरा किया, जिसमें नौ करोड रुपये से अधिक व्यय हुआ । इसके निर्माण में मकराना के सगमरमर का प्रयोग किया गया था । ताजमहल में प्रकाश बदलने से आश्चर्यजनक रूप से विविध हल्के रगो की छायाए एव आभाए आ जाती है,[1] जो अत्यंत मनोहारी छटा देती है ।

औरंगजेब को कला के प्रति रूचि न थी, दूसरे उसका सपूर्ण जीवन विद्रोहियो के दमन के प्रयास मे व्यतीत हुआ, इसलिए वह कला के प्रति अधिक ध्यान न दे सका, फिर भी उसने कुछ इमारतो का निर्माण करवाया था । उसने लालकिला के अदर सगमरमर की 'मोतीमस्जिद' का निर्माण करवाया क्योकि किला के अंदर कोई मस्जिद न थी । किंतु यह मस्जिद स्थापत्य कला की दृष्टि से शाहजहा द्वारा निर्मित आगरा के किला की मोती मस्जिद की तुलना मे न्यून ठहरती है । औरगजेब ने दक्षिण मे औरगाबाद मे अपनी प्रिय बेगम राबिया-उद्दौरानी के मकबरा का निर्माण कराया था । इसकी स्थापत्य कला शैली बहुत कुछ ताजमहल से मेल खाती है,[2] इसलिए यह द्वितीय ताजमहल नाम से विख्यात है । ताजमहल की नकल होते हुए भी आकार, कार्य कुशलता एव रचनाकौशल में यह उससे बहुत दूर है । किंतु इस मकबरा के कुछ अग अत्यधिक सुसज्जापूर्ण एव अलकृत है, यथा कब्र के चारो ओर श्वेत सगमरमर के अठपहले पर्दे और उसमे कुशल शिल्पकारी । लौह निर्मित प्रवेश द्वारो पर सुदर फूल पत्तियो की बेले गढी गयी है, जो धातुकला की उत्कृष्टतम उदाहरण है । लाहौर की बादशाही मस्जिद अपनी रचना एव विशालता के कारण विख्यात है । यह और औरगजेब के तोपखाना के दरोगा फिदई खा के निरीक्षण में निर्मित हुई थी । इसकी स्थापत्य कला शैली दिल्ली की जामा मस्जिद से मेल खाती है, किंतु उतनी उत्कृष्ट नही हैं । औरगजेब ने विश्वनाथ मदिर के स्थान पर एक मस्जिद का निर्माण कराया था । इसकी मीनारें बहुत ऊची थी । यह स्थापत्य कला के गिरते हुए स्तर की परिचायक है । इसी प्रकार उसने एक दूसरी मस्जिद का निर्माण मथुरा में वीर सिंह देव बुदेला केशवदेव के मदिर के स्थान पर कराया । यह लाल पत्थर की विशाल मस्जिद है । इन मस्जिदों के अतिरिक्त इसी काल में बीजापुर नगर के चारों ओर प्रवेश द्वार सहित एक पत्थर के परकोटा का निर्माण कराया गया । बीजापुर नगर मे गोलगुंबद (मोहम्मद आदिलशाह का

1. पर्सी ब्राउन, वही 112 ।
2. वही, पृ० 120 ।

मकबरा) और मेहतामहल का निर्माण कराया था। अली आदिलशाह की जामी मस्जिद पूरी नही हो सकी। 'इब्राहीम का रोजा' बीजापुर की अंतिम महत्त्वपूर्ण इमारत है। इसमे सुल्तान इब्राहीम का मकबरा और संलग्न एक मस्जिद है। इस काल में खानदेश की कुछ महत्त्वपूर्ण इमारतो में बुरहानपुर का महल, थालनेर के कुछ मकबरे और कुछ मस्जिदें उल्लेखनीय है।

मुगलकालीन चित्रकला

मध्यकालीन भारत में चित्रकला का वास्तविक विकास मुगल सम्राटों के शासन काल में हुआ। बाबर योद्धा और साहित्यकार के साथ-साथ कुशल कला-प्रेमी भी था। कला के क्षेत्र मे उसे चित्रकला में रूचि थी। उसने अपनी आत्मकथा में बेहजाद नामक चित्रकार की चित्रकारी का उल्लेख किया है और उसकी उत्कृष्ट प्रतिभा की बडी प्रशसा की है। कला मर्मज्ञों ने उसे पूर्व का रफायल कहा है। उसका अनुसरण करनेवालों का एक वर्ग बन गया, जिसका ईरान, मध्य एशिया तथा भारत की कला पर प्रभाव पडा। वह बेहजाद को अपने राज्य मे आमन्त्रित कर चित्रकला को विकसित करना चाहता था, किंतु समयाभाव के कारण न कर सका। बाबर ने एक दूसरे चित्रकार शाह मुजफ्फर की भी प्रशसा की है।

हुमायू को भी चित्रकला में रूचि थी। समकालिक लेखक जौहर ने हुमायूं के विषय में लिखा है कि जब वह कठिनाइयो के चक्र मे फसा अमरकोट के किला मे ठहरा हुआ था, तो एक सुदर फाख्ता को देखकर उसे पकडकर चित्रकारो से उसका चित्र बनवाया था। शेरशाह से पराजित होकर ईरान भागकर शरण लेनी पडी थी। वहा उसने चित्रकारो से संपर्क स्थापित किया और उनसे अनेक चित्र बनवाये। इस चित्रकारों में आगा मीरक और मुजफ्फर अली उल्लेखनीय हैं, जो बेहजाद की परंपरा के चित्रकार थे। हुमायूं ने मीर सैयद अली और मंसूर नामक चित्रकारों को काबुल आने का निमंत्रण दिया था, जहा उनसे 'दास्तान-ए-अमीरहम्जा' को चित्रित कराया गया। सम्राट् ने उनसे प्रसन्न होकर मीर सैयद अली को 'नादिर-उल-अस्र' की उपाधि प्रदान की थी। यही 'मुगल चित्र-कला' का विकास हुआ। इसके बाद अनेक ईरानी चित्रकार भारत आये, जिनमें अब्दुस्समद, मुल्ला फरूर और मुल्ला दोस्त उल्लेखनीय हैं। इन चित्रकारो ने कुल मिलाकर 1375 चित्र बनाये। इन चित्रों में ईरानी और भारतीय कला शैलियों का प्रयोग किया गया जिसे इंडोपर्शियन कला कहा गया।

अकबर ने चित्रकारों को संरक्षण प्रदान किया। अकबर के समकालिक लेखक तथा-दरबारी अबुल फजल ने लिखा है कि सम्राट् के दरबार में 100 उच्चकोटि के तथा अन्य सामान्य कोटि के कलाकार थे। विदेशी चित्रकारों में

मीर सैयद अली, अब्दुस्समद, अकारिजा और फर्रुखबेग उत्कृष्ट चित्रकार थे। भारतीय चित्रकारों में अब्दुस्समद का शिष्य दशवत[1] चोटी का चित्रकार था। अन्य उच्चकोटि के चित्रकारो में बसापन, ताराचद, सावलदास, केशव, जगन्नाथ और हरिवंश आदि थे।[2]

अकबर ने फतहपुर सीकरी की दीवारो पर चित्र बनवाया, परंतु सर्वाधिक चित्रकारी के क्षेत्र में अधिक महत्त्वपूर्ण थे छोटे चित्र। अधिकाश चित्र सम्राट् की रुचि की पुस्तको को सचित्र करने के लिए बनवाये गये, किंतु कुछ स्वतत्र चित्र बनवाये गये, जिनमे सम्राट् के विशेष व्यक्तियो और दरबार से संबंधित विशेष घटनाओ को चित्रित किया गया है। इस काल के प्रारंभिक चित्रो में ईरानी वातावरण और शैली की प्रधानता है। आगे चल कर विदेशी और भारतीय कलाकारो के साथ-साथ काम करने से एक नयी शैली का विकास हुआ, जिसमे ईरानी और भारतीय शैलियो का समन्वय था। अकबर ने जिन अनेक ग्रथो को चित्रित कराया उनमे **दास्तान-ए-अमीर हम्जा**[3], **तारीख-ए-खानदाने तैमूरिया**, **रज्मनामा (महाभारत) रामायण**, **वाक्यात बाबरी**, **अकबरनामा**, **अन्वार-ए-सुहेली**, **तारीख-ए-रशीदी**, **खम्सा निजामी** और **बहरिस्तान जामी** आदि उल्लेखनीय है।

मुगल सम्राटो मे जहागीर को चित्रकला के प्रति विशेष रुचि थी और वह स्वयं भी कुशल चित्रकार था। उसमें चित्रो को देखकर यह बता देने की क्षमता थी कि उसका रचयिता कौन है।[4] उसने देश के विभिन्न भागो से चित्रकारो और उनकी कृतियो को आमत्रित कर उन्हे पुरस्कृत किया करता था। विदेशी यात्री सर टामस रो ने बादशाह की चित्रकला सबधी योग्यता की प्रशसा की है। जहागीर के दरबार के प्रसिद्ध चित्रकारो मे अबुल हसन, मसूर, मोहम्मद नादिर, विशनदास, मनोहर और गोवर्धन विशेष उल्लेखनीय है। अबुल हसन सम्राट् का सर्वप्रिय प्रथम कोटि का चित्रकार था। उसने सम्राट् के सिंहासनारोहण का एक चित्र बनाया था, जिसे उसने स्वरचित **तुजुक-ए-जहांगीरी** के मुखचित्र के रूप में लगाया था। उस्ताद मसूर द्वितीय कोटि का चित्रकार था।

1. प्रारंभ में वह पालकी ढोने वाला कहार था लेकिन अकबर ने उसे चित्रकारी सीखने को प्रोत्साहित कर ख्याति और सम्मान दिया।

2. देखिये, आइन-ए-अकबरी।

3 वह हुमायू के काल मे चित्रित होना शुरू हुई थी जिसे अकबर ने पूरा कराया। जिसमे उनका पर्याप्त धन व्यय हुआ। इसमें मानव, पशु-पक्षी, पृथ्वी, आकाश आदि का सजीव चित्रण है।

4 देखिये, तुजूक-ए-जहागीरी, 1, 20-21।

सम्राट् ने उनको क्रमश· 'नादिर-उज्-जमा' और 'नादिर-उल-अस्र' की उपाधियों से विभूषित किया था। तात्कालिक चित्रों से पता चलता है कि नराकृतियों के चित्रण में विशनदास अत्यंत कुशल था और फूल-पत्तियों और पशु-पक्षियों के चित्रण में मंसूर और मनोहर अत्यत कुशल थे। विशनदास के संबंध मे जहागीर ने लिखा है[1] "मेरे भाई शाह अब्बास की उसने ऐसी सच्ची शबीह लगायी कि मैंने जब उसे शाह के नौकरों को दिखाया तो वे मान गये। मैंने विशनदास को एक हाथी और बहुत कुछ पुरस्कार दिया।" अस्तु, उसने कुशल चित्रकारो को प्रोत्साहित कर चित्रकला का विकास किया।

जहागीर सौंदर्य-प्रेमी था इसलिए उसने प्रकृति के विभिन्न रूपो का चित्रण करवाया। इनमे यथार्थता के साथ सजीवता भी थी। चित्रों को जिस प्राकृतिक पृष्ठभूमि में बनाया गया है वह पृष्ठभूमि भी वास्तविकता पर आधारित है। यथा कश्मीर का चित्र बनाते समय ऐसे ही वृक्ष और पक्षी बनाये जाते थे, जो वहा पाये जाते थे और मौसम के अनुसार ही पुष्पों का खिलना दिखाया जाता था। इसके अतिरिक्त मनुष्यों के चित्र काल्पनिक न होकर वास्तविक है। विशनदास ने फारस के प्रमुख व्यक्तियो के चित्र खीचकर सम्राट् को भेंट किये थे। सम्राट् ने अपने एक उद्यान में अनेक मूल्यवान चित्रो की एक गैलरी स्थापित की थी।[2] सभवत उसके महलो मे भी चित्रों की अनेक गैलरिया रही होगी। जहागीर के काल में चित्रकला अपने चरमोत्कर्ष पर पहुच गयी थी और उसके राज्यकाल को मुगल चित्रकला का स्वर्ण युग मानते है।

शाहजहा भी चित्रकला का प्रेमी था।[3] किंतु चित्रकला से अधिक वह स्थापत्य कला का प्रेमी था, इसलिए चित्रकला को वह महत्त्व न मिल सका जो जहागीर के काल मे उसे प्राप्त था। इसके काल के चित्रों की विशेषता चटकीले रग और सजावटी किनारे हैं, जिससे कृत्रिमता आ गयी है। इनमे कल्पना का अभाव है तथा प्रकाश एवं छाया की ओर अधिक ध्यान नही दिया गया है। इस काल के चित्र में स्वाभाविकता के स्थान पर सादृश्य था। शाहजहा के दरबार में अनेक कुशल चित्रकार थे। इनमें मोहम्मद फकीर उल्लाह सर्वप्रमुख चित्रकार था। मीर हाशिम उसका सहायक था। सम्राट् के अतिरिक्त दारा शिकोह और वकील आसफ खां भी चित्रकला के कद्रदां थे।

कुरान के नियमो का कट्टरता से पालन करने वाला औरंगजेब कला विरोधी था। फलत· उसके राज्यकाल में चित्रकारों को राजकीय सरक्षण एवं प्रोत्साहन

1. वही।
2. वही, 1, 161-62।
3 हिस्ट्री आफ शाहजहा आफ डेलही 266।

मिलना बंद हो गया। अत अनेक दरबारी चित्रकारों ने मुगल अमीरों और हिंदू राजाओं के यहा शरण ली। कुछ चित्रकार बाजारों में चले गये, वहा जनता की रुचि के चित्र बनाये। इस प्रकार चित्रकला अब दरबार से निकल कर जन-साधारण तक पहुँच गयी और इसमें पूर्वकाल की कलात्मकता का अभाव हो गया।

अत में सक्षेप मे हम देखते है कि भारतीय सस्कृति और मुसलमानो की संस्कृति के सम्मेलन से भारतीय सस्कृति पर बहुत प्रभाव पडा जो संक्षेप मे इस प्रकार है। मुगल काल में विदेशो से संपर्क बढा। भारतीय सामुद्रिक व्यापार को बढ़ावा मिला। जिससे भारत मे विशेषकर उत्तरी भारत मे आतरिक शाति रही। शासन मे बहुत-कुछ एकरूपता रही, जो देश को एक सूत्र में बाधने मे सहायक हुई। सामाजिक व्यवहार एवं पहनावे आदि में एकरूपता आई। कला के क्षेत्र में नवीन शैलियो का विकास हुआ। स्थापत्य कला के क्षेत्र मे पर्याप्त विकास हुआ, चित्रकला और बागबानी आदि मे विशेष उन्नति हुई। इसके साथ ही नये-नये उद्योगो (शाल, कालीन और दरी आदि) का विकास हुआ। साधारण बोल-चाल की भाषा—हिंदी, उर्दू तथा अन्य प्रातीय भाषाओं का विकास हुआ। इससे हिंदू और मुसलमानो के बीच सद्भाव और मेलजोल बढा। जन-साहित्य के विकास से दिल्ली साम्राज्य के अतर्गत शाति स्थापित हुई तथा नयी सभ्यता एव सस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ। धर्म के क्षेत्र में जागरण हुआ। सूफी मत और भक्ति आदोलन का प्रचार हुआ जिससे हिंदू और मुसलमानो के बीच भाईचारा बढा। ऐतिहासिक साहित्य का विकास हुआ। अनेक ऐतिहासिक ग्रथ एवं यात्रा विवरण लिखे गये। युद्ध की कला।मे उन्नति हुई।

•

अध्याय ग्यारह

आधुनिक भारत में नवजागरण

भारत में तुर्क शासन स्थापित हो जाने के बाद (14वी 15वो शताब्दी) से लेकर अंग्रेजों के प्रभुत्व स्थापित हो जाने (बीसवी शताब्दी के मध्य) तक भारत की आध्यात्मिक, नैतिक, शैक्षिक एवं राजनीतिक चेतना शिथिल रही। मुगलों तथा अंग्रेजों के शासन मे मौलिक अतर यह था कि मुगलों ने प्रभुत्व को स्थायी बनाने के लिए धार्मिक प्रभाव पर बल दिया, किंतु भारतीय परंपरा का बहिष्कार नही किया। परंतु अंग्रेजी सत्ता का उद्देश्य भारतीय जीवन को निष्क्रिय बनाकर अंग्रेजी शासन की स्थापना करना था। उन्होने विभिन्न क्षेत्रों मे अपना अधिकार स्थापित करके भारतीयो के बीच धार्मिक वैषम्य को बढ़ाया और उनमें फूट डालने का सफल प्रयास किया। देश का विशाल भूभाग लगभग दो सौ वर्ष तक (1757 से 1947 तक) अंग्रेजो के अधीन रहा।

देश के कुछ जागरूक व्यक्तित्वों ने देश की स्थिति को सम्हालने के लिए अंग्रेजों की नीति के विरुद्ध ठोस कदम उठाये। उनके प्रेरणादायी एवं सबल नेतृत्व ने राष्ट्रीय जागरण को गति प्रदान की। इस प्रकार 19वी शताब्दी मे देश में दासता के विरोध में नवीन क्रांति की भूमिका बनी। इस राष्ट्रीय चेतना ने धार्मिक, बौद्धिक, सामाजिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक और आर्थिक आदि सभी क्षेत्रो मे नवजागरण के अभिनव आयाम खोले और चेतना की तरंगो से जन मानस को उद्वेलित किया।

धार्मिक आंदोलन

आधुनिक भारत में नवजागरण का श्रीगणेश सर्वप्रथम धार्मिक आंदोलन के रूप में हुआ। वेदों के आलोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन पर बल दिया गया, अंधविश्वासों तथा रूढिवाद के स्थान पर तर्क एवं बुद्धि को प्रधानता दी गयी। ईसाई प्रचारक हिंदू और मुस्लिम धर्म पर आक्षेप कर पाश्चात्य संस्कृति का प्रचार कर रहे थे। परिणामस्वरूप धर्म के नेताओं ने देश की दुरवस्था को देख कर स्वधर्म में संशोधन किये और धार्मिक आंदोलन छेड़े। इन आंदोलनों का उद्देश्य परवर्ती काल में उत्पन्न हुई कुरीतियों को दूरकर धर्म और समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन लाना था।

ब्रह्मसमाज

ब्रह्मसमाज के प्रवर्तक राजा राममोहन राय को नवयुग का अग्रदूत माना

जाता है। उन्होंने ईसाई मिशनरियों के हिंदू धर्म पर आक्षेप करने के उत्तर में ब्रह्मसमाज की स्थापना की थी। ब्रह्मसमाज ईसाइयत के विरोध में हिंदू समाज की रक्षा के लिए प्रथम बाध था। ब्रह्मसमाज का उद्देश्य मूर्तिपूजा का विरोध और जातिभेद आदि कुरीतियों का निवारण, एकेश्वरवाद की उपासना था। इसकी प्रथम बैठक कलकत्ता में 20 अगस्त 1828 ई० में हुई थी। इसके साप्ताहिक अधिवेशनों में वेदपाठ, उपनिषदों के बंगला अनुवाद का वाचन और बंगला में उपदेश होते थे।

राजा राममोहन राय ने भारतीय जीवन की विविधता को ध्यान में रखकर सारे धर्मानुयायी समाज के धर्मग्रंथों का अनुशीलन कर रूढ़िवादी भारतीय विचार-पद्धति पर नवयुग के अनुरूप एक ऐसे ईश्वरवाद की स्थापना की, जो मानव धर्म का मूलमंत्र लगता है। राजा साहब एक गंभीर विचारक, समाज सुधारक और शिक्षा शास्त्री थे। बंगला, अंग्रेजी, संस्कृत, फारसी, ग्रीक और हिब्रू आदि भाषाओं के वे ज्ञाता थे। वे मानवतावादी उदार विचारों के पोषक थे। उन्होंने राष्ट्रीयता एवं अंतरराष्ट्रीयता के समन्वय पर बल दिया और प्राच्य एवं पाश्चात्य विचारधाराओं का समन्वय किया।

ब्रह्मसमाज ने सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए अभियान किये, जिसके परिणामस्वरूप सती प्रथा को बंद करने के लिए 1829 ई० में एक कानून बना और 1856 ई० में विधवा विवाह को न्यायिक मान्यता प्राप्त हुई। ब्रह्मसमाज की स्थापना के दो वर्ष बाद राममोहन राय इंगलैण्ड चले गये। 1833 में उनकी मृत्यु हो गयी। इसके बाद ब्रह्मसमाज का कार्यभार देवेंद्रनाथ ठाकुर ने सम्हाला। उन्होंने ब्रह्मसमाज को एक संगठन के रूप में एक निश्चित विधान तथा नियम बना कर सुदृढ़ किया। उन्होंने 1839 में "तत्वबोधिनी सभा" की स्थापना की और तत्वबोधिनी पत्रिका के माध्यम से उसका प्रचार प्रारंभ किया और महानिर्वाण तंत्र के आधार पर एक नवीन दीक्षा विधि का सूत्रपात किया, जिसके अनुसार ब्रह्मसमाज के सदस्यों को दीक्षा दी जाने लगी। देवेंद्रनाथ ने वेदों को दैवी और सब धर्मों का आदि स्रोत माना है। किंतु ब्रह्म-समाज में युवा वर्ग ने वेदों की प्रामाणिकता के स्थान पर बुद्धि एवं तर्क पर पर अधिक बल दिया। इनके नेता अक्षयकुमार दत्त थे, जिन्होंने पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित होकर आंदोलन चलाना चाहा। जिसके कारण ब्रह्म समाज हिंदू धर्म और समाज से दूर हटने लगा। किंतु 1857 में केशवचंद्र ब्रह्मसमाज में सम्मिलित हुए, जिसके कारण ब्रह्मसमाज में नयी स्फूर्ति एवं उत्साह का संचार हुआ। केशवचंद्र सेन ने इस आंदोलन का प्रचार करके जनप्रिय बनाया। उनके सत्प्रयासों के परिणामस्वरूप ब्रह्मसमाज की 45 शाखाओं

की स्थापना हुई। इसी बीच देवेंद्रनाथ टैगोर से उनका मतभेद हो गया। देवेंद्रनाथ टैगोर पुरातनवादी और केशवचद्रसेन आधुनिकता के पक्षधर थे। परिणामस्वरूप ब्रह्मसमाज दो भागों में दलों मे विभक्त हो गया--आदि ब्रह्मसमाज और ब्रह्मसमाज।

प्रार्थना समाज

केशवचद्र सेन के नेतृत्व में जब "ब्रह्मसमाज" का दूसरे प्रातों में प्रचार होने लगा तो उससे प्रभावित हो कर 1867 में महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज नामक एक नवीन संस्था की स्थापना हुई। यह एक तरह ब्रह्मसमाज का ही दूसरा रूप था। इसके सस्थापक डॉ० आत्माराम पाडुरग थे। 1870 में इसमें रामकृष्ण गोपाल भडारकर और जस्टिस महादेव गोविंद रानाडे सम्मिलित हुए। वे जाति प्रथा के उच्छेद, विधवा-विवाह, स्त्री शिक्षा का प्रचार और बाल विवाह निषेध के सुधारों पर बल देते थे। उन्होने अनेक अनाथालयो, विधवा-श्रमों, रात्रिपाठशालाओं तथा कन्यापाठशालाओ की स्थापना की। अछूतो की दयनीय दशा को सुधारने के लिए "दलितोद्धार मिशन" की स्थापना की। महाराष्ट्र और उसके समीपस्थ प्रदेशो में प्रार्थना समाज ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

आर्य समाज

19वी शताब्दी के नवजागरण के आदोलनो मे आर्य समाज का सर्वोच्च स्थान है। आर्य समाज के सस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती (1824-1883 ई०) थे। दयानंद जी का जन्म काठियावाड मे एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उन्हं ने बाइस वर्ष की अवस्था में सत्य की खोज के उद्देश्य से गृह-त्याग किया था। 'ईश्वर का स्वरूप क्या है ?' 'हिंदू धर्म का वास्तविक रूप क्या है ? और ईश्वरीय ज्ञान एव मोक्ष प्राप्ति का साधन क्या है' ? आदि प्रश्नो के समाधान के लिए चौदह वर्ष तक देश भर का भ्रमण किया और अनेक महात्माओं से सपर्क स्थापित किया। योग साधना, तपस्या एवं ज्ञानार्जन किया। 1860 ई० में मथुरा में दंडी स्वामी विरजानंद के चरणों में बैठकर तीन वर्षों तक विद्याभ्यास करते हुए प्रत्येक वस्तु के सत्यासत्य निर्णय की दृष्टि प्राप्त की। 1869 ई० में हरिद्वार के कुभ मे हिंदू धर्म की दुर्दशा देखकर पाखंड के विरुद्ध अपने कार्य का श्रीगणेश किया। उन्होने हिंदू धर्म के अंध-विश्वासों एवं प्रचलित कुरीतियों का खंडन किया और वैदिक सिद्धातो का प्रचार किया। उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश, संस्कार विधि, यजुर्वेद भाष्य आदि अनेक ग्रथ लिखे।

स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा प्रवर्तित आर्यसमाज ने आधुनिक भारत को, विशेष रूप से हिंदू समाज को, धार्मिक पुनर्जागरण की ओर प्रवृत्त किया। आर्य

समाज ने वैदिक परंपरा के आचारों एवं वेदात के अद्वैतवादी विचारों की पुन· स्थापना की। राष्ट्रीय एकता के निर्माण के लिए समस्त हिंदू समाज को एक मंच पर सगठित होने का आह्वान किया, जिसमें उन्हे सपूर्ण उत्तर भारत में व्यापक समर्थन प्राप्त हुआ।

महर्षि दयानद वेद शास्त्रो का अनुशीलन करके इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बालविवाह अनुचित है, विशेष परिस्थितियो में विधवा विवाह शास्त्र सम्मत है और समाज में ऊच-नीच का भेद भाव आर्य धर्म के विपरीत है। उन्होने पुरुषो के समान स्त्रियों को शिक्षा पर बल दिया। उन्होने एकेश्वर उपासना पर बल देते हुए यह सिद्ध किया कि मूर्ति पूजा वेद विहित नही है और निराकार ईश्वर की मूर्ति बनायी ही नही जा सकती। उन्होने अवतारवाद का खडन किया। वे पुनर्जन्म मे विश्वास रखते थे और श्राद्ध को निरर्थक मानते थे। इस प्रकार हिंदू धर्म के विषय में उनके विचार क्रातिकारी थे। स्वामी दयानद जी ने वेदो की शिक्षा को जन साधारण तक पहुँचाने के लिए सर्वप्रथम वैदिक सहिताओ का हिंदी भाषा में अनुवाद किया। यद्यपि उनकी मातृभाषा गुजराती थी तथापि उन्होंने लोक भाषा हिंदी द्वारा ही अपने विचारो को उत्तरी भारत मे जन-जन तक पहुँचाया।

भारत में इस्लाम धर्म के प्रवेश के उपरात हिंदू धर्म सकीर्णताओं से जकड गया था। किसी विधर्मी को हिंदू धर्म मे स्वीकार नही किया जाता था। दूसरी ओर धार्मिक एव सामाजिक मर्यादाओ का अतिक्रमण करने वाले हिंदुओ को धर्मभ्रष्ट मान कर हिंदू धर्म से बहिष्कृत कर दिया जाता था। विधर्मी हिंदुओ की इस निर्बलता का लाभ उठाते थे। अत दयानद जी ने विधर्मियो को 'शुद्धि' द्वारा हिंदू बनाना प्रारभ किया। हिदुओ का धर्म बहिष्कार भी बद हुआ। विधर्मियो को हिंदू बनाने से उनमे नवजीवन का सचार हुआ।

महर्षि दयानंद ने भारत की राजनीतिक दुर्दशा की ओर ध्यान दिया और अपने अनुयायियो का ध्यान भारत के लुप्त गौरव की ओर आकृष्ट किया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि एकता के अभाव के कारण ही भारत का प्राचीन गौरव नष्ट हुआ और देश मुसलमानों तथा अग्रेजों द्वारा आक्रांत हुआ। अतः उन्होंने इस बात पर बल दिया कि विदेशी शासन का अंत कर 'स्वराज्य' के लिए प्रयास करना चाहिए। यह आवाज सर्वप्रथम स्वामी जी ने ही उठायी थी। उन्होंने कहा कि यह जाति-नियम और राज-नियम होना चाहिए कि सात वर्ष की अवस्था में सभी बालकों को शिक्षार्जन के लिए पाठशाला भेज दिया जाय, जहां गरीब अमीर सभी छात्रों को समान रूप से पुस्तकों, भोजन, दौया,

वस्त्रादि का समुचित प्रबंध होना चाहिए तथा शिक्षा पूर्ण होने पर सभी को योग्यता के अनुसार कार्य दिया जाय।

स्वामी दयानद की शिक्षाओं के प्रसार के लिए आर्यसमाज ने अनेक भजनोपदेशकों तथा धर्म प्रचारको को तैयार किया और अनेक विद्यालयों (दयानद ऐंग्लो वैदिक कालेजों और आर्य कन्या विद्यालयों) अनाथालयों, विधवाश्रमों, चिकित्सालयों और आश्रमो की स्थापना की। ईसाई मिशनरियों के धर्म परिवर्तन के प्रयास को रोकने के लिए आर्यसमाज ने उपदेशक एवं समाजसुधारक मडलिया तैयार की। स्त्री शिक्षा पर विशेष बल दिया। अछूतोद्धार आर्य समाज का अत्यत महत्त्वपूर्ण कार्य था।

वैदिक साहित्य के अध्ययन से आर्यसमाज ने गुरुकुलो की स्थापना की, जिसमे ब्रह्मचारियो को नि शुल्क शिक्षा दी जाती थी। वही उनके आवास, भोजन, वस्त्रादि का भी प्रबंध रहता था। स्वामी दयाननद के प्रमुख शिष्य श्रद्धानंद गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के प्रवर्तक थे। गुरुकुलों की शिक्षा में वेद शास्त्रों को प्रमुख स्थान दिया गया। आर्यसमाज के दूसरे महात्मा हंसराज ने आधुनिक ज्ञान विज्ञान की शिक्षा पर बल दिया। हंसराज जी ने लाहौर में सर्वप्रथम दयानद ऐंग्लो वैदिक कालेज (डी० ए० वी० कालेज) की स्थापना की। इसके अनतर ऐसे अनेक कालेज खुले, जिनमे हिंदी माध्यम से ज्ञान-विज्ञान, कला की शिक्षा दी जाती थी।

आर्य समाज ने धर्म और सामाजिक सुधार के क्षेत्र में भारत के नवजागरण के लिए जो कार्य किया, वह स्तुत्य है। आर्य समाज ने विदेशी एव विधर्मी शासन से ग्रस्त हिंदू जनता की हीन भावना को दूर किया और उनके विस्मृत सास्कृतिक गौरव की ओर आकृष्ट किया। दयानद जी ने इस बात पर बल दिया कि वेद ससार का सर्वाधिक प्राचीन धर्मग्रथ है और सभी धर्मों का उद्भव आर्य धर्म से हुआ है तथा आर्य जाति संसार की सर्वश्रेष्ठ जाति है। इस प्रकार भारतीय आर्य जनता में स्फूर्ति का सचार किया।

रामकृष्ण मिशन

स्वामी विवेकानंद ने अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस[1] की मृत्यु के बाद आध्या-

---

1. रामकृष्ण परमहस (1834-86 ई०) कलकत्ता के निकट एक मंदिर में योग ध्यान में मग्न रहा करते थे। इसके अध्यात्म चिंतन, सेवाभाव, उच्च त्यागमय जीवन एवं आदर्शों ने बहुत लोगों को प्रभावित किया। कलकत्ता के अनेक नवयुवक इनके दर्शन-लाभ के लिए नित्य आते थे। इनमें नरेन्द्रनाथ दत्त (विवेकानंद) का नाम अग्रगण्य है। विवेकानंद ने रामकृष्ण मिशन की शिक्षाओं का प्रचार

त्मिक उत्थान और जनसेवा कार्य के लिए रामकृष्णमिशन नामक संस्था की स्थापना की, जिसकी अनेक शाखाए भारत और विदेशो मे खोली। इस मिशन के सदस्य एक ओर अपने गुरु द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतो का उपदेश देते थे और दूसरी ओर चिकित्सालय और सेवाश्रम आदि के द्वारा जन सेवा करते रहे। रामकृष्ण मिशन ने हिंदू जनता को अत्यधिक प्रभावित किया। देश के अशिक्षित पीडित, रोग ग्रस्त एवं पददलित जनता की सेवा करना मिशन का उद्देश्य था।

स्वामी विवेकानंद का व्यक्तित्व विलक्षण था, उनकी विद्वत्ता अगाध थी और उनमें अध्यात्म शक्ति की तेजस्विता विद्यमान थी। 1893 ई० में विवेकानद ने शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन में भाग लेकर भारतीय अध्यात्म ज्ञान पर अपना ओजस्वी भाषण देकर लोगो का ध्यान हिंदू धर्म की ओर आकृष्ट किया। फलत. भारत के अध्यात्मवाद को आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा। विश्व के सम्मुख भारतीय संस्कृति और सभ्यता की श्रेष्ठता की निर्भीक घोषणा करने से हिंदुओं में स्फूर्ति एव प्रेरणा का सचार हुआ। अमेरिका ओर इगलैंड ने हिंदू धर्म का प्रचार करने के बाद भारत वापस लौटने पर उनका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। उन्होने वेलूर और मायावती (अल्मोडा) मे दो केंद्र स्थापित किये। विवेकानद और उनके रामकृष्ण मिशन ने नवीन परिस्थितियो के अनुरूप हिंदुत्व की नयी अभिव्यक्ति के लिए असाधारण कार्य किया।

स्वामी विवेकानद ने एक ओर पाश्चात्य जीवन के गुणो की प्रशसा की और दूसरी ओर उनके जातीय अहकार, विलासिता, स्वार्थपरता, आर्थिक शोषण की प्रवृत्ति, राजनीतिक चालबाजियो आदि दोषों की घोर निंदा की। उन्होने धर्म के सच्चे अर्थ की व्याख्या करते हुए कहा कि धर्म मनुष्य के भीतर निहित देवत्व का विकास है। उन्होने भारतीयो में कर्म की भावना को उत्पन्न किया।

विवेकानद स्वास्थ्य लाभ के लिए इगलैंड और अमेरिका गये। सैनफ्रासिस्को में उन्होंने वेदात सोसायटी स्थापित की। 1900 ई० में पेरिस में धार्मिक महासम्मेलन में सम्मिलत हुए। वहाँ से लौट आने पर 1902 मे 40 वर्ष की अवस्था मे उनका स्वर्गवास हो गया।

थियोसोफिकल सोसायटी (ब्रह्म विद्या मंडल)

थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना न्यूयार्क में रूसी महिला मैडम ब्लै-

---

[illegible] प्रसार देश विदेश में किया। रामकृष्ण के अनुसार ईश्वर एक है तथा अध्यात्मवाद का अनुसरण कर ब्रह्म में लीन होना ही मनुष्य का चरम ध्येय है। प्रतिमा पूजन के द्वारा मनुष्य आध्यात्मिक शक्ति का विकास कर सकता है। काली उनकी इष्ट देवी थी।

वेट्स्की तथा कर्नल आल्काट ने 1875 ई० में की थी। 1879 में वे भारत आये और 1886 ई० मे मद्रास के निकट अड्यार में इस संस्था का केंद्र स्थापित किया। तब से भारत से ही इसका प्रचार अन्य देशों में होने लगा। भारत में इस आंदोलन को सफल बनाने का श्रेय श्रीमती एनीबेसेंट को है।[1]

थियोसाफिकल सोसायटी का मुख्य उद्देश्य समस्त धर्मों की मूलभूत एकता, आध्यात्मिक जीवन को महत्त्व देना और विश्वबंधुत्व का विकास करना था। थियोसीफी आदोलन ने हिंदू धर्म की प्राचीन रूढियों, विश्वासों और कर्मकाड का समर्थन किया। श्रीमती बेसेंट ने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वाराणसी में सेंट्रल हिंदू स्कूल की स्थापना की। यही बाद में कालेज और अत में हिंदू विश्वविद्यालय बना। श्रीमती बेसेट की इच्छा थी कि ससार हिंदू धर्म के महत्त्व को समझ सके तथा योरोप और अमेरिका के निवासी एशिया की आध्यात्मिक गरिमा का मूल्य जान सकें। थियोसाफिकल सोसायटी के माध्यम से ही भगवद्गीता और उपनिषदों का प्रचार योरोप और अमेरिका मे हो सका और वहाँ के निवासियों के हृदय में भारतीयो के प्रति सहानुभूति एवं सम्मान की भावना उत्पन्न हुई।

थियोसाफकल आदोलन के कारण औद्योगिक प्रदर्शनियों का संगठन हुआ, स्वदेशी का प्रचार हुआ, अछूतोद्धार, मद्य-निषेध, नारी-शिक्षा संबंधी कार्य हुए और इंडियन नेशनल काग्रेस को बल मिला। उन्होंने हिंदुत्व के दर्शन, पूजाविधि, योग, नीति, वर्णाश्रम धर्म, अवतारवाद, आचार-विचार, देववाद, नियमादि का पूर्णरूपेण समर्थन किया। उन्होने सभी धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करके हिंदू धर्म को पूर्ण, दार्शनिक और वैज्ञानिक बताया। थियोसाफिकल आदोलन के निम्न-लिखित प्रमुख उद्देश्य थे। प्रथम, मानव जाति में सार्वभौमिक भ्रातृभाव उत्पन्न करना, दूसरे; विभिन्न धर्म, दर्शन एव विज्ञान के अध्ययन को प्रोत्साहन देना तथा प्रकृति के अज्ञात नियमो तथा मानव में अतर्निहित शक्ति का विकास करना। उसका एक सर्वव्यापी सत्ता में विश्वास था। उसका लक्ष्य एक ऐसे मानव समाज का निर्माण करना था जिसकी प्रत्येक इकाई के हृदय में सेवा, सहिष्णुता, आत्म-विश्वास और समत्व की भावना का विकास होता हो और उन्ही से प्रेरित होकर प्रत्येक कार्य होता रहे।

---

1 श्रीमती बेसेंट जन्म से अंग्रेज किंतु स्वेच्छा से भारतीय थी। उन्हें भारतीयता और हिंदुत्व से अगाध प्रेम था। उन्होंने कहा था कि पूर्व जन्म में वह हिंदू थी। उन्होंने तीर्थाटन किया। वाराणसी में रह कर उन्होंने रामायण और महाभारत पर सक्षिप्त भाष्य लिखे। उन्होंने हिंदुत्व के आदर्शों का खूब प्रचार किया। उनकी दानशीलता भी सराहनीय थी।

राधास्वामी सत्संग

राधास्वामी सत्संग की स्थापना आगरा में 1861 ई० मे हुई थी। इसके प्रवर्तक श्री शिवदयाल साहब थे, जिनका जन्म क्षत्रिय कुल में 1818 में हुआ था। इस मत के अनुसार राधास्वामी ईश्वर का नाम है जिन्होने संत सद्‌गुरु के रूप में अवतार लिया था। अत इस संस्था के गुरु ईश्वर के अवतार माने जाते हैं। इनके छठे गुरु स्वामी आनन्दस्वरूप के समय में इस मत की बडी प्रगति हुई। फलत आगरा के निकटस्थ दयालबाग के रूप में एक समृद्ध एवं औद्योगिक उपनिवेश की स्थापना हुई।

राधास्वामी सत्संग के अनुयायी वर्ण, जाति-पाति एवं ऊच-नीच में विश्वास नही करते। वे ईश्वर, जीवात्मा एवं ससार को सत्य मानते है। वे कबीर, दादू, नानक आदि संतो को आदर्श मानते है और उनकी बानी को अपना साहित्य मानते है। वे सभी धर्मों के प्रति समभाव रखते हैं और प्रेम एवं भ्रातृत्व का का प्रचार करते है। राधास्वामी सत्संग को भक्ति मार्ग और योगमार्ग का मिश्रण माना गया है। इसने औद्योगिक प्रगति और विद्वता का प्रचार करके सास्कृतिक जागरण एवं राष्ट्रनिर्माण के कार्य में बहुमूल्य योगदान किया।

मुसलमानों में धार्मिक जागरण

हिंदू धर्म के नवजागरण ने इस्लाम को भी प्रभावित किया। मध्यकाल में मुसलमान शासक थे किंतु आधुनिक काल मे वे शासित हो गये। अंग्रेजी शासन के प्रारभ मे वे उच्च पदो से वंचित रहे। मुसलमानों का विश्वास था कि ज्ञान के क्षेत्र मे जो कुछ भी जानने योग्य है, वह सब कुरान में उल्लिखित है। कुरान और हदीस के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञान हो सकता है, यह बात उन्नीसवी शताब्दी के प्रारंभ तक उनकी समझ में न आयी थी। मुस्लिम युग मे संस्थापित मदरसो में वे केवल अरबी-फारसी के माध्यम से मुस्लिम धर्म ग्रंथों का अध्ययन करते थे। वे पाश्चात्य शिक्षा के घोर विरोधी थे। किंतु धीरे-धीरे परिस्थिति बदली। 1867 में देवबंद में 'दारुलउलूम' की स्थापना हुई, किंतु कुछ मुसलमानों ने विज्ञान का विरोध कर परंपरावाद का समर्थन किया। 1892 ई० मे 'मजलिस-ए-नदवाह्-अल-उल्मा' की स्थापना हुई। शिबली नूमानी ले उसमें अंग्रेजी शिक्षा के अध्ययन का प्रबंध किया किंतु उन्हे सफलता न मिली। मिर्जा गुलाम अहमद (1839-1908) ने विज्ञान की ओर रुचि प्रदर्शित की, किंतु उन्हें भी असफलता का सामना करना पडा।

मुस्लिम संसार के इस अधकार में प्रकाश दिखाने के लिए सर सैयद अहमद खां[1] ने अभूतपूर्व कार्य किया। उन्होंने धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया।

1. सैयद अहमद खां का जन्म 1816 ई० में दिल्ली के एक कुलीन

उन्होंने मुसलमानों की रूढ़िवादिता और पिछड़ेपन का विरोध किया। उन्होने मुस्लिम समाज-सुधार करने का भरसक प्रयास किया। उन्होंने 'इब्ताल-ए-गुलामी' मे सिद्ध किया कि इस्लाम गुलामी की प्रथा के विरुद्ध है। उन्होंने बहुपत्नीत्व को उसी दशा में वैध बताया जब तक पति प्रत्येक पत्नी के साथ समान न्याय कर सके। उन्होंने ब्याज को संगत बताया। उसके अनुसार संप्रदाय प्रेम (हुब्बे ईमानी) मानव प्रेम (हुब्बे इसानी) का पूरक है। उन्होंने पाश्चात्य ढग के रहन-सहन और लिबास की अनुमति दी जिससे मुल्लाओं ने उनका विरोध किया और उन्हे काफिर कहा।

शिक्षा के क्षेत्र में सैयद अहमद खां ने 1875 इ० में 'ऐंग्लो ओरियंटल कालेज' अलीगढ की स्थापना की जिसने बाद में विश्वविद्यालय का रूप धारण किया। इसमें परपरागत विद्याओ के साथ विज्ञान और तकनीकी की उच्च शिक्षा दी जाती थी। उन्होंने योरोप की विज्ञान की प्रगति से आकर्षित होकर और मुसलमानों को पिछड़ेपन से मुक्त करने के लिए शिक्षा की अंग्रेजी पद्धति को अपनाने पर बल दिया। वे 'अमल-ए-सालीह' का अर्थ ससार में रह कर सत्कार्य करना समझते थे। उनके इन विचारों से मुसलमानों में नव जागृति उत्पन्न हुई।

सामाजिक सुधार

19 वी शताब्दी में ब्रह्म समाज, आर्य समाज आदि ने समाज में प्रचलित कुरीतियो के निवारण के लिए अनेक सराहनीय कार्य किये। इसी प्रकार 1885 में जब राजनीतिक दशा सुधारने के लिए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई, तो सामाजिक दशा सुधारने के लिए 1888 ई० में महादेव गोविंद रानाडे की अध्यक्षता में 'राष्ट्रीय समाज सुधार परिषद्' का गठन किया गया। 1890 ई० मे समाज सुधार के लिए ही 'इंडियन सोशल रिफार्मर' नामक साप्ताहिक पत्र निकाला गया। 1897 ई० में बबई और मद्रास में समाज सुधार के प्रातीय

मुस्लिम परिवार में हुआ था। उन्हे परंपरागत इस्लामी शिक्षा मिली थी, किंतु उन्होंने बाद में हिब्रू और अंग्रेजी का ज्ञान अर्जित किया था। प्रारंभ में कंपनी के शासन में 'सद्र अमीन' की अदालत में छोटे कर्मचारी के रूप में कार्य करते थे। कुछ समय बाद उन्होंने मुंसिफी की परीक्षा पास की। 1857 के आदोलन के असफल हो जाने के बाद वे अंग्रेजी शासन का विरोध त्यागकर समाज-सुधार और शिक्षा के विकास में लग गये। और 'तहजीबुल अखलाक' नामक उर्दू पत्रिका के माध्यम से मुस्लिम संसार में अपने विचारों को फैलाया। 1898 में नकी मृत्यु हो गई।

संगठनों का गठन हुआ। बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में समाज सुधार का कार्य आर्यसमाज और भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस द्वारा हुआ। महात्मा गाधी ने हरिजनोद्धार और मद्य-निषेध पर विशेष बल दिया। 1920 ई० के आसपास भारतीय नारिया नव जागरण के पथ पर अग्रसर हुईं।

शिशु हत्या

शिशु हत्या की प्रथा दो रूपों में प्रचलित थी। बगाल में यह पुरानी प्रथा थी। प्राय नि संतान स्त्रिया यह सकल्प करती थी कि यदि उनके एक से अधिक बच्चे हुए तो वे एक बच्चा गगा माता को भेंट करेगी। 1795 ई० मे बगाल मे इस कुप्रथा पर कानून द्वारा प्रतिबध लगा दिया गया। दसरी कुप्रथा पुत्री वध की थी। पश्चिमी भारत के जाट और राजपूत आदि कन्या जन्म होते ही उसे विष दे कर मार डालते थे। जिससे विवाह आदि के समय दहेज आदि के कारण अपमानित और पीडित न होना पडे। 1808 मे एक कानून बना कर इसे भी अवैध घोषित कर दिया गया।

सती प्रथा

प्रारभ मे पति की मृत्यु के बाद पत्नी के लिए आजन्म वैधव्य और चिता पर जल कर भस्म हो जाने के अतिरिक्त कोई विकल्प न था। बाद में पति के साथ चिता पर जल कर भस्म होने को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। कभी-कभी सपत्ति के लालच में लोग स्त्रियो को मादक द्रव्यो का सेवन कराकर सती होने के लिए प्रेरित करने लगे। और जब स्त्री चिता की ज्वाला प्रज्वलित होने पर उठ कर भागती थी, तो उसे बासो से ठेल कर चिता पर जबरदस्ती लाया लाया जाता था। उसका चित्कार न सुनाई पडे उसके लिए शंख, ढोल आदि बजाये जाते थे। कभी-कभी स्त्री को चिता के साथ रस्सी से बाँध दिया जाता था।

मध्य काल में मुहम्मद तुगलक और अकबर तथा ब्रिटिश शासन काल में ईसाई पादरियों ने इस कुप्रथा को समाप्त करने का प्रयत्न किया, किंतु सफल न हुए। 1811 ई० में राजा राममोहन राय ने अपनी भावज के जबरन सती किये जाने का दारुण एव हृदय विदारक दृश्य को देखकर इस कुप्रथा का घोर विरोध किया। उन्होंने इसे स्त्री हत्या बताया और इसे बंद करने के लिए ब्रिटिश सरकार का साथ दिया। अतः 1812, 1815 और 1817 ई० में कुछ ऐसे नियम बने जिनमें अल्पायु, गर्भवती, और बच्चो वाली विधवाओं को सती होने पर रोक लगा दी गयी और किसी विधवा को सती होने के लिए बाध्य करना, मादक द्रव्यो का सेवन करा कर बेसुध करना, दंडनीय अपराध बना दिया गया। अंत में राजा राममोहन राय के विशेष प्रयास के फलस्वरूप लार्ड

विलियम बैंटिंग ने 1829 ई० में सती प्रथा को पूर्णरूपेण अवैध एवं दंडनीय अपराध घोषित किया।

विधवा विवाह

बाल-विवाह और अनमेल विवाह के कारण हिंदू समाज में विधवाओं की सख्या में वृद्धि हुई है। प्रचलित प्रथा के अनुसार विधवा स्त्री का पुनर्विवाह न करके कठोर सयम एव ब्रह्मचर्य का जीवन व्यतीत करना पडता था। परिवार तथा समाज में उन्हे हेय दृष्टि से देखा जाता था। पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (1802-1891 ई०) ने विधवा पुनर्विवाह के लिए आंदोलन किया और उसे वैध ठहराने के लिए भरसक प्रयत्न किया। इसके परिणामस्वरूप 1856 ई० में एक कानून बना, जिसके अनुसार विधवा विवाह को वैध मान कर विवाहिता विधवाओ की सतान को वैधता घोषित की गयी। ब्रह्म समाज और आर्यसमाज का कार्य इस क्षेत्र में सराहनीय रहा है। अनेक प्रातो में विधवा विवाह के समर्थन में आदोलन हुए और विधवाश्रमो की स्थापना हुई। यथा 1861 ई० में स्थापित बबई की विधवा विवाह सस्था, अहमदाबाद में स्थापित विधवा पुनर्विवाह सस्था, मैसूर का महारानी स्कूल, पजाब में पवित्र सस्था और लखनऊ की हिंदू विवाह सुधार लीग आदि ने इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किये। 1887 ई० मे शशिपद बनर्जी ने इसी प्रकार की संस्था कलकत्ता मे खोली। 1889 ई० मे पडिता रमाबाई ने पूना मे उन हिंदू विधवाओ के लिए 'शारदा सदन' खोला था, जो ईसाई बन गयी थी। श्री कर्वे ने 1896 ई० में विधवाश्रम की स्थापना की। आर्यसमाज ने इसके बाद अनेक विधवाश्रम स्थापित किये। 1914 ई० में सर गंगाराम ने लाहौर में विधवा विवाह सहायक सभा की स्थापना की, जिसकी शाखाएं अनेक प्रातों में खोली गयी।

बाल विवाह तथा बहुविवाह

ब्रह्म समाज और आर्य समाज ने बाल विवाह का अंत करने के लिए सराहनीय कार्य किया। इसके अतिरिक्त आधुनिक काल के सबसे बडे पारसी सुधारक एवं पत्रकार श्री बहराम जी मलाबारी ने बाल विवाह के विरोध में 1884 ई० में आंदोलन चलाया। 1890 ई० में ग्यारह वर्ष की आयु में पति द्वारा किये गये सहवास से फूलमणि की मृत्यु हो गयी। अत. पति पर हत्या का अभियोग चला। किंतु पति ने अपनी सफाई में भारतीय दंडविधान की वह धारा पेश की जिसके अनुसार विवाहित जीवन में सहवास की न्यूनतम आयु दस वर्ष थी। इस पर पति मुक्त हो गया। अत. श्री मलाबारी आदि सुधारकों ने सरकार से सहवास आयु बढाने और बाल-विवाह पर प्रतिबंध लगाने पर बल दिया। फलत 1891 ई० में सहवास आयु बारह वर्ष का प्रस्ताव कानून बन गया। देशी

राज्यों में बडौदा में सर्वप्रथम 1901 ई० मे बाल-विवाह निषेधक कानून द्वारा बालक बालिकाओं के विवाह के लिए न्यूनतम आयु क्रमश सोलह और बारह वर्ष रखी थी। श्री हरविलास शारदा (अजमेर) के प्रयत्नो से भारत सरकार ने 1929 ई० में बाल विवाह निषेधक कानून पास किया, जिसके अनुसार 18 वर्ष से कम आयु के बालक और 14 वर्ष से कम आयु की बालिका का विवाह नहीं हो सकता। फिर भी गावो में बाल विवाह बन्द न हो सके। शिक्षा प्रसार के फलस्वरूप बाल विवाह का प्रचलन नगरो मे प्राय समाप्त हो गया है।

राजा राममोहन राय ने बहु विवाह के विरुद्ध आदोलन चलाया। आगे चलकर 1872 ई० में केशवचद्रसेन के प्रयत्नो के द्वारा 'नेटिव मैरिज ऐक्ट' पास हुआ, जिससे बहुविवाह को दंडनीय अपराध घोषित किया गया।

स्त्रियों का उत्थान

समाज में स्त्रियो की दशा दयनीय थी। उन्हे तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था। वे शिक्षा से वंचित थी। उन्हे पर्दे में रखा जाता था। संपत्ति मे उनका अधिकार नाम मात्र का था। नवजागरण के फलस्वरूप उनमें असाधारण जागृति हुई और समाज में पुरुषो के समान अधिकार मिले।

1857 के आदोलन के पूर्व हिंदू कन्याओ के लिए कुछ स्कूल स्थापित किये गये थे। ईसाई मिशनरियो ने ईसाई धर्म को ग्रहण करने वालो की बालिकाओ केलिए स्कूल खोले। 1854 ई० मे कलकत्ता मे हिंदू बालिका विद्यालय की स्थापना हुई। लार्ड डलहौजी ने इस सस्था को अनुदान दिया था। 1857 ई० के लगभग सौ राजकीय महिला विद्यालयो की स्थापना हुई। इसी बीच ब्रह्म समाज, आर्य समाज, थियोसोफिकल सोसायटी आदि सस्थाओ ने स्त्रियों की शिक्षा के लिए खूब कार्य किया। 'दक्षिण शिक्षा समिति' ने स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। 1908 मे श्री मलाबारी द्वारा स्थापित 'सेवासदन सोसायटी' और 1909 में श्रीमती रानाडे द्वारा स्थापित 'पूना सेवासदन' (पूना), इस क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। 1914 ई० में 'वीमेंस मेडिकल सर्विस ने नर्स एवं मिडवाइफ के प्रशिक्षण के लिए शिशु स्वास्थ्य रक्षा और मातृत्व की प्रगति के लिये असहाय विधवाओ को जीविका दिलवाने के लिए उल्लेखनीय कार्य किये। 1916 में स्त्रियों को मेडिकल शिक्षा की सुविधा देने के लिए दिल्ली में लेडी हार्डिंग मेडिकल कालेज की स्थापना हुई, जो बालिकाओं को एम० बी०, बी० एस० की डिग्री देता था। इसके अतिरिक्त 'भारतीय रेडक्रास सोसायटी' और 'मेटर्निटी एंड चाइल्ड वेलफेयर ब्यूरो' भी महिलाओं को शिक्षा देती थी। निर्धन और निम्न वर्ग की स्त्रियों को कारखानों में श्रमिक के रूप में भर्ती किया गया। शिशुगृह, आश्रम, अस्पताल आदि खोले गये। अनेक सरकारी और गैर-

सरकारी पदों पर स्त्रियों को कार्य करने का अवसर दिया गया। 1947 के बाद स्त्रिया न्यायाधीश, राजदूत और मंत्री आदि उच्च और असाधारण दायित्व वाले पदों पर भी नियुक्त की जाने लगी। सरकार के नये कानून द्वारा संपत्ति में उन्हें उत्तराधिकार भी दिये गये हैं।

1917 ई० के बाद महिला मताधिकार आदोलन को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई, फलत. स्त्रिया अनेक परिषदों, संस्थाओं तथा कारपोरेशनों आदि की सदस्य होने लगी। 1935 के भारतीय सरकार के अधिनियम से स्त्रियों को संसद और विधान सभाओ मे स्थान दिये गये और प्रत्येक वयस्क स्त्री को मताधिकार दिया गया। शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ पर्दा प्रथा का उन्मूलन हो गया। शिक्षित मुस्लिम महिलाए भी पर्दा प्रथा का बहिष्कार कर रही है।

हरिजनोद्धार

निम्न जाति के अनेक हिंदुओं को अछूत माना जाता था। उनके साथ अमानुषिक अत्याचार होते थे। उनसे खूब बेगार ली जाती थी। उनका स्पर्श वर्जित था। गावों में उनके लिये अलग कुएं होते थे। वे चिकित्सालय और पाठशाला के लाभ से भी वचित थे। अस्पृश्यता हिंदू समाज में कलक थी। वे हिंदू समाज के अग होते हुए भी उससे बहिष्कृत माने जाते थे। उनके उद्धार के लिए सर्वप्रथम आर्यसमाज ने बीडा उठाया। 1876-77 ई० में देश में दुर्भिक्ष पडा। सहस्त्रों गरीब अछूत मरने लगे। अत ईसाई मिशनरियों ने उनकी सहायता के लिये कार्य किये। फलत 1880 ई० में अछूत जातिया ईसाई बनने लगी। आर्य-समाज ने इसका सामना करने के लिए उनके उद्धार का बीडा उठाया। ब्रह्म समाज, थियोसाफिकल सोसायटी और रामकृष्ण मिशन ने भी इस क्षेत्र में कुछ कार्य किया।

1920 ई० के बाद से महात्मा गाधी के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ने अस्पृश्यता निवारण के लिए रचनात्मक कार्य किये। अछूतो के मदिर-प्रवेश के लिए कानून बना। 1932 में निर्वाचन के लिए अछूतो को पृथक् रखा तो गाधी जी ने पूना में अनशन करके इस बात का विरोध किया। अंत में उनकी बात स्वीकार कर ली गयी। इसी समय गाधी जी ने अछूतों को 'हरिजन' नाम से विभूषित किया और उनकी हेय दशा सुधारने का व्रत लिया। उनके सुधार की दिशा में उन्होंने 'हरिजन सेवक सघ' की स्थापना करके ठोस कदम उठाया और उनके उद्धार के लिए पूरे देश का दौरा किया। गोपाल कृष्ण गोखले ने दलित वर्ग के उत्थान के लिए बहुमूल्य योग दिया। गोखले ने उन्हें शिक्षा के लिए प्रोत्साहित किया, उनको आजीविका दिलायी, उनकी सामाजिक अयोग्यताओं का निवारण का प्रयास किया। इसके फलस्वरूप उनमें चेतना का भाव आया।

स्वतंत्रता के बाद सरकारी नौकरियों में ससद और विधान सभाओ में उनके लिये स्थान सुरक्षित कर दिये गये। हरिजन विद्यार्थियो के लिए स्कूलों, कालेजों, विश्वविद्यालयो, तकनीकी शिक्षण संस्थाओ मे उनके सुरक्षित स्थान रखे गये और उनकी नि·शुल्क शिक्षा का प्रबध किया गया। उनको पदो की नियुक्ति के लिये आयु में तीन वर्ष की छूट दी गयी। भारत के सविधान मे अस्पृश्यता को एक अपराध घोषित कर दिया गया।

बौद्धिक पुनर्जागरण

अग्रेजो के भारत मे आगमन के पूर्व ही भारतीय संस्कृति के प्रति पाश्चात्यो की निष्ठा जग चुकी थी, तथापि उसके अध्ययन तथा अनुशीलन का कार्य अग्रेजो के आगमन के बाद ही प्रारभ हुआ। विभिन्न खोजो के परिणामस्वरूप भारत का सर्वप्रथम संपर्क पुर्तगालियों से हुआ। आधुनिक काल मे सर्वप्रथम उन्ही के साथ भारत का व्यापारिक सबध स्थापित हुआ था। तभी पुर्तगाली बुद्धजीवियों मे भारतीय विद्या के प्रति अभिरुचि बढी। फलस्वरूप अब्राहम रोजर ने 1651 ई० मे भर्तृहरि के कुछ ललित श्लोको का पुर्तगाली मे अनुवाद किया। जिसके द्वारा पाश्चात्य विद्याविशारदों का ध्यान भारतीय साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ। भारतीय ज्ञान-विज्ञान एव साहित्य के प्रति आर्कषित होने वाले पाश्चात्य देशो के विद्वानो मे जर्मन अग्रगण्य है। 1664 ई३ मे सर्वप्रथम हेनरिख नामक जर्मन विद्वान ने सस्कृत का अध्ययन किया। 1699 ई० मे एक जर्मन पादरी ने सस्कृत व्याकरण की रचना की और आर्थोलोमिया नामक एक अन्य विद्वान ने संस्कृत व्याकरण पर दो ग्रथ लिखे। अनेक जर्मन विद्वानो ने उपनिषदों का अनुशीलन किया और अपने अध्ययन और अध्यवसाय के परिणामस्वरूप उपनिषदों से संबद्ध ग्रथ लिखे और सस्कृत के प्रति अपने गहरे अनुराग का पुष्कल परिचय दिया। इस प्रकार के जिज्ञासु जर्मन विद्वानो मे वेबर, मैक्समूलर, पिशेल, बाटलिंग, पालड्यूसन तथा रोजर के नाम उल्लेखनीय है।

ब्रिटिशकालीन भारत मे 'देश की विद्याओ और कलाओ का अध्ययन एव अनुशीलन एवं प्रसार का कार्य एशियाटिक सोसायटी के द्वारा हुआ, जिसकी स्थापना 1784 ई० में हुई थी। तात्कालिक गवर्नर वारेन हेस्टिग्ज ने 1785 मे संस्कृत के अनेक विद्वानो से धर्म-शास्त्र पर एक ग्रथ सकलित कराया और उसका अग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया। उसने सस्कृत की शिक्षा के लिए वाराणसी में संस्कृत कालेज की स्थापना की। उसके प्रोत्साहन से सर्वप्रथम अंग्रेज चार्ल्स विल्किन्स ने संस्कृत सीखकर गीता का अनुवाद किया, जो इग्लैड से 1785 में प्रकाशित हुआ। इसे पढकर पाश्चात्य विद्वान बड़े प्रभावित हुए। इसने हितो-

पदेश, महाभारत और शकुन्तलोपाख्यान का भी अंग्रेजी में अनुवाद किया। दूसरा संस्कृत अनुरागी अंग्रेज सर विलियम जोन्स था, जिनके सतप्रयास से 'एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल' की स्थापना हुई। उन्होंने इस संस्था के द्वारा हस्त-लिखित ग्रंथों का अनुसंधान और उद्धार कराया। 1789 ई० में जोन्स ने अभिज्ञानशाकुन्तल का, 1792 में मनुस्मृति और ऋतुसंहार का अग्रेजी में अनुवाद किया। इन्होने सर्वप्रथम यह सिद्ध किया कि योरोप की पुरानी साहित्यिक भाषाओं, यूनानी और लैटिन तथा ईरान की पुरानी भाषा जेंद का संस्कृत से घनिष्ठ सबध है और ये सब एक ही स्रोत से निकली है। बाद में इन्ही भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से तुलनात्मक भाषा-शास्त्र की नींव पडी। इसी भाषा विज्ञान के आधार पर आर्यों के मूलत. एक ही स्थान पर रहने का मत प्रतिपादित हुआ।

सर विलियम जोन्स ने पुराणों में उल्लिखित चंद्रगुप्त और यूनानी लेखकों के सेण्ड्राकोट्टस की अभिन्नता मानकर प्राचीन भारत का तिथिक्रम निश्चित किया। 1785 ई० से प्राचीन अभिलेखो की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ। प्रिंसेप ने ब्राह्मी लिपि को सबसे पहले पढा। एलेक्जेंडर कनिंघम ने भरहुत और साची आदि स्थानों की खुदायी करायी। पुरातत्व विभाग की स्थापना हुई। लार्ड कर्जन के समय प्राचीन भग्नावशेषो के सरक्षण का कानून बना और तक्षशिला, नालदा, मोहेंजोदडो, हडप्पा, सारनाथ, नागार्जुनीकोण्ड आदि प्राचीन ऐतिहासिक स्थानो की खुदायी कराई गयी फलतः भारत का प्राचीन इतिहास विषयक महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई और प्राचीन इतिहास प्रकाश में आया।

दूसरे अंग्रेज विद्वान कोलब्रूक ने भारतीय तत्व-ज्ञान, धर्मशास्त्र ज्योतिष, व्याकरण, छंदशास्त्र, वर्णव्यवस्था और भाषा आदि विषयों पर शोधपूर्ण लेख लिखकर महत्त्वपूर्ण कार्य किया और 1821 ई० में 'रायल एशियाटि सोसायटी', लंदन की स्थापना की, जिसके द्वारा पाश्चात्य देशों को सस्कृत के महत्त्व का पता चला। अंग्रेज विद्वान अलेक्जेंडर हैमिल्टन जर्मन विद्वान श्लीगल और फ्रासीसी विद्वान शेजी ने सस्कृत का अध्ययन करके अनेक विद्वानों के लिए संस्कृत के अध्ययन अनुशीलन का मार्ग प्रशस्त किया तथा स्वय अनेक संस्कृत ग्रंथो का अनुवाद कार्य किये। फ्रांसीसी विद्वान् सिल्वा लेवी ने भारतीय विद्या, बुद्धि एवं सभ्यता संस्कृति की भूरि-भूरि प्रशसा की, उसके प्राचीन गौरव को स्वीकार किया और मानवता के उत्थान के लिए उसके द्वारा किये गये कार्यों के लिए भारत को विश्व के विशिष्ट महान् राष्ट्रों में परिगणित किया गया। प्रख्यात जर्मन विद्वाम् मैक्समूलर ने भारतीय साहित्य के अध्ययन एवं अनुसंधान में अपने

जीवन के 56 वर्ष लगाए। उन्होंने **ऋग्वेद** का सपादन किया और भारतीय धर्म भाषा एवं विज्ञान पर अनेक ग्रथ लिखे। **हितोपदेश, मेघदूत, धम्मपद** और **उपनिषदों** का अग्रेजी में अनुवाद किया, **दि सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट** के अड़तालीस खंडों का संपादन किया तथा **हिस्ट्री आफ दि ऐंशेंट संस्कृत लिट्रेचर ऐंड इंडिया . ह्वाट कैन इंडिया टीच अस** नामक मौलिक ग्रंथ लिखे और भारत की सबसे प्राचीन भाषा और आधुनिक साहित्य तथा भाषा आदि विषयो पर व्याख्यान किये।

मैक्समूलर की ही कोटि के भारतीय साहित्य के प्रति समर्पित व्यक्तित्व के विद्वान् डॉ० जे० जी० बूलर (1837–1898) थे। जिन्होने गृह त्याग कर पेरिस, आक्सफोर्ड और इंडिया आफिस लदन के पुस्तकालय मे सुरक्षित भारतीय हस्तलिखित ग्रथो की खोज की। मैक्समूलर के प्रयास से वे बबई आये और भारत के साधु सतो का सपर्क करके अपनी जिज्ञासा शात की। उन्होंने **बंबई संस्कृत सीरीज** नामक ग्रथावली का प्रकाशन किया। इस सीरीज के अतर्गत **पंचतंत्र, दशकुमारचरित** और **विक्रमांकदेवचरित** को स्वय सपादित करके प्रकाशित किया और सर रेमडवेस्ट के सहयोग से **डाइजेस्ट आफ हिंदू ला** की भी रचना की। तात्कालिक सरकार ने उन्हे बगाल, बबई और मद्रास के हस्तलिखित ग्रथो की खोज का कार्य सौपा। उन्होने सहस्रो ग्रथो को एकत्रित कर उनकी सूचिया बनायी। ***एन्साक्लोपीडिया आफ इंडो आयन रिसर्च*** उनके जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसी समय विल्सन ने **हिंदू थियेटर** और **विष्णुपुराण** सहित **ऋग्वेद** का छ: भागो मे अनुवाद किया। जर्मन विद्वान राथ ने **संस्कृत-जर्मन शब्द कोष** की रचना की। भारतीय विद्याप्रेमी पाश्चात्य विद्वानो मे रुडोल्फ, गोल्ड-नर, लुडविग, रैक्थ पिशेल, बेवर, मैक्डोनल, कीथ, सर मोनियर विलियम्स के नाम उल्लेखनीय हैं। बेवर ने बर्लिन के राजकीय पुस्तकालय मे संगृहीत संस्कृत के हस्तलिखित ग्रथो का वृहत् सूचीपत्र तैयार किया और बर्लिन विश्वविद्यालय में सुरक्षित 500 जैन हस्तलिखित ग्रथो का अध्ययन करके एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया। अंग्रेज विद्वान् मैक्डानल ने तुलनात्मक भाषा विज्ञान की दृष्टि से जर्मन सस्कृत और चीनी भाषाओ के विशेष अध्ययन पर प्रकाश डाला। वे आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में सस्कृत के प्रोफेसर थे। उन्होंने **ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी, वैदिक रीडर, हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर** और **वैदिक ग्रामर** नामक ग्रथ लिखे। उन्होंने अपने शिष्य तथा एडिनबरा विश्वविद्यालय के सस्कृत के प्रोफेसर कीथ के सहयोग से **वैदिक इंडेक्स** नामक ग्रंथ की रचना की। कीथ के अन्य महत्त्व-पूर्ण ग्रंथों मे **रेलिजिन एंड फिलासफी आफ दि वेदस एंड दि उपनिषद्स, बुद्धिस्ट फिलासफी इन इंडिया ऐंड सीलोन, सांख्य सिस्टम कर्म मीमांसा, इंडियन लाजिक एंड आटोमिज्म, संस्कृत ड्रामा** और **हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर**

है। इन्होंने **ऐतरेय ब्राह्मण**, **कौषीतकी ब्राह्मण**, **शंखायन आरण्यक** और **कृष्ण यजुर्वेद** का अंग्रेजी में अनुवाद किया।

इस प्रकार पाश्चात्य विद्वानो की अभिरुचि और अनुराग भारतीय साहित्य और धर्म के प्रति निरंतर बढ़ती रही। फ्रांसीसी विद्वान एम॰ रोजी ने भारतीय साहित्य से प्रभावित होकर योरोप मे संस्कृत के अध्ययन का प्रसार किया। जैन साहित्य के प्रकाड विद्वान् याकोबी ने **जैन सूत्रों** का अंग्रेजी में अनुवाद किया। सर एडविन आर्नल्ड ने (1896) **चौरपंचाशिका** का अंग्रेजी में पद्यबद्ध अनुवाद किया और महात्मा गौतमबुद्ध के व्यक्तित्व ने उन्हें इतना प्रभावित किया कि उन्होने उन्हे महाद्वीप एशिया की ज्योति मान कर '**लाइट आफ एशिया**' शीर्षक एक कविता पुस्तक लिखी। उनके वैयाकरण बीटलिंग ने पाणिनि व्याकरण का विशुद्ध सस्करण तैयार किया।

संयुक्त राज्य अमेरिका के प्राच्य विद्याप्रेमी विद्वान् ह्वाइट ह्विटनी (1827-1894 ई॰) ने वैदिक लौकिक सस्कृत साहित्य पर तुलनात्मक अध्ययन किया। उन्होंने **अथर्ववेद** का अनुवाद किया और भाष्य लिखकर अनुक्रमणिका लिखी। उन्होने **सस्कृत ग्रामर** नामक ग्रंथ लिखा और साथ ही सांस्कृतिक वाड्मय से सबद्ध अनेक लेख लिखे। प्रोफेसर ओल्डेनबर्ग ने अपने पूर्ववर्ती विद्वानो की कृतियो का अनुशीलन कर **ऋग्वेद**, **विनयपिटक** पर कार्य किया और **सांखायन गृहसूत्रों** का सपादन किया। ब्लूमफील्ड ने **अथर्ववेद** का अनुवाद किया। हिलेब्राट ने **सांखायन श्रौतसूत्र** का सपादन और **वैदिक माइथालजी** नामक ग्रंथ की रचना की।

चीन में भारतीय प्रभावो की खोज सर्वप्रथम सिलवालेवी और उपरात सर औरेल स्टाइन ने किया। उन्होंने चीन में संस्कृत लेखों और एक हिंदू मदिर की खोज की थी और उसके द्वार पर देवनागरी मे उत्कीर्ण लेख की खोज एवं पहचान की। उन्होने बामियान और फोंदरिस्तान (मध्य एशिया) के बौद्ध मठो से प्राप्त सचित्र भित्तियों को उतार कर सेंट्रल एशियाटिक एंटीक्विटीज म्यूजियम (दिल्ली) में संगृहीत कराने की व्यवस्था की।

भारतीय ज्ञान, भाषा विज्ञान और साहित्य में अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने उल्लेखनीय कार्य किया जिनमें रीस डेविड, मारिस हार्डी, फिलियोजा के नाम प्रमुख हैं। कुछ फ्रांसीसी विद्वानों ने अशोक के अभिलेखों का अध्ययन किया जिनमें पौलेन, फूशे, जलियन आदि नाम अग्रगण्य हैं। रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद और महात्मा गाधी के जीवनी-लेखक रेने, गैगान और रोमा रोलां का नाम प्रमुख है।

इस प्रकार ब्रिटिश काल में वैदिक साहित्य एव सस्कृत साहित्य की विभिन्न शाखाओं के क्षेत्र में पाश्चात्य विद्वानो द्वारा कार्य करने पर भारतीय साहित्य प्रकाश में आया जिससे भारत को विश्व मे गौरव और प्रतिष्ठा प्राप्त हुई । इन प्रेरणादायी बौद्धिक कार्यों से भारतीय विद्वानो की आखे खुली फलत. उन्होंने भारत के प्राचीन जीवन, भाषा, लिपि, धर्म, दर्शन, इतिहास, पुरातत्व एव भूगोल आदि विषयो पर कार्य किया । पाश्चात्य विद्वानो ने भारतीयो की महान् परपरा, उनकी मेधा प्रतिभा तथा अन्त शक्ति को समझने की प्रेरणा प्रदान की । परिणामत. भारतीय ज्ञान-विज्ञान के आकाश मडल मे मोह निशा के अंधकार को चीरता हुआ पुर्नजागरण की ज्योति विकीर्ण करता हुआ सूर्य उदित हुआ ।

प्रातीय भाषाओ का विकास

ब्रिटिश शासन के प्रारभ मे सुसस्कृत लोग अरबी फारसी और सस्कृत का अध्ययन करते थे । प्रातीय भाषाओ मे हिंदी, बगला, गुजराती मराठी, उर्दू, तमिल, तेलगु आदि प्रचलित थ । इनमे अधिकाश वीर, भक्ति एव शृगार रस की कविताए एव प्रबध काव्य ही लिखे जाते थे । ब्रिटिश काल मे लोक भाषाओ में गद्य साहित्य का विकास हुआ । ईसाई पादरियो ने ईसामसीह का सदेश जन-जन तक पहुँचाने के लिए लोक भाषाओ के माध्यम से बाइबिल का प्रचार किया । अत उन्होंने सर्वप्रथम हिंदी बगला, मराठी आदि लोक भाषाओ के टाइप बनाये और मुद्रणालय स्थापित किये । इन भाषाओ के ज्ञानार्जन के लिए व्याकरण ग्रथ और शब्द कोष बनाये गये । लगभग सभी प्रातीय भाषाओ के प्रारभिक व्याकरण लेखक ईसाई पादरी है । इस प्रकार उन्होने अविकसित भाषाओ का स्वरूप निश्चित किया ।

भारत की प्रातीय भाषाए चिरकाल तक अंग्रेजी के प्रभाव से दबी रही किंतु राष्ट्रीय जागरण एव पत्र-पत्रिकाओ के प्रकाशन से लोक भाषाओं को प्रोत्साहन मिला, फलत साहित्य की विविध शाखाओ उपन्यास, निबध, कविता, नाटक आदि मे उत्कृष्ट रचनाएं लिखी गयी । हिंदी साहित्य की अभिवृद्धि में लल्लू लाल, सदल मिश्र, भारतेन्दु हरिश्चद्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्रबधु, रामचद्र शुक्ल, जयशकर प्रसाद तथा प्रेमचद्र आदि लेखको तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग आदि सस्थाओ में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया । उर्दू मुगल बादशाहों के पतन काल में विकसित हुई थी । दर्द, सौदा, गालिब, इकबाल, जौक ने उर्दू साहित्य की अभिवृद्धि की थी । अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय, उस्मानिया विश्वविद्यालय और अंजुमन-तरक्की-ए-उर्दू आदि सस्थाओं ने उर्दू साहित्य की अभिवृद्धि की । ब्रिटिश काल में अदालती

भाषा बन जाने के कारण उर्दू का खूब प्रचार एव प्रसार हुआ । बंगला साहित्य राजा राममोहन राय, ईश्वर चंद्र, विद्या सागर, माइकेल मधुसूदन दत्त, बंकिम चद्र चटर्जी, शरद्चद्र चटर्जी और रवीद्रनाथ ठाकुर की अमूल्य कृतियों से समृद्ध हुआ । मराठी साहित्य की अभिवृद्धि में विष्णु शास्त्री चिपलूणकर, विष्णु भावे, विश्वनाथ, केशव सुत, रामगणेश घटकारी, काशीनाथ राजवाडे, हरनारायण आप्टे और लोकमान्य तिलक आदि ने अपना अमूल्य योगदान दिया । अग्रेजी शिक्षा के साथ आधुनिक गुजराती साहित्य का प्रारभ हुआ । 1848 ई० में फार्ब्स के द्वारा 'गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी' की स्थापना द्वारा साहित्य का विकास हुआ । इसके अतिरिक्त दलपतिराम, नदशकर, रणछोड भाई उदयराम, नवशकर तुलजा शंकर, गोवर्धनराम त्रिपाठी, कन्हैयालाल माणिकलाल मुशी, महादेव देसाई और महात्मा गाधी आदि ने गुजराती साहित्य की अभिवृद्धि की । तमिल मे आधुनिक गद्य का प्रारंभ वीर्यमुनि और अरुमुगनावलकर ने किया और चक्रवर्ती राजगोपालचारी ने उसको समृद्ध बनाया । स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद लोक भाषाओं का स्वर्ण युग प्रारभ हुआ । अब हम कुछ प्रादेशिक भाषाओं के विकास और उस पर पडे पाश्चात्य प्रभाव का विवरण प्रस्तुत करेंगे—

हिंदी

हिंदी साहित्य पर भी पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव पडा । अमीर खुसरो ने विक्रम की चौदहवी शताब्दी में ब्रजभाषा के साथ खडी बोली में कुछ रचनायें (पद्य और पहेली) लिखी थी । औरगजेब के काल में फारसी मिश्रित खडी बोली अथवा रेखता मे शायरी का प्रारभ हुआ था । मुगल साम्राज्य के पतन के बाद खडी बोली का प्रसार हिंदू व्यापारिक जातियो द्वारा हुआ, जो दिल्ली उजडने के बाद अन्य नगरों, (लखनऊ, प्रयाग, काशी) में जीविकोपार्जन के लिए फैले थे । इस प्रकार खडी बोली नगरों के बाजारों की व्यावहारिक भाषा हो गयी । यह पश्चिमी भारत से आयी हुई जातियो के परिवारों में बोली जाती थी । अग्रेजी राज्य की स्थापना के समय खडी बोली संपूर्ण उत्तरी भारत में व्यवहृत थी । इसके दो रूप थे, एक सामान्य देशी रूप और दूसरा दरबारी रूप, जो मुसलमानों के संपर्क से बना था । यही दूसरा रूप आगे चलकर 'उर्दू' कहलाया ।

अठारहवी शताब्दी में अतिम चरण में सुखसागर के रचयिता सदासुखलाल और रानी केतकी की कहानी के रचयिता इशाअल्ला खा खडी बोली के लेखक थे । हिंदी गद्य साहित्य का विकास उन्नीसवी शताब्दी के प्रथम चरण में हुआ । इस काल में लल्लूलाल ने प्रेम सागर और सिंहासन बत्तीसी, सदल मिश्र ने नासिकेतोपाख्यान की रचना की और कैरी ने हिंदी बाइबिल का प्रकाशन किया । फोर्ट विलियम कालेज, कलकत्ता और दिल्ली मुद्रणालय की स्थापना हुई, जिससे

हिंदी पुस्तकों का प्रकाशन प्रारंभ हुआ ।

हिंदी गद्य के इस शैशवकाल में ईसाई पादरियों ने उल्लेखनीय योगदान दिया । सर्वप्रथम हिंदी मे शिक्षा-सबधी पुस्तकें तैयार की गयी । इसके उपरात 1827 ई० मे जुगुल किशोर ने 1827 ई० में **उदंत मार्तण्ड**, 1830 ई० मे राजा राम मोहन राय ने **बगदूत** और 1846 ई० मे राजा शिवप्रसाद ने **बनारस** अखबार, 1850 ई० में तारामोहन ने **सुधाकर** और 1852 ई० मे सदासुखलाल ने **बुद्धि प्रकाश** का प्रकाशन किया । इस समय हिंदी साहित्य के क्षेत्र में दो गुट थे । एक गुट उर्दू मिश्रित हिंदी का प्रयोग चाहता था, इसके हिमायती थे राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद । दूसरा गुट विशुद्ध हिंदी प्रयोग चाहता था, राजा लक्ष्मण सिंह इसके पक्षधर थे । आगे चलकर भारतेंदु हरिश्चंद्र (1851-1886) ने शुद्ध हिंदी का प्रयोग किया और हिंदी को साहित्योपयोगी बनाने के साथ-साथ व्यवहारोपयोगी बनाया । उन्होने हिंदी भाषा को सुव्यवस्थित एवं परिमार्जित कर हिंदी साहित्य का मार्ग प्रशस्त किया । इसलिए भारतेंदु जी आधुनिक गद्य के प्रवर्तक है । भारतेंदु जी ने नाटको की परंपरा चलायी और **सत्य हरिश्चंद्र**, **चंद्रावली**, **अंधेर नगरी**, **भारत-दुर्दशा** नामक मौलिक नाटक और **कर्पूरमंजरी**, **मुद्राराक्षस** आदि अनुवादित नाटको की रचना की । इसके अतिरिक्त **काश्मीर कुसुम**, **बादशाह दर्पण** नामक ऐतिहासिक ग्रंथों की रचना की, अनेक पत्रो का सपादन किया तथा ब्रज भाषा मे कविताएं लिखी । इस लेखन के साथ-साथ उन्होंने अनेक लेखको को प्रेरित किया । प्रतापनारायण मिश्र, प० बदरी नारायण चौधरी, प० बालकृष्ण भट्ट, आदि ने भारतेंदु जी का अनुसरण कर हिंदी गद्य साहित्य का विकास किया ।

हिंदी गद्य साहित्य के विकास का द्वितीय युग 1869 ई० से प्रारभ होता है । इस युग में बंगला के अनेक ग्रथो का अनुवाद हिंदी में किया गया, जिससे हिंदी भाषा का परिमार्जन हुआ । व्याकरण पर भी विशेष बल दिया गया । प० महावीर प्रसाद द्विवेदी को इस युग का प्रवर्तक माना जाता है । द्विवेदी जी ने समालोचना का मार्ग प्रशस्त किया । मिश्र बंधुओं (पं० श्यामबिहारी मिश्र, गणेशबिहारी मिश्र और सुखदेव बिहारी मिश्र) और पद्म सिंह शर्मा ने अनेक आलोचनात्मक ग्रंथ लिखे । द्विजेंद्र लाल राय और रवींद्रनाथ ठाकुर के बंगला नाटकों के अतिरिक्त अनेक संस्कृत और अंग्रेजी के नाटकों का अनुवाद हुआ । नाटकों के अतिरिक्त अनेक बगला उपन्यासों का हिंदी में अनुवाद हुआ तथा पं० किशोरी दास गोस्वामी और बाबू देवकी नदन खत्री ने अनेक मौलिक उपन्यास लिखकर हिंदी को जनप्रिय बनाया । खत्री जी हिंदी में जासूसी साहित्य के जन्मदाता हैं । न जाने कितने अहिंदी भाषी लोगों ने उनके तिलस्म और

ऐयारी के उपन्यासों को पढ़ने के लिए हिंदी सीखी। इस युग के अन्य गद्य लेखकों ने बाबू श्यामसुंदर दास, शिवकुमार सिंह और रामनारायण मिश्र का विशेष स्थान है। इनके ही सफल प्रयास से 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा', वाराणसी की स्थापना हुई, जिसने गद्य लेखन मे अभूतपूर्व योगदान दिया।

बीसवी शताब्दी के प्रारभ होते ही हिंदी गद्य साहित्य का नवयुगारंभ हुआ। यह हिंदी साहित्य के विकास का तीसरा युग माना जाता है। इस काल का साहित्य पुष्ट और प्रौढ है। इस युग में नाटक, उपन्यास, निबंध, समालोचना आदि सभी क्षेत्रो में मौलिकता के साथ-साथ पाश्चात्य प्रभाव दृष्टिगत होने लगा। उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचद्र, जयशंकर प्रसाद, विशंभरनाथ कौशिक, पाडेय बेचन शर्मा उग्र, चंडी प्रसाद, सुदर्शन, वृ दावन लाल वर्मा आदि ने सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यास तथा कहानियो की रचना की जिन पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट झलकता है। जयशंकर प्रसाद, हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविंद दास, लक्ष्मी नारायण मिश्र आदि ने नाटक लिखे। निबंध के क्षेत्र में रामचंद्र शुक्ल, श्याम-सुंदर दास, पूर्ण सिंह, रायकृष्ण दास, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि ने मौलिक लेख लिखे। समालोचना के क्षेत्र में पं० रामचद्र शुक्ल, पं० कृष्णबिहारी मिश्र, श्यामसुंदर दास, लाला भगवानदीन, डॉ० नगेंद्र, नददुलारे वाजपेयी, शातिप्रिय द्विवेदी आदि ने उल्लेखनीय आलोचनात्मक ग्रंथ एव निबंध लिखे। कविता के क्षेत्र मे सर्वप्रथम खडी बोली मे कविता होने लगी। नवोदित कवि नये-नये विषयो की ओर झुके, जिससे नवीन काव्य का जन्म हुआ। अयोध्यासिंह उपाध्याय, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त आदि का कवियो मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरात योरोप के अभिव्यंजनावाद और प्रभावाभिव्यंजना से प्रभा-वित होकर छायावाद और रहस्यवाद का जन्म हुआ। इस क्षेत्र मे जयशंकर प्रसाद, सूर्यकात त्रिपाठी निराला, सुमित्रानंदन पंत और महादेवी वर्मा ने अपनी मौलिक एव अनूठी कृतियों से भारती भंडार को भरा। 1947 मे स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत भारत के अनेक राज्यो (उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, राजस्थान, हरियाणा) में देवनागरी लिपि लिखी हिंदी को राजभाषा घोषित किया है और संविधान ने उसे राष्ट्र भाषा बनाने का आश्वासन दिया है।

बंगला

बंगला साहित्य का प्रारंभ कई शताब्दियों पहले हुआ था। मध्य काल के संतों ने इसमें भक्तिपूर्ण रचनाएं की। अठारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में नव-द्वीप के राजा कृष्णचंद ने अनेक बंगला कवियों को आश्रय दिया। इसमें राम-प्रसाद और भारतचंद्र राय गुणाकार प्रमुख थे। 19वी शती के प्रारंभ में ग्राम साहित्य (भजन, काव्य तथा गीत) का विकास हुआ। इनमें एंटनी, करमअली,

और अलीराज का नाम अग्रगण्य है। 19वीं शती के प्रथम चरण में ही गद्य साहित्य का विकास हुआ। इसमे श्रीरामपुर के ईसाई मिशनरियों और फोर्ट विलियम कालेज के पडितो और मौलवियो ने बगला के आधुनिक गद्य साहित्य के निर्माण मे अपना योगदान दिया। राजा राममोहन राय ने बंगला गद्य शैली के अग्रणी थे। उन्हे आधुनिक बगला गद्य साहित्य का पिता कहा जाता है। उनके बाद टेकचद्र, ईश्वरचद्र विद्यासागर, देवेन्द्रनाथ टैगोर, अक्षयकुमार दत्त, केशवचद्र सेन, शिवनाथ शास्त्री और रमेशचद्र आदि लेखक हुए। बगला के उपन्यासकारो मे उमेशचद्र दत्त, स्वर्णकुमारी घोषाल, तारकचद्र गागुली, प० शिवनाथ शास्त्री, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और शरत्चंद्र चटर्जी विशेष उल्लेखनीय है। बकिमचद्र चटर्जी के उपन्यासो में प्राचीन और अर्वाचीन भारत का सुदर समन्वय है। निबंध साहित्य के क्षेत्र में कालीप्रपन्न घोष, राजकुमार मुखर्जी, चद्रनाथ वसु और रवीन्द्रनाथ ठाकुर विशेष महत्त्वपूर्ण है। नाटक साहित्य के में रामनारायण तर्करत्न ने 1854 ई० में सर्वप्रथम मौलिक नाटक **कुलीन कुल सर्वस्व** की रचना की। इसके बाद माइकेल मधुसूदन दत्त, दीनबंधु मित्र, गिरीश चंद्र, अमृतलाल बोस और जितेंद्रलाल राय ने मौलिक नाटक लिखकर बगला साहित्य की श्रीवृद्धि की। राममोहन राय, देवेंद्रनाथ ठाकुर, रवीद्रनाथ ठाकुर, विद्यासागर, मधुसूदन दत्त, मणीचद्र नदी ने आत्मकथाए और जीवन-चरित लिखे। राममोहन राय, मधुसूदन दत्त सरोजिनी नायडू, रवीद्रनाथ ठाकुर और हरीद्रनाथ चट्टोपाध्याय ने अग्रेजो में भी रचनाए की। काव्य क्षेत्र मे मधुसूदन दत्त ने अग्रेजी साहित्य से प्रभावित होकर चतुर्दशपदी (सॉनेट) और अतुकात-काव्य की रचना की। इसी परपरा में हेमचद्र, गिरीशचद्र घोष, बिहारीलाल चक्रवर्ती, नवीनचंद्र सेन, रगलाल, कामिनो राय, सत्येद्रनाथ दत्त और रवीन्द्र-नाथ ठाकुर ने काव्य ग्रथ लिखे। रवीद्रनाथ ठाकुर ने नोबुल पुरस्कार प्राप्त कर ससार भर मे ख्याति अर्जित की।

तमिल

द्रविड भाषाओं में तमिल सर्वाधिक प्राचीन, घनी एव उत्कृष्ट है। अग्रेजी के सपर्क से तमिल पर तीन क्षेत्रों में स्थायी प्रभाव पडा यथा गद्य, नाटक-कथा-साहित्य एव कविता। ईसाई पादरियों ने तमिल सीख कर ईसाई धर्म का प्रचार किया। ईसाई मिशनरियों ने ही तमिल मुद्रण के लिए मुद्रणालय स्थापित कर सस्ते साहित्य का प्रकाशन और प्रचार किया। उन्होंने तमिल की व्याकरण की पुस्तकें प्रकाशित की। जिससे तमिल के गद्य-साहित्य का प्रसार हुआ। इसके पूर्व 17वी शती तक तमिल भाषा में गद्य-साहित्य नाम मात्र का था। 1677 ई० में सर्वप्रथम गद्य की पुस्तक **किसियाव-वेदोपदेशम्** प्रकाशित हुई। 1679 ई० में

इंडियाना क्रिस्चियाना तमिल में प्रकाशित हुई। ईसाई धर्म के प्रचारार्थ अनेक पुस्तकें छपी। पादरी फादर बेस्ची ने 1680 और 1741 ई० के बीच अनेक ग्रंथ निकाले। इनकी प्रेरणा से अनेक तमिल विद्वानों ने गद्य रचना प्रारंभ की। सूर्यनारायण शास्त्री ने अनेक गद्य ग्रंथो की रचना की। इसी प्रकार बीज-गणित, रसायन, ज्योतिष आदि विषयों पर अनेक ग्रंथों की रचना हुई।

उपन्यास, नाटक और काव्य साहित्य पर पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव पडा। महामहोपाध्याय स्वामिनाथ शास्त्री ने अनेक प्राचीन ग्रंथों का अनुवाद किया। गद्य के लेखकों में राजम अय्यर, माधवैह, श्रीनिवास आयंगर और श्री निवास शास्त्री अग्रगण्य हैं। उपन्यास के क्षेत्र में बी० जी० सूर्यनारायण शास्त्री, राजम अय्यर, सरवन पिल्लई, माधवैह, चेट्टियार उल्लेखनीय हैं। नाटककारों में सुदरतम पिल्लई तथा राष्ट्रीय रहस्यवादी कवियों में भारती का नाम सर्वाधिक प्रख्यात है। चक्रवर्ती राजगोपालाचारी की कृतियों से भी तमिल भाषा समृद्ध हुई।

अन्य भाषाएं

भारत की अन्य भाषाओं में गुजराती तेलगू, मराठी, कन्नड, मलयालम, पंजाबी, सिंधी, असमी और उडिया उल्लेखनीय है। इन भाषाओं के साहित्य का यथेष्ट विकास हुआ और इनमें पाश्चात्य और पौरस्त्य साहित्यिक प्रवृत्तियों का समन्वय हुआ।

कला और संगीत

मुगल राज्य के पतन के बाद कुछ देशी राजाओं ने कलाकारो को संरक्षण प्रदान किया। किंतु विदेशी प्रभाव के कारण भारतीय कला का पतन हो गया। किंतु राष्ट्रीय जागृति के परिणामस्वरूप भारतीयो का ध्यान कला की ओर फिर आकृष्ट हुआ। भारत सरकार ने कलकत्ता, बवई, मद्रास और लाहौर सरीखे महानगरो में कला विद्यालयों की स्थापना की और भारतीय कला का पुनरुद्धार किया। इसका प्रमुख श्रेय महान कला मर्मज्ञ हैबेल कुमार स्वामी और अवनीद्र-नाथ टैगोर को है। 19वी शताब्दी में भारतीय कला शैली पाश्चात्य कला शैली के सम्मुख दबी रही किंतु 20वी शताब्दी के प्रारंभ में प्राचीन कला से प्रेरित होकर भारतीय कला के क्षेत्र में नवजागरण हुआ। इसमें चित्रकला के क्षेत्र में सर्वाधिक विकास हुआ।

चित्रकला

19वी शताब्दी के अंतिम चरण में रवि वर्मा नाम के केरल के चित्रकार ने पाश्चात्य शैली मे भारतीय कल्पनाओं को प्रकट किया। रवि वर्मा की आलोचना करते हुए हैवेल ने लिखा है कि "रविवर्मा के चित्रों में महाभारत के वीर पुरुषों

की आकृति आजकल के खिदमतगारो के समान, राधा और सीता की आकृति वर्तमान काल की आयाओं की तरह और राक्षस स्त्रियों का रूप आजकल की कुली स्त्रियों के समान बनाया गया है, जो वास्तविकता के सर्वथा प्रतिकूल है।"

बीसवी शताब्दी की प्रथम शताब्दी में हैवेल ने प्राचीन भारतीय चित्रकला का पुनरुद्धार किया और अवनीद्रनाथ टैगोर ने एक नवीन चित्र शैली का विकास किया, जिसमें उन्होने पाश्चात्य कला के तत्वों को भारतीय कला तत्व मे समाविष्ट कर एक नयी शैली को जन्म दिया, जो पूर्णरूपेण भारतीय है। किंतु इसे पाश्चात्य एवं प्राच्य कलाओं का सम्मिश्रण कहा जा सकता है। यह नवीन कला शैली भारत के प्रगतिशील कलाकारो के लिए आदर्श एव अनुकरणीय बनी हुई है। सुरेन्द्रनाथ गागुली, नदलाल वसु, असितकुमार हाल्दार ने अवनीद्रनाथ ठाकुर के संपर्क में अपनी कला का विकास किया। इसके अतिरिक्त वर्तमान काल मे अन्य चित्रकारों में यामिनी राय, देवीप्रसाद राय चौधरी, रहमान चुगताई, जैनुल आबदीन, अमृता शेरगिल विशेष उल्लेखनीय हैं। अवनीद्रनाथ ठाकुर ने इडियन सोसायटी आफ ओरियटल आर्ट, कलकत्ता की स्थापना की। जिसका प्रमुख उद्देश्य भारतीय कला का पुनरुद्धार करना था। अवनीद्रनाथ ठाकुर और हैवेल ने जिस रूप मे भारत की प्राचीन एव मध्यकालीन चित्रकला के सौंदर्य को उत्कृष्टतम रूप में अभिव्यक्त किया है। भारत की चित्रकला की ओर विदेशियो का ध्यान आकृष्ट करने में आनदकुमार स्वामी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। और योरोप तथा अमेरिका में भारतीय कला पर अनेक व्याख्यान दिये और निबंध लिखे। हैवेल और कुमार स्वामी के प्रयासो से ही पाश्चात्य देशो में भारतीय कला पर अनुशीलन में प्रगति हुई। बीसवी शती मे कलकत्ता, शातिनिकेतन, लखनऊ आदि स्थानो में ऐसी सस्थाओं की स्थापना हुई है जिन्होंने चित्रकला के क्षेत्र में पर्याप्त विकास किया है।

वास्तु-कला

वास्तुकला के क्षेत्र में भी पर्याप्त उन्नति हुई। भारत की आधुनिक वास्तुकला में दो प्रधान शैलियां हैं—प्रथम देशी स्थपतियों द्वारा निर्मित राजपूताना के भवन और दूसरे पाश्चात्य शैली की निर्मित इमारतें। कलकत्ता में विक्टोरिया मेमोरियल नामक इमारत का निर्माण पाश्चात्य वास्तुकला का जीता जागता नमूना है। दिल्ली की राजधानी बनाने के उपरात बहा नई दिल्ली का निर्माण पाश्चात्य वास्तुकला के नमूने पर हुआ, जहां राष्ट्रपति भवन, संसद भवन आदि पाश्चात्य वास्तुकला के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त बंबई, मद्रास, लखनऊ, लाहौर आदि महानगरों में पाश्चात्य वास्तुकला के आधार पर अनेक इमारतों का निर्माण हुआ। वास्तुकला के क्षेत्र में नवजागरण

का प्रभाव अल्प मात्रा में ही पडा। शातिनिकेतन और बिडला मंदिर इसके उदाहरणों मे से है।

संगीत कला एव नाट्य कला

सगीत एव नाट्यकला के क्षेत्र में ब्रिटिश काल में नवयुगारंभ हुआ। पण्डित विष्णु नारायण भातखडे ने ज्ञानोत्तेजक मडली बंबई द्वारा संगीत का प्रचार किया। भातखडे के ही अथक प्रयास से 1916 ई० में अखिल भारतीय संगीत का प्रथम अधिवेशन बडौदा में संपन्न हुआ और यही उन्होंने संगीत की नवीन सस्था की स्थापना की। भातखडे ने बंबई की ज्ञानोत्तजक मडली द्वारा सगीत के प्रचार में बहुत कार्य किया सगीत के क्षेत्र में पुनर्जागरण में सहायता देने वाले दूसरे विशिष्ट व्यक्ति विष्णु दिगबर पलुस्कर थे। पलुस्कर द्वारा गाया हुआ "रघुपति राघव राजाराम, पतित पावन सीताराम" गीत अत्यधिक जनप्रिय है। उन्होने गाधर्व महाविद्यालय की स्थापना कर संगीत के प्रति जनरुचि उत्पन्न की। रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा बगाल मे एक नवीन सगीत परंपरा का श्रीगणेश हुआ, जो रवीद्रसगीत के नाम से विख्यात है।

नृत्य कला मे भी प्राचीन शैलियों का पुनरुद्धार हो रहा था। उदयशंकर, रामगोपाल, रुक्मिणी देवी और मेनका ने विदेशो में नृत्यकला को गौरव प्रदान किया था। नृत्य की कत्थक, कत्थकली, भरतनाट्यम, मणिपुरी आदि पुरानी शैलियो के प्रति भी जनता की अभिरुचि बढ रही थी। शाति निकेतन, केरल कला मदिर आदि सस्थाए भारतीय नृत्य कला के नवजीवन में सहयोग दे रही थी। भारत सरकार ने ललित कलाओं के प्रोत्साहन के लिए संगीत नाटक अकादमियों की स्थापना की है।

प्रारंभ में नाट्य कला भ्रमणशील रासमंडलियों तक ही सीमित रही। शनै शनैः इसका स्थान थियेटरो ने ले लिया। पर्याप्त समय तक पारसियों द्वारा स्थापित कपनियो ने थियेटरो में पाश्चात्य नाट्य कला और रंगमच का भद्दा अनुकरण किया। किंतु समय के प्रवाह के साथ-साथ व्यवसायी नाटक कपनियों के नाटक, नाट्यकला और रगमच आदि में सुधार हुए। महानगरो में नाट्यमंडल और नाट्यगृहों की स्थापना हुई है, जिनमें आधुनिक पाश्चात्य नाट्य प्रणालियो साधनों एव रंगमंच का उपयोग होता है। अब तो रंगमंच पर अभिनीत होने वाले नाटको की बाढ सी आ रही है।

राष्ट्रीय जागरण एवं स्वाधीनता संग्राम

राष्ट्रीय जागरण में प्रज्ञावादियों ने भाग लेकर उसे सफल बनाने का प्रयास किया। राष्ट्रीय आदोलन के यज्ञ में जिन राष्ट्रवादी भारतीयों ने अत्यंत महत्त्व-पूर्ण योग दिया उनमें गाधी जी, सुरेंद्रनाथ बनर्जी, सुभाषचंद्र बोस, फीरोजशाह

मेहता, गोपालकृष्ण गोखले, दादा भाई नौरोजी, बालगंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय, माइकेल मधुसूदन दत्त, महामना मदन मोहन मालवीय और पुरुत्तमदास टंडन के नाम उल्लेखनीय हैं। राष्ट्रीय आंदोलन ने तात्कालिक शिक्षा का पुनरुद्धार किया, फलस्वरूप 1906 ई० में बगाल में 'राष्ट्रीय शिक्षा समिति' की स्थापना की गयी, जिसके द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा की पुनर्व्यवस्था की गयी। तत्पश्चात 10 वर्ष बाद प० मदन मोहन मालवीय ने हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी की स्थापना की, जहा वैज्ञानिक ढग पर पाठ्यक्रम चालू किया गया और छात्रो के व्यक्तित्व के विकास संस्कृति के उत्थान, राष्ट्रीय भावना के विकास पर अधिक बल दिया गया। इस शैक्षिक आदोलन के परिणामस्वरूप नवयुवको मे नवस्फूर्ति का सचार हुआ, जिससे राष्ट्रीय स्वाधीनता का मार्ग प्रशस्त हुआ। राष्ट्रीय जागरण के साथ-साथ सास्कृतिक जागरण भी हो रहा था। एक ओर राजा राममोहन राय भारतीय संस्कृति के प्राचीन आदर्शों को नये परिवेश में प्रस्तुत कर रहे थे और दूसरी ओर प० मदन मोहन मालवीय हिंदुत्व के उत्थान के लिए प्रयत्नशील थे। साथ ही बालगंगाधर तिलक **गीता** की नवीन व्याख्या प्रस्तुत कर रहे थे। तिलक ने युग की बदलती हुई परिस्थितियो के अनुरूप पाश्चात्य एव पौरस्त्य संस्कृतियो मे एकता स्थापित करने का सफल प्रयास किया। उन्होने भारतीय अध्यात्मवाद का आधुनिक विषयो (पदार्थ विज्ञान, सृष्टि शास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र के साथ तादात्म्य स्थापित करके भारतीय संस्कृति की समयानुकूल नयी व्याख्या प्रस्तुत की।

योगिराज अरविंद ने आधुनिक विज्ञान को आध्यात्मिक भूमिका में समन्वित कर प्रस्तुत किया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि सहस्त्रों वर्ष पूर्व **गीता** के सिद्धात आधुनिक जनजीवन के लिए नितात उपयोगी हैं और प्रेरणादायी है। उन्होने **गीता** को राष्ट्रीय नवोत्थान एव सास्कृतिक अभ्युत्थान में सर्वथा समर्थ पाया अत जन कल्याण के लिए उसके अध्ययन, मनन और चिंतन की अनिवार्यता पर बल दिया।

डॉ० भगवानदास के मतानुसार सभी धर्मों के आदर्श और उद्देश्य एक हैं। सभी धर्मों में माना है कि परमात्मा सबके भीतर आत्मा के रूप में विद्यमान हैं। सभी धर्म ज्ञान, भक्ति और कर्म को मानने वाले है। सभी धर्मावलंबी यह मानते है कि ईश्वर है और वह एक है, अद्वितीय है तथा पुण्य का फल सुख और पाप का फल दु ख होता है। किंतु उन्होने यही प्रतिपादित किया कि मनुष्य की आत्मा सर्वोपरि है। मनुष्य ने ही धर्म को सामानुकूल परिवर्तित किया है। उनकी दार्शनिक विचारधारा में प्राच्य एवं पाश्चात्य का सम्मिश्रण है। उन्होंने हीगेल और शंकराचार्य के दर्शनों का समन्वय किया है। उनके व्यक्तित्व में

पुरातनता एवं आधुनिकता का समन्वय है और उनके समन्वित व्यक्तित्व की छाप राष्ट्रीय स्वाधीनता के इतिहास पर पड़ी है। उन्होंने शिक्षा के पुनर्गठन के लिए हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी की स्थापना में मालवीय जी को संबल प्रदान किया और स्वय काशी विद्यापीठ की स्थापना की। उन्होंने असहयोग आदोलन में सक्रिय भाग लिया। 1923 ई० में चितरजनदास के साथ मिलकर स्वराज्य की रूपरेखा तैयार की।

राष्ट्रीय स्वाधीनता सग्राम का गांधी युग

देश के नवजागरण मे राजनीतिक आदोलन का विशेष महत्त्व है। स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये सघर्ष करने में भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उसकी स्थापना का उद्देश्य ब्रिटिश आधिपत्य का अंतर कर स्वराज्य की स्थापना न था। उसका उद्देश्य केवल सरकार को जनसहयोग उपलब्ध कराना, देश की शासन पद्धति मे सुधार करना, और शासन मे भारतीयों की नियुक्ति कराना था। 1885 से 1905 ई० तक काग्रेस ने यही कार्य किया। 1905 ई० मे बगभग के प्रश्न पर उत्तेजना भडक उठी और उग्र उपायों द्वारा सरकार का विरोध किया गया। इसी समय जापान ने रूस को परास्त किया जिससे एशियायी देशो मे स्फूर्ति एव उत्साह उत्पन्न हुआ। इसी से प्रेरित होकर बगाल मे स्वदेश आदोलन का श्रीगणेश हुआ। अत काग्रेस में एक नवीन दल का उदय हुआ, स्वराज्य प्राप्ति के लिए क्रियात्मक पग उठाने का प्रयासी था। इसे गरम दल कहा गया। इसके विपरीत शाति प्रिय नेताओ का नरमदल था। काग्रेस के नरम दल के नेता बाल गगाधर तिलक, लाला लाजपतराय तथा विपिनचद्र पाल थे, जिन्होने सपूर्ण देश का भ्रमण करके राजनीतिक चेतना स्वराज्य की भावना उत्पन्न करके ब्रिटिश सरकार का विरोध किया। इसी बीच गरम दल तथा नरम दल में उग्र मतभेद हो गया और 1907 ई० में सूरत में संपन्न अधिवेशन में दोनों दलो में फूट पड गयी।

आगे चलकर इस देशव्यापी राष्ट्रीयता की भावना को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए महात्मा गाधी का व्यक्तित्व वरदान प्रमाणित हुआ। उनके स्वस्थ नेतृत्व को गरम और नरम दोनो दलों ने स्वीकारा, यद्यपि यदा-कदा जो स्वाभाविक भी था—आपस में मत वैभिन्य भी हो जाता था।

1914–18 ई० के प्रथम विश्वयुद्ध से राष्ट्रीय आंदोलन को बडा बल मिला। भारत की जनता में नवस्फूर्ति संचार हुआ। युद्ध की समाप्ति पर भारत की राष्ट्रीय आकाक्षाओं की पूर्ति न हो सकी अतः वे अपने बलपर स्वतंत्र होने का प्रयत्न करने लगे। इस समय काग्रेस ने गांधी जी के नेतृत्व में 1920-21 ई० में एक नवीन आदोलन का श्रीगणेश किया जिसमें उन्होंने 'असहयोग' को

अपना संबल बनाया । फलत संपूर्ण देश में राजनीतिक चेतना उत्पन्न हो गयी । खिलाफत के प्रश्न को लेकर मुसलमानो ने भी बहुसख्या मे इस आदोलन में भाग लिया, किंतु यह आदोलन कुचल दिया गया । 1929 ई० में पं० जवाहर-लाल नेहरू के सभापतित्व मे काग्रेस ने लाहौर के अधिवेशन मे पूर्ण स्वराज्य को अपना उद्देश्य घोषित किया । 1930 में गाधी जी ने सत्याग्रह आदोलन का रूप दिया, जिसमे सत्य, अहिंसा, त्याग नैतिक बल एव आत्म-परिष्कार के महान उद्देश्य घोषित निहित थे । गाधी जी ने अन्याय एव असमानता के विरुद्ध आवाज उठायी, जो सपूर्ण देश मे गूज उठी ।

महात्मा गाधी ने समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए चर्खा को सबल बना कर पचायती राज्य को प्रचलित करने की दिशा मे प्रयास किया । इस प्रकार गाधी जी के नेतृत्व मे नवीन राजनीतिक आदोलन का सूत्रपात हुआ । उन्होने सरोजिनी नायडू, विजय लक्ष्मी पडित और अमृत कौर के नेतृत्व मे नारी समाज को आगे बढने के लिए प्रेरित किया और साथ ही अतरजातीय विवाहो ऊच नीच की विषमताओ और छुआछूत आदि सामाजिक कुरीतियो को दूर करने के लिए कायक्रम बनाए । उन्होंने प्रत्येक नागरिक को अपने मौलिक अधिकारो की माग के प्रति सजग किया और दासता के विरुद्ध युद्ध करने के लिये जन-जन का आह्वान किया और राष्ट्रीय स्वाधीनता के अभियान को सबल बनाया ।

गाधी जी ने भारतीय तत्त्व ज्ञान को व्यावहारिक आचरण मे लाने का प्रयास किया और शुद्धाचरण पर बल दिया । उन्होने अहिंसा को आधार बना कर राष्ट्रीय आदोलन का सचालन किया साथ ही समाज को स्वस्थ एव सुस्थिर बनाने के लिए नैतिकता पर बल दिया । पाश्चात्य धर्म संस्कृति और उस पर आधारित आधुनिकता के स्थान पर भारतीय अध्यात्मवाद के प्रचार एव प्रसार के लिए ठोस कदम उठाये । यान्त्रिक शक्ति को पराधीनता और नैतिकता के ह्रास का कारण घोषित करते हुए गाधी जी ने भारत की प्रगति के लिए ग्राम्य सस्कृति और ग्रामोद्योग पर बल दिया । उन्होने भौतिक एव यान्त्रिक शक्ति के नियत्रण के लिए आत्मशक्ति के महत्त्व पर बल दिया ।

राष्ट्रीय स्वाधीनता के आदोलन मे सुभाष चद्र बोस का भी विशेष स्थान है । उनमें अदम्य साहस, विलक्षण बुद्धिमत्ता एव अपार उत्साह था । अनेक देशों का भ्रमण करने के बाद 1943 ई० में जापान मे आजाद हिंद सेना का सगठन किया । इनमे लाखो प्रवासी भारतीयो को भर्ती किया । इस सेना का एक मात्र लक्ष्य भारत को स्वतत्र कर दिल्ली के लाल किला पर तिरगा झडा फहराना था । द्वितीय महायुद्ध में ब्रिटानी पक्ष की विजय और जापान की पराजय के कारण नेता जी को सफलता न मिल सकी किंतु इसका सुपरिणाम यह हुआ कि

ब्रिटेन की भारतीय सेना में भी राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हो गयी जिसके कारण अंग्रेजो के लिए भारत को अपनी अधीनता में रख सकना असभव हो गया। यद्यपि अंग्रेजो ने आजाद हिंद सेना के अनेक प्रमुख व्यक्तियों को जेल में ठूस दिया और उन पर राष्ट्र द्रोह का मुकदमा चला कर उन्हें दडित किया। उनकी इस क्रूरता एव कूटनीति के कारण स्वाधीनता आदोलन भभक उठा। जैसा कि इंगित किया जा चुका है सेना में भी क्राति की अग्नि सुलगने लगी। इसी बीच गाधी जी के नेतृत्व मे 1942 ई० के भारत छोडो आदोलन प्रारभ हुआ। जेलें भर गयी। अंग्रेजो की उस दमन नीति के फलस्वरूप सपूर्ण देश मे असंतोष व्याप्त हो गया। स्वाधीनता की इस बलवती पुकार ने अंग्रेजो को भारत त्यागने के लिये बाध्य कर दिया। फलत 15 अगस्त 1947 को भारत स्वतत्र हो गया किंतु अंग्रेजो ने कूटनीति से देश का हिंदुस्तान और पाकिस्तान दो देशो के रूप मे विभाजन कर दिया जिसके दुष्परिणामस्वरूप एक बडी संख्या मे हिंदुओं को पाकिस्तान छोडने के लिए विवश होना पडा और भारत के कुछ मुसलमान भी पाकिस्तान गये। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप साप्रदायिक दगे और रक्तपात हुए। लेकिन दासता से मुक्ति अपने में एक बहुत बडी उपलब्धि थी।

●

अध्याय बारह

आधुनिक भारत और पाश्चात्य सभ्यता

अग्रेजों द्वारा भारतीय सत्ता का ग्रहण करने के उपरात शासन के स्थायित्व एव गतिमान रखने के लिए अग्रेजी भाषा के प्रसार की ओर विशेष ध्यान दिया गया। ब्रिटिश अधिकारियो ने भारतीय जनमानस की घोर उपेक्षा की और समाज को एक विशेष इतिवृत्त मे बनाये रखने के लिए प्रतिक्रियावादी तत्त्वो को प्रोत्साहन दिया। आधुनिक भारत का नवनिर्माण यद्यपि पाश्चात्य सभ्यता के ही दूरगामी प्रभाव का परिणाम था तथापि इस नवनिर्माण में अग्रेज शासकों का प्रत्यक्ष सहयोग नगण्य ही रहा। अठारहवी शती के अतिम चरण मे भारतीय सस्कृति निर्जीव और निष्क्रिय सी लगने लगी और भारतीय बौद्धिक एव सामाजिक चितन मे एक गतिरोध सा आ गया। पाश्चात्य सभ्यता के प्रबल झंझावात से भारतीय जनमानस आत्मचिंतन की ओर मुड़ा और इस आत्म-विश्लेषणात्मक चिंतन का पूर्व निश्चित परिणाम भारतीय पुनर्जागरण हुआ जिसे पिछले अध्याय मे स्पष्ट किया गया है।

राजनीतिक वातावरण

अठारहवी शती के उत्तरार्ध से उन्नीसवी शती के मध्य तक सपूर्ण विश्व दो महत्त्वपूर्ण घटनाओ-फ्रास की राज्य-क्राति और नेपोलियन बोनापार्ट का प्रादुर्भाव से विशेष प्रभावित रहा। फ्रास की राज्य-क्राति ने सामतवादी प्रथा का विनाश तथा प्रजातन्त्र की स्थापना के नये कीर्तिमान स्थापित किये। इस राज्यक्राति ने स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभाव के आदर्श का बीज बपन किया जो इतिहास मे भविष्य मे होने वाले सभी जन-आदोलनो का मूल मन्त्र बना। नेपोलियन बोनापार्ट की विस्तारवादी नीति से सपूर्ण योरोप क्षतिग्रस्त हुआ और योरोप मे राष्ट्रीयता एव राष्ट्रधर्म का विकास हुआ। विख्यात राजनीति-शास्त्रज्ञ लास्की का कहना है—[1] "उन्नीसवी शताब्दी के योरोप के इतिहास को एक शब्द 'राष्ट्रवाद' मे बाधा जा सकता है।" राष्ट्रीयता के इस व्यापक विकास का प्रभाव भारतीय जनमानस पर विशेष पडा, जिससे भारतीयो में राष्ट्रप्रेम की सुप्त भावना जाग्रत हुई। इसी सदर्भ मे ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा चलाया गया वारेन हेस्टिंग्स के विरुद्ध मुकदमा भी कम महत्त्वपूर्ण नही था। विख्यात विधि

1 "The History of ninteen century Europe can be summed up in single word · Nationalism."

वेत्ता एवं प्रखर वक्ता एडमंड बर्क ने वारेन हेस्टिंग्स के, भारत-प्रवास-काल में दूषित एवं अन्यायपूर्ण कार्यकलापों की कठोर शब्दों में भर्त्सना करते हुए ब्रिटिश शासको पर भारतीय जनता के प्रति उदासीनता का आरोप लगाया। बर्क के इस कृत्य ने ब्रिटिश जनमानस में भारतीय जनता के प्रति सद्भावना का वातावरण बनाया। कालातर मे इसी वातावरण की पृष्ठभूमि मे भारतीय राष्ट्रभावना का विकास हुआ। क्रामवेल, मेजिनी, गरीबाल्डी आदि के समर्पित जीवन-चरित्र एवं कार्यकलापो से तथा मिल, बोसाके और अन्य पाश्चात्य राजनीतिज्ञो के विचारों के सम्मिलित प्रभाव से भारतीय जनमानस में राष्ट्रीय विचारों का आविर्भाव हुआ। किंतु ब्रिटिश शासन की कुटिल नीति से हिंदू-मुस्लिम साप्रदायिक भावना की उत्पत्ति हुई जिसका आगे चलकर दुखद परिणाम देश के विभाजन के रूप में प्रगट हुआ। पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा का प्रभाव विशेष रूप से प्रबुद्ध मध्यम वर्ग के चिंतको मे पडा जिन्होने लोकतत्रीय एव प्रजातत्रीय स्वराज्य के लिए व्यापक आदोलन किये।

राष्ट्रीय चेतना

राष्ट्रीयता, स्वाधीनता एव लोकतत्रवाद आधुनिक युग की मुख्य विशेषताएँ है। मध्ययुग में इनकी कल्पना भी नही की जा सकती थी। ब्रिटिश काल में भारतीय योरोपीय विचारधाराओ के सपर्क मे आए और पाश्चात्य शिक्षा और साहित्य से विशेष रूप से प्रभावित हुए। योरोप में राष्ट्रीयता के प्रसार ने तथा इटली और जर्मनी के स्वातंत्र्य-युद्ध से प्रेरित हो भारतीयो के मस्तिष्क में विचार आया कि इन्ही देशों की भाँति भारत भी स्वतत्र हो सकता है। इस भावना के प्रोद्भास रूप भारतीय जनता में राष्ट्रीय भावना का प्रादुर्भाव हुआ और राजनीतिक चेतना जाग्रत हुई।

भारतीयों ने राजनैतिक अधिकारों के लिए संगठित प्रयास किया। 1885 मे 'भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस' की स्थापना हुई। किंतु इस समय यह सस्था जनसाधारण की प्रतिनिधित्व नही करती थी। किंतु दो प्रकार के धार्मिक और सामाजिक सुधारवादी आदोलन जनता में नवजागरण उत्पन्न कर रहे थे, जिसके कारण जनता राजनीतिक घुटन का अनुभव करने लगी थी। उसका ध्यान भारत के लुप्त-गौरव की ओर आकृष्ट होने लगा था और वह राजनीतिक संगठन का स्वप्न देखने लगी थी तथा स्वराज्य-प्राप्ति के लिए संघर्षों के हेतु अपने को तैयार कर रही थी। इस प्रकार जनसाधारण में धीरे-धीरे राष्ट्रीय चेतना का विकास हो रहा था।

भारत में मुद्रणालयों की स्थापना से भारतीयो को अपनी राजनीतिक महत्त्वाकाक्षाओ को प्रेस के माध्यम से व्यक्त करने का अवसर मिला। उनमें सामूहिक

जागरुकता उत्पन्न हुई और उनको अपनी विकासोन्मुख शक्ति का आभास होने लगा। उनकी स्वतंत्रता, अधिकार एव राष्ट्रीयता की सुषुप्त भावनाएँ जाग्रत हुई।

सामाजिक प्रभाव

पाश्चात्य सभ्यता एव सस्कृति के प्रभाव ने भारतीय समाज मे क्राति उत्पन्न कर दी। समाज दो श्रेणियो मे विभक्त हो गया। प्रथम श्रेणी के रुढिवादी लोग यथास्थितिवादी थे, अर्थात् वे देश के सामाजिक ढाचे मे कोई फेर-बदल नही चाहते थे। दूसरी श्रेणी के लोग प्रगतिवादी थे। उन्होंने अस्पृश्यता, पर्दा-प्रथा, बहुविवाह, बालविवाह, देवदासी-प्रथा, एव निरक्षरता आदि सामाजिक कुप्रथाओ को समाप्त करने का बीडा उठाया, जिससे मध्यम वर्ग मे सामाजिक चेतना जाग्रत हुई। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य सस्कृति का भारतीय समाज के सपर्क से भारतीय प्राचीन नैतिक विचार परिवर्तित होने लगे। फलस्वरूप विवाह, खानपान वेश-भूषा आचार-विचार, शिष्टाचार-व्यवहार आदि पर पाश्चात्य प्रभाव झलकने लगा। जातिप्रथा की जकडन ढीली पडने लगी। इस प्रकार पाश्चात्य सभ्यता एव सस्कृति ने जीवन और चरित्र को एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया। व्यक्तिवाद के प्रसार मे सामाजिक बधन ढीले पडे, जिससे जाति-प्रथा और सयुक्त परिवार-प्रथा बिखर गयी।

धार्मिक प्रभाव

पाश्चात्य प्रभाव की प्रारंभिक प्रतिक्रिया अल्पसंख्यक अंग्रेजी पढे लिखो तक ही सीमित थी। नमें प्राय हर पश्चिमी वस्तु के लिए आकर्षण था और मौन स्वीकृति भी थी। हिंदू धर्म की सामाजिक-प्रथाओ के विरोध मे बहुत से हिंदू ईसाई धर्म की ओर आकर्षित हुए और बगाल के कुछ प्रसिद्ध व्यक्तियों ने अपना धर्म बदला। इसीलिए राजा राममोहन राय ने और उनके उत्तराधिकारी केशव-चद्र सेन ने इस बात पर विशेष बल दिया कि धर्म को नये वातावरण के अनुकूल किया जाय। बंगाल के अतिरिक्त अन्य प्रांतों के लोगों ने भी इसी प्रकार के सुधारवादी उपाय किये, जिन्हें पिछले अध्याय मे स्पष्ट किया गया है। स्वामी दयानंद, स्वामी रामकृष्ण परमहस, स्वामी विवेकानंद, रवीद्रनाथ टैगोर और गाधी तथा एनीबेसेंट ने हिंदू मध्यम वर्ग में अपनी आध्यात्मिक तथा राष्ट्रीय विरासत के प्रति विश्वास बनाया। इस विश्वास में एक आध्यात्मिक एवम् धार्मिक भावना मिली हुई थी साथ ही इसकी एक शक्तिशाली राजनीतिक पृष्ठ-भूमि भी थी। उभरता हुआ मध्यमवर्ग एक सांस्कृतिक नीव पर आधारित राज-नीति चाहता था जो उसे मिली।

आर्थिक प्रभाव

ब्रिटिश शासन की आर्थिक एवं व्यापारिक नीति से भारत के परंपरागत उद्योग धंधों को धक्का लगा और देश को मुख्यत: कृषि पर ही निर्भर रहना पडा, किंतु केवल कृषि जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त न हो सकी। इससे देश में आर्थिक सकट उत्पन्न हो गया। इसी समय जर्मनी, जापान और अमेरिका में पूजीवाद और औद्योगीकरण की लहर ने भारत को चौंका दिया। भारत मे कच्चे माल, औद्योगिक साधनों और श्रम की कमी न थी अत सारा देश औद्योगीकरण की ओर उन्मुख हुआ। फलत देश में नये उद्योगों और व्यवसायो का श्रीगणेश हुआ और देश में कृषि के साथ व्यावसायिक प्रगति हुई।

बीसवी शताब्दी के प्रथम चरण में रूस में एक बडी क्राति हुई, जिससे संपूर्ण संसार के श्रमजीवियों को सबल मिला। भारत मे भी साम्यवाद और समाजवाद की लहर आयी, जिससे खेतिहरों और श्रमजीवियों की हीन दशा की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। फलत श्रम आदोलनों का श्रीगणेश हुआ और कृषकों के सगठन बनने लगे। कार्ल मार्क्स और एगिल्स से प्राप्त सामाजिक विचारधारा से सपूर्ण भारत प्रभावित हुआ। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य नवीन आर्थिक विचार-धाराओं ने भारत मे स्वतंत्रता की ज्वाला, सामाजिक न्याय की लालसा, क्राति-कारी भावना और विप्लवकारी प्रवृत्ति उत्पन्न की, जिससे धर्म, पूजीवाद और शोषण के विरुद्ध आवाज उठी और लोगो मे नवचेतना का प्रस्फुरण हुआ।

18 वी शताब्दी के अत और उन्नीसवी शताब्दी के प्रारभ में इगलैंड में औद्योगिक क्रांति हुई फलस्वरूप चीजों का निर्माण मशीनों से होने लगा। इसलिए इगलैड को कच्चे माल की आवश्यकता हुई और दूसरे कारखाने में उत्पादित माल को निर्यात करने की आवश्यकता हुई। भारत पर ब्रिटिश आधिपत्य हो जाने से इंगलैंड की उक्त दोनों आवश्यकताओ की पूर्ति हो गयी। एक तो उसे भारत से कच्चे माल का भडार मिल गया दूसरे अपने माल की खपत के लिए मडी मिल गयी। इसप्रकार भारत का कच्चा माल इंगलैंड भेजा जाने लगा और वहाँ से कारखानों में बना हुआ पक्का माल भारत आने लगा। इस प्रकार भारतीय उद्योग निष्क्रिय हो गया। भारत में इंगलैड के कारखानों की मशीनो द्वारा निर्मित सस्ता माल बिकने लगा। स्वदेशी हाथ का बना माल महंगा पडने लगा और प्रतिस्पर्द्धा मे विदेशी माल के आगे न टिक सका। इससे भारतीय उद्योग धंधों को भारी धक्का लगा और देश अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए विदेशों का मुंह ताकता हुआ निर्भर रहने लगा।

1757 ई० से 1857 ई० तक भारत का विदेशी व्यापार योरोप के अनेक देशों (फ्रास, हालैंड, इंगलैंड) के हाथों था, किंतु धीरे-धीरे पूरा व्यापार

इगलैंड के हाथों आ गया। सन् 1860 में भारत में औद्योगीकरण रोकने के लिए मशीन के आयात पर जो चु गी लगी थी वह हटा ली गयी और उद्योग धंधों का विकास प्रारभ हुआ। उन्नीसवी शताब्दी के अतिम चरण मे कतिपय शिक्षित एवं दूरदर्शी उद्योगपतियों ने तात्कालिक आर्थिक नीति एव व्यावसायिक परिवर्तन के विषय मे जानकारी करके उद्योगो का वैज्ञानिक ढग से सगठन किया। यद्यपि यह अधिकाश व्यवस्था एव पूँजी योरोपियनों की थी, फिर भी भारतीयो ने इसका शुभारभ किया। फलत 1851 मे बबई मे कपडे की मिल स्थापित की गयी। 1877 मे नागपुर, शोलापुर, अहमदाबाद मे रुई-उत्पादन के क्षेत्र में सूती वस्त्रों के अनेक मिल खुले। 1905 ई० मे स्वदेशी आदोलन ने उद्योग का प्रोत्साहन देकर अनेक मिलो को खुलवाया। किंतु इससे वस्त्र-उद्योग को सफलता न मिली, क्योंकि यह विदेशी कपडो की प्रतिस्पर्द्धा, इगलैंड का सरक्षण एव मुक्त-व्यापार की नीति और अग्रेजी शासन की उदासीनता का मुकाबला न कर सका।

बीसवी शती के प्रथम चरण से ही ब्रिटिश-शासन की औद्योगिक नीति-परिवर्तन दृष्टिगत होने लगा। अग्रेजो की औद्योगीकरण की नीति मे पहले की अपेक्षा अकर्मण्यता एव उदासीनता कम होने लगी। राजनीतिक आदोलन एव असतोष के कारण सरकार आर्थिक सुधार करने के लिए विवश हुई। फलत औद्योगिक विकास के लिए 1905 ई० मे उद्योग और वाणिज्य का सर्वप्रधान विभाग (इपीरियल डिपार्टमेंट आफ कामर्स एण्ड इडस्ट्रीज) की स्थापना की गयी। प्रथम विश्वयुद्ध के उपरात देश के व्यापार-वाणिज्य में वृद्धि हुई। परतु 1932–34 ई० के आर्थिक पतन के कारण आयात और निर्यात दोनो कम हो गये। दूसरे विश्व युद्ध से व्यापार मे पुन वृद्धि हुई। योरोप के अनेक देशो और अफ्रीका, जापान आदि के साथ भारत का व्यापार होने लगा।

1937 में लोकप्रिय प्रातीय सरकार के गठित होने पर औद्योगिक योजनाओं को कार्यान्वयन किया गया। फलत देश मे गैरसरकारी भारतीय व्यापारिक सस्थाओ (यथा, इडियन चैम्बर आफ कामर्स) ने उद्योग धंधों के विकास के लिए पग उठाये। इसी समय प० जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय योजना समिति गठित की गयी।

कृषि

ब्रिटिश-शासन के पूर्व भारत में कृषि और उद्योग धधे आदि साथ-साथ चलते थे किंतु अग्रेजो के शासन से व्यावसायिक क्षेत्र में भारत परमुखापेक्षी हो गया और कृषि पर ही उसे निर्भर रहना पडा। भूमि की उर्वरता भी शनै शनै कम हो गयी। इसके अतिरिक्त जमींदारी-प्रथा, बेगार प्रथा, महाजनी-प्रथा और

प्राकृतिक विपदाओं के कारण कृषकों की दशा दिनोंदिन बिगडती गयी। फलत. खाद्यान्न की पूर्ति के लिए भी भारत को परमुखापेक्षी होना पडा।

सर्वप्रथम लार्ड कर्जन ने वैज्ञानिक ढग से खेती कराने पर बल दिया। लार्ड कर्जन ने केंद्रीय तथा प्रातीय कृषि विभागो का पुनर्गठन किया। उच्च कृषि-शिक्षा के लिए 1903 ई० में 'एग्रीकल्चर इंस्टीट्यूट', पूसा की स्थापना हुई। 1905 ई० में भारत सरकार ने 'अखिल भारतीय कृषि बोर्ड' की स्थापना की। 1906 ई० में 'इंडियन एग्रीकल्चर सर्विस' की व्यवस्था की गयी और कृषि विज्ञान की शिक्षा स्कूल कालेजों में दी जाने लगी। 1908 ई० में एग्रीकल्चर कालेज पूना की स्थापना की गयी और उसके उपरात कानपुर, नागपुर, लायलपुर, कोयम्बटूर आदि कई स्थानो में एग्रीकल्चर कालेजो की स्थापना की गयी। 1919 ई० के सुधारों के बाद कृषि को प्रातीय विषय बना दिया गया और प्रत्येक प्रात में एक विभाग खोल दिया गया। केवल अनुसंधान-संस्थाओ का उत्तरदायित्व भारत सरकार पर था। किसान और खेतिहरो को जमींदारो तथा महाजनों के अत्याचारो और दुर्व्यवहारो से मुक्ति दिलाने के लिए अनेक कानून पास किये गये।

स्वतत्रता-प्राप्ति के बाद कृषि पर विशेष बल दिया गया। खाद्य संकट का सामना करने के लिए 'अधिक अन्न उपजाओ' तथा 'हरित क्राति' आदि आदोलन चलाए गये। वैज्ञानिक ढग से खेती करने के लिए आधुनिक औजारो, ट्रैक्टरो, ट्यूबवैलो, उर्वरक आदि के प्रयोग के लिए प्रोत्साहन दिया था। किसानों के हेतु शोधित बीज उपलब्ध कराये गये। सिंचाई की सुविधा के लिए अनेक बाँध बनाये गये। किसानो की दशा को सुधारने के लिए जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया। 'सहकारी समितियों', 'शिक्षण शिविरों' और 'किसान मेलो' का आयोजन किया गया। फिर भी भारत कृषि क्षेत्र में पिछडा हुआ है और अभी तक आत्म-निर्भर नही हो सका है।

शिक्षा एव साहित्य

अंग्रेजी शासन के पूर्व भारत में प्राचीन शिक्षा पद्धति प्रचलित थी किंतु पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के प्रभाव से भारत में अंग्रेजी शिक्षा का सूत्रपात हुआ। लार्ड हार्डिज के शासन काल में मेकाले ने भारत में अंग्रेजी पाठ्यक्रम की व्यवस्था की। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार से प्राचीन परंपराएँ धूमिल पड गयी। फलतः शिक्षित और अशिक्षित वर्ग के बीच एक गहरी खाई पड गयी। साहित्य का क्षेत्र भी पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के प्रभाव से वंचित न रह सका। अंग्रेजी के आगमन से देशी भाषाओं के साहित्य के अतिरिक्त भारतीयों को पाश्चात्य देशों के विविध साहित्य के अध्ययन का अवसर मिला, जिससे स्वतंत्रता, समानता एव राष्ट्रीयता की भावना का उद्रेक हुआ। इस प्रकार देश में नवीन

विचारधाराओ का सूत्रपात हुआ और देशी साहित्य प्रभावित हुआ। भारतीय गद्य साहित्य की अभिवृद्धि पाश्चात्य पुस्तकों के अनुवाद से हुई। गद्य साहित्यकारो ने पाश्चात्य आदर्श-कथा-शैली के आधार पर लेख लिखे। पाश्चात्य नाटको के आधार पर नाटक लिखे गये। समालोचना के क्षेत्र मे भी पाश्चात्य आदर्शों को अपनाया गया। काव्य का क्षेत्र भी पाश्चात्य प्रभाव से मुक्त न रह सका। अग्रेजी 'ओड' और 'सोनेट' के आधार पर 'सबोधन गीत' और 'चतुर्दश पदियाँ' लिखे गये। अग्रेजी की 'ब्लैंक वर्स' का अनुकरण करके बगला में और हिंदी में अतुकात कवितायें लिखी गयी। अंग्रेजी गीत-शैली का भी अनुकरण किया गया। छायावादी शैली में भी अग्रेजी शैली का अनुकरण किया गया। पाश्चात्य विद्वानो ने देशी भाषाओ के इतिहास, व्याकरण और कोश तैयार किये। पादरियों और धर्मप्रचारको ने ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए भारत मे मुद्रणालयो की स्थापना की।

लार्ड विलियम बैंटिंग के मैकाले के विचार को मान लेने पर भारत मे अंग्रेजी शिक्षा दी जाने लगी। 1854 ई० मे सर चार्ल्स वुड ने शिक्षा के सबध मे एक नीति निर्धारित की, जिसके अनुसार प्रत्येक प्रात मे एक शिक्षा विभाग खोला गया और कलकत्ता, मद्रास तथा बबई में विश्वविद्यालयो की स्थापना की गयी। इसी के अनुसार प्राइवेट स्कूलों को सरकारी अनुदान और सरकारी अधिकारियो द्वारा निरीक्षण कराने की व्यवस्था की गयी और अध्यापको के प्रशिक्षण के लिए सस्थाएँ खोली गयी। इसमे स्त्री-शिक्षा की भी व्यवस्था थी तथा भारतीय भाषाओ की पुस्तको के प्रकाशन का निर्देश दिया गया। चार्ल्स वुड का यह प्रपत्र भारतीय शिक्षा के इतिहास मे एक विभाजक रेखा माना गया है। इसीलिए प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के हेतु कुछ विद्यालय खोले गये। 1875 ई० मे लदन विश्वविद्यालय के आधार पर बबई, मद्रास और कलकत्ता विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई थी। 1882 ई० में लाहौर पजाब विश्वविद्यालय और 1887 ई० मे इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना हुई।

स्त्री-शिक्षा

नवजागरण के कारण स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र मे नवस्फूर्ति जाग्रत हुई थी। ईसाई पादरियों और धर्मोपदेशको तथा राजा राधाकात देव, राजा बैजनाथ राय और राजा राममोहन राय ने स्त्री-शिक्षा का प्रसार किया और सरकार को समुचित पग उठाने के लिए बाध्य किया, किंतु इन्हे आशातीत सफलता न मिली।

एलेक्जेंडरडफ डेविड हेयर डिंकवाटर बैथुन और प० ईश्वरचद्र विद्यासागर आदि के सम्मिलित प्रयास से सम्भ्रात हिंदू परिवारों की बालिकाओं के लिए कलकत्ता में सर्वप्रथम एक कन्या पाठशाला की स्थापना की गयी जिसका नाम हिंदू बालिका विद्यालय था। लार्ड डलहौजी और 1854 ई० में चार्ल्स वुड की

योजना के अंतर्गत स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन और कन्या पाठशालाओं को अनुदान दिये गये।

सामाजिक और धार्मिक संस्थाओं ने भी स्त्री-शिक्षा का प्रचार किया। इनमें ब्रह्म समाज और आर्य समाज के कार्य स्तुत्य है। ब्रह्म समाज के केशवचंद्र सेन, शशिपद बनर्जी, श्रीमती जे०सी० बोस तथा श्रीमती पी०के० रायं आदि ने स्त्री-शिक्षा की प्रगति और नारी समाज के सुधार के लिए कई पत्र पत्रिकाओं का प्रकाशन किया। आर्य समाज ने स्त्री शिक्षा के लिए कन्या गुरुकुलों की स्थापना की। बाद में महानगरों आर्य कन्या विद्यालयो की, महिला विद्यापीठो, सेवासदनो आदि की स्थापना हुई। 1916 ई० मे श्री कर्वे और रामकृष्ण गोपाल भडारकर के सत्प्रयास से पूना मे प्रथम महिला विश्वविद्यालय की स्थापना हुई। 1947 ई० के स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद स्त्री-शिक्षा पर विशेष बल दिया जा रहा है। प्रत्येक नगर मे कन्या विद्यालय है और प्राय सभी अन्य विद्यालयों और विश्वविद्यालयो में सहशिक्षा की व्यवस्था है इसके अतिरिक्त अनेक तकनीकी, व्यावसायिक कन्या विद्यालय एव कन्या विश्वविद्यालयो की स्थापना हो रही है।

कला के क्षेत्र में जागरूकता

प्राचीन काल से ही भारत कला के क्षेत्र में बडा प्रगतिशील रहा है। ललितकला के अतिरिक्त स्थापत्य कला, शिल्पकला और चित्रकला का देश में विशाल भडार है। भारतीयों को प्राचीन कला के प्रति जागरूकता पाश्चात्य विद्वानो ने ही कराई। सिस्टर निवेदिता, फर्ग्यूसन और हैवेल आदि ने भारत की गौरवपूर्ण प्राचीन ललित कलाओं के प्रमुख तत्त्वो, प्रवृत्तियो तथा कलात्मकता का सर्वप्रथम उद्घाटन किया। इसके अतिरिक्त सर एलेक्जेंडर कनिंघम, कुमारस्वामी, विसेंट स्मिथ, सर जान मार्शल, कर्नल टाड, पर्सी ब्राउन और मैक्समूलर आदि ने भारत की प्राचीन कला एव गौरवपूर्ण गाथाओं की ओर विश्व के बुद्धिजीवियों का ध्यान आकृष्ट किया। इन पाश्चात्य विद्वानों ने शिलालेखों, मूर्तियों, मुद्राओं और सिक्कों को खोजकर इतिहास के नये अध्याय लिखे। फलत· भारतीयों की आखें खुली और वे अपने गौरवपूर्ण स्वर्णिम इतिहास को समझने में सक्षम हो सके।

पाश्चात्य सभ्यता एव संस्कृति के संपर्क से भारतीय इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन का श्रीगणेश हुआ। भारत का प्राचीन इतिहास अधकार में था। जेम्स प्रिंसेप ने 1834 ई० में अशोक के शिलालेखों की खोज की। सर एलेक्जेंडर कनिंघम ने पुरातत्त्व विभाग के प्रथम डाइरेक्टर जनरल थे, जिन्होंने पुरातत्त्व के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। फर्गुसन ने भारतीय स्थापत्य कला

का अध्ययन किया। फ्लीट और हुल्श आदि ने शिलालेखों और मुद्रा लेखों का अध्ययन किया। जिससे भारत का गौरवपूर्ण इतिहास प्रकाश में आया। फलत. संसार के देश भारत को आदर की दृष्टि से देखने लगे। पाश्चात्य विद्वानों के संपर्क से ही भारतवासियो की सौंदर्यात्मक अनुभूति गतिमान हुई। इसके पूर्व की कलात्मक निधियां,अजंता, एलोरा और एलिफैंटा की गुफाएँ, साची, भरहुत, बोधगया के स्तूप, उडीसा के मंदिर तथा अन्य कलात्मक स्मारक तिमिराच्छन्न थे। उनका जीर्णोद्धार किया और उनकी कलात्मकता की विवेचना की।

वैज्ञानिक अन्वेषण एवं अनुसधान

मध्यकाल में भारतीयों की अनुसंधान एव अन्वेषण की भावना कुंठित हो चुकी थी। आधुनिक काल में पाश्चात्य सभ्यता एव संस्कृति के प्रभाव के कारण, विज्ञान के क्षेत्र मे उन्नति के कारण अनुसंधान एव अन्वेषण की भावना पुन उत्पन्न हुई। पाश्चात्य विद्वानो के प्रयास से ही अनेक वैज्ञानिक अनुसंधान सस्थान, प्रयोगशालाएँ और विश्वविद्यालय खोले गये जिनमें वैज्ञानिक विषयो के परीक्षण एव शिक्षण की व्यवस्था की गयी।

वैज्ञानिक क्षेत्र में पाश्चात्य सभ्यता का भारतीय सस्कृति पर सर्वाधिक प्रभाव पडा। ज्योतिष, गणित एव आयुर्वेद के क्षेत्र में प्राचीन काल से ही अभिवृद्धि हो चुकी थी पर ब्रिटिश काल मे पाश्चात्य ढग की वैज्ञानिक शिक्षा तथा चिकित्सा-विज्ञान तथा इजीनियरिंग आदि का प्रबध किया गया। इस हेतु कलकत्ता और बबई में मेडिकल कालेज तथा रुडकी मे इजीनियरिंग कालेज की स्थापना हुई। 1876 ई० मे मदनलाल सरकार ने वैज्ञानिक अध्ययन की भारतीय परिषद् की स्थापना करके वैज्ञानिक शिक्षण एव अनुसधान का श्रीगणेश किया। 1890 ई० मे सर जगदीश चद्र बोस ने भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में अनुसधान कार्य आरभ किया। 1908 ई० मे प्रफुल्लचद्र राय ने 'हिंदू रसायन' का इतिहास नामक ग्रथ की रचना करके रसायन के क्षेत्र मे प्रगति का परिचय दिया और विज्ञान की दिशा मे समृद्ध योरोप और अमेरिका आदि के वैज्ञानिकों को आश्चर्यचकित कर दिया। 1902 ई० मे ही कलकत्ता विश्वविद्यालय में विज्ञान का अध्यापन प्रारभ हुआ और बी० एस-सी० तत्पश्चात् एम० एस-सी० की डिग्रियां दी जाने लगी। 1911 ई० में टाटा के आर्थिक सहयोग से भौतिक-विज्ञान एव रसायन-विज्ञान आदि विषयो मे अन्वेषण एवं अनुसधान-परक शोध के लिए 'इंडियन इस्टीट्यूट आफ साइस' बैंगलौर की स्थापना की गयी तथा प्रायोगिक अनुसंधान को समुन्नत बनाने के लिए 'इडियन रिसर्च फड एसोसियेशन' की स्थापना की गयी।

विज्ञान के क्षेत्र में उपर्युक्त प्रगति से प्रेरित होकर अनेक भारतीयों ने अपने

क्षेत्र में वैज्ञानिक अनुसंधान करके अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया। इन वैज्ञानिकों में प्रसिद्ध गणितज्ञ श्री निवास रामानुजम, वनस्पति विज्ञान शास्त्री जगदीश चद्र बोस, भौतिक विज्ञान शास्त्री चद्रशेखर वेंकट रमण और मेघनाद शाहा के नाम उल्लेखनीय हैं। चद्रशेखर वेंकट रमन ने 1919 ई० में नोबेल पुरस्कार प्राप्त कर विज्ञान के क्षेत्र में संसार मे भारत को गौरव प्रदान कराया। श्री रमण ने भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में खोजपूर्ण शोध के लिए 'रमण इंस्टीट्यूट आफ साइंस' बंगलोर की स्थापना की। वनस्पति विज्ञान के क्षेत्र में डॉ० बीरबल साहनी ने नवीन शोध कार्य करके अंतर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। इन्होंने इस क्षेत्र में अनुसंधान करने के लिए 'पैलियोबोटैनिकल रिसर्च इस्टीट्यूट' लखनऊ की स्थापना की। इन अनुसधानो के परिणाम स्वरूप शिक्षा में विज्ञान का महत्त्व बढ़ गया। 1940 ई० में भारत सरकार ने 'वैज्ञानिक एव औद्योगिक अनुसधान परिषद्' की स्थापना की। द्वितीय महायुद्ध की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनुसधान की समितियों का गठन किया गया, जिसके द्वारा प्लास्टिक व्यवसाय एव रेडियो तथा अन्य उद्योगों के क्षेत्रों में अभूतपूर्व कार्य हुआ। रसायन विज्ञान और भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में अनेक शोधपूर्ण कार्य हुए। 1940 ई० में श्री कृष्णन को भौतिक विज्ञान, 1943 में शांति स्वरूप भटनागर को रसायन विज्ञान की दिशाओं मे नयी खोज करने के कारण देश का मस्तक वैज्ञानिक क्षेत्र में ऊँचा हुआ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने वैज्ञानिक अनुसंधान के लिए एक पृथक विभाग की स्थापना की है तथा एक वैज्ञानिक परामर्शदात्री परिषद् का गठन किया और आणुविक शक्ति के खोज के लिए एक विशिष्ट समिति स्थापित की। इस क्षेत्र में भाभा, विक्रम साराभाई और सेठना आदि अणु-वैज्ञानिकों ने महत्त्वपूर्ण शोध कार्य करके ससार में भारत के गौरव को बढ़ाया है। इन्ही अनुसंधानों के परिणामस्वरूप भारत ने अभी हाल में एक परमाणु परीक्षण किया। शांतिपूर्ण कार्यों के लिए परमाणु शक्ति का प्रयोग भारत का एक कल्याण कारी मार्ग है। 'राष्ट्रीय रासायनिक प्रयोगशाला', पूना 'राष्ट्रीय भौतिकी प्रयोगशाला', दिल्ली, 'राष्ट्रीय धातु शोधन शाला', जमशेदपुर, 'राष्ट्रीय इंधन अनुसंधानशाला', धनबाद, 'केंद्रीय शीशा एवं चीनी बर्तनों की अनुसंधान-शाला', दिल्ली आदि की स्थापना से सामाजिक जीवन को अनेक विरामों से मुक्त कर सुख सुविधा से सम्पन्न किया है। भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान के अतिरिक्त वनस्पति विज्ञान, जीव विज्ञान, भू-गर्भ विज्ञान, मानव शरीर, रचना विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान के नये क्षितिज दृष्टिगत हुए है। 'जूलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया' जियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया' और बोटेनिकल

सर्वे आफ इंडिया' आदि अपने अपने क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न कर रहे हैं और इनके कारण पर्याप्त आर्थिक लाभ हुआ है।

यातायात के साधनों मे वृद्धि

आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता के अंगो का सूत्रपात रेल, तार, डाक आदि से हुआ जो आधुनिक युग की देन है और जिसके कारण दूरस्थ प्रदेशो से निकटतम संपर्क स्थापित हो गया और जन संपर्क मे वृद्धि हुई। यातायात के साधनों की उन्नति से भारतीय सामाजिक और आर्थिक स्थिति मे युगातकारी परिवर्तन हुए। अंग्रेजों के आगमन के बाद की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना रेल मार्गों का निर्माण था। रेल, तार, रेडियो, हवाई जहाज आदि के आविष्कार से देश, आवागमन और सचार व्यवस्था मे अत्यधिक प्रगति हुई।

भारत मे रेलो का निर्माण ब्रिटिश-शासन की देन है। भारत मे सर्वप्रथम रेलवे का निर्माण 1853 ई० मे हुआ। प्रारभ मे रेलवे लाइन केवल बबई, कलकत्ता और मद्रास के आसपास बिछायी गयी, किंतु 19वी शताब्दी के अत तक उनका पर्याप्त विस्तार हो गया। रेलवे के कारण दुर्गम स्थान सुगम हो गये, अविकसित क्षेत्र विकसित होने लगे, औद्योगिक केंद्र स्थापित होने लगे। पदार्थों को ऐसे स्थानो पर पहुँचाया जाने लगा जहा उनका अभाव था। विभिन्न प्रातो के निवासी परस्पर एक दूसरे के सन्निकट आने लगे और उन्हे राजनीतिक एव सास्कृतिक एकता की अनुभूति हुई। स्थिर समाज मे स्फूर्ति उत्पन्न हुई और वह गत्यात्मक हो गया। लोग जीविका के लिए दूर-दूर जाने लगे। जाति के बंधन शिथिल हुए। छुआछूत कम हुई। लोगो की कुपमंडूकता में कमी आयी। तीर्थाटन के प्रचार की सहजता और प्रचार-प्रसार ने सास्कृतिक चेतना और राष्ट्रीय एकता की भावना उत्पन्न हुई।

पक्की सडकों का निर्माण हुआ। जिससे मोटर और ट्रक आदि आधिक्य से चलने लगी। जहा रेलो से माल नही पहुँचाया जा सकता था वहा ट्रकों द्वारा पहुँचाया जाने लगा। भारत के विदेशी व्यापार के लिए भाप की शक्ति चलने वाले बडे-बडे जहाजो का निर्माण हुआ जिससे भारत की समुद्री व्यापार मे पहले की अपेक्षा अधिक उन्नति हो गई। पाश्चात्य देशों मे भी डाक, तार, टेलीफोन का आविष्कार इसी युग मे हुआ था। अंग्रेजी शासन में डाक, तार, टेलीफोन की सुविधा भी हो गयी, जिससे देश के व्यापार-व्यवसाय और भौतिक उन्नति मे बड़ी सहायता मिली।

नहरें

नहरों के निर्माण से ब्रिटिश सरकार ने एक बड़े भू-भाग पर सिंचाई की व्यवस्था की। ऊबड़-खाबड़ भूमि कृषि योग्य बनायी गई। नहरों के अतिरिक्त

'सतलुज वेली प्रोजेक्ट', पंजाब, 'सक्खर बैरेज', सिंध, 'कावेरी रिजवायर', मद्रास, 'लायड-डैम', बंबई का निर्माण किया गया जिससे कृषि उन्नतिशील हो सकी ।

पाश्चात्य विचारधारा में भारत में सामाजिक न्याय स्वतंत्रता की भावना एव लोकतांत्रिक विचारो का बीजवपन किया । पूर्व और पश्चिम के इस अभूत-पूर्व वैचारिक संगम के प्रोद्‌भासरूप भारतीय जनमानस संकीर्णता की बेड़ियों को तोड स्वातंत्र्य सूर्य के प्रकाश का आकांक्षी हो गया । भारतीय सामाजिक चिंतन धारा में पाश्चात्य विचारधाराओं की अंत सलिला ने अपना स्वरूप जीवित रखते हुए एक विशिष्ट राजनीतिक पृष्ठभूमि का निर्माण किया जिसने समय आने पर भारतीय इतिहास में युगातरकारी परिवर्तन करके लोकतात्रिक समाजवादी गण-राज्य की स्थापना की ।

●

परिशिष्ट एक

उत्तर और दक्षिण भारतीय संस्कृति का संपर्क और भारतीय संस्कृति को दक्षिण भारत की देन

विंध्याचल के दक्षिण का प्रदेश दक्षिण भारत कहलाता है। दक्षिण भारत को 'दक्षिणापथ' भी कहा गया है। यहा गोदावरी, कृष्णा, तुगभद्रा और कावेरी प्रमुख नदिया बहती है। दक्षिण भारत के अंतर्गत मुख्यतया चार प्रदेश—आध्र, कर्नाटक, केरल और तामिलनाडु आते हैं। आध्र प्रदेश तेलगू भाषी है। कर्नाटक प्रदेश कन्नड भाषी है। केरल प्रदेश मलयालम भाषी है। तामिलनाडु प्रदेश तमिल भाषी है। दक्षिण-भारत में यहा के आदि निवासी, द्रविड तथा आर्य नस्लों के लोग रहते है। दक्षिण भारत के क्रमबद्ध प्रारभिक राजनीतिक इतिहास का अभाव है। यहा के प्रमुख राजवशो मे आध्र, सातवाहन, चालुक्य राज्य, राष्ट्रकूट, पल्लव, चेर, चोल, पाड्य आदि उल्लेखनीय है।

दक्षिण-भारत का राजनीतिक इतिहास उत्तर-भारत के इतिहास से काफी हद तक पृथक् रहा है। किंतु सास्कृतिक इतिहास के संबध मे ऐसा नही कहा जा सकता। भारतीय सस्कृति के विकास मे दक्षिण भारत का महत्त्वपूर्ण योग-दान रहा है।

दक्षिण भारत मे द्रविड सस्कृति का प्राधान्य था। द्रविड सस्कृति के विकास में तमिल लोगो का मुख्य हाथ है। तमिल साहित्य के प्राचीनतम ग्रथ इस बात के द्योतक है कि ईसा से कई शताब्दी पूर्व तमिल साहित्य का सृजन होना प्रारंभ हो गया था। तमिल प्रदेश में मातृसतात्मक सस्कृति प्रचलित थी। पुरुषो के सघर्षमय जीवन के कारण परिवार की सुरक्षा और निरीक्षण स्त्रियो पर निर्भर रहने लगा।

दक्षिणी भारत मे आर्य संस्कृति का प्रवेश और आर्य द्रविड़ संस्कृतियों का समन्वय

तमिल अनुश्रुति है कि शिव पार्वती के विवाह के अवसर पर अनेक क्षेत्रों के लोग उपस्थित थे, जिनमें दक्षिण भारत के लोग भी आये थे। विवाह के उप-रात ही शिव ने अगस्त्य ऋषि को दक्षिण-भारत जाने का आदेश दिया। अत. वे अपनी पत्नी लोपामुद्रा के साथ दक्षिण गये और ताम्रपर्णि नदी के उद्गम स्थल पाडकई पर्वत (टिनेवली जिला) में निवास करने लगे। अगस्त्य ने तमिल भाषा का अध्ययन कर उसके व्याकरण की रचना की, जिसमें 12000 सूत्र

थे। उन्होंने सुदूर दक्षिण में जाकर आर्य संस्कृति का प्रचार किया। इसके बाद आर्यों के अनेक उपनिवेश बसे। अगस्त्य ऋषि का काल निर्धारण उत्तर वैदिक काल के अंतिम चरण में किया गया है। राम अपने बनवास काल में दक्षिण-भारत गये थे और अंततः लंका के रावण को परास्त कर आर्यों के प्रभुत्व की स्थापना की थी। इस प्रकार दक्षिण-भारत में आर्य संस्कृति का प्रसार होता रहा। रामायण में पाड्य देश की राजधानी मदुरा का उल्लेख है। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी के संस्कृत के प्रख्यात वैयाकरण कात्यायन ने चोल और पाड्य राजाओं का उल्लेख किया है। मौर्य सम्राट् चंद्रगुप्त अथवा उनके पुत्र बिंदुसार ने दक्षिणी-भारत के कुछ क्षेत्रों का विजय किया। सम्राट् अशोक मौर्य (ई० पू० तीसरी शताब्दी) ने दक्षिण के चोल, पाड्य, केरल, सतियपुत्र राज्यों में मनुष्य-चिकित्सा और पशु-चिकित्सा का प्रबंध किया था। बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ भिक्षुओं को इन प्रदेशों में भेजा गया था। इस प्रकार अशोक के काल में दक्षिण में आर्य सभ्यता एवं संस्कृति का प्रचार एवं प्रसार शांतिपूर्ण ढंग से किया था। बौद्धों के पूर्व जैन मुनियों और ब्राह्मणों ने दक्षिण में स्वधर्म का प्रचार किया था।

मौर्यों के बाद आंध्र-सातवाहनों का राज्य दक्षिण भारत में स्थापित हुआ। सातवाहनों के बाद कांची में पल्लव वंश के राज्य का शुभारंभ हुआ। पल्लव राजा आर्य संस्कृति से प्रभावित थे। इनके राजाओं ने यज्ञों का अनुष्ठान किया था। इसके समय कांची नगर आर्य सभ्यता एवं संस्कृति का प्रमुख केंद्र बन गया था। यहां अनेक ब्राह्मण निवास करते थे और संस्कृत भाषा के अध्ययन का केंद्र बन गया था और यहां एक विश्वविद्यालय की स्थापना हुई थी।

राजनीतिक प्रभाव के अतिरिक्त दक्षिण की द्रविड भाषाओं पर आर्य भाषाओं का बडा प्रभाव पडा। इसके ही परिणामस्वरूप द्रविड भाषाओं (तमिल, तेलगु, कन्नड, मलयालम) में संस्कृत के शब्दों का आधिक्य है। यहां तक कि लिपि भिन्न होते हुए भी तेलगु, कन्नड और मलयालम की वर्णमाला भी देव-नागरी की वर्णमाला के समान है।

धर्म के क्षेत्र में भी आर्यों ने द्रविडों को प्रभावित किया। फलतः दोनों धर्म एक हो गये। द्रविडों ने आर्यों के वैदिक धर्म को अपना लिया और यज्ञों का अनुष्ठान करने और वेदों को अपौरुषेय एवं प्रामाणिक मान लिया। जैन और बौद्ध धर्मों के विकास में द्रविडों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। किंतु जब इन धर्मों का ह्रास और वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ तो द्रविडों ने उसमें भाग लिया। आगे चलकर वे भक्ति-आंदोलन के प्रवर्तक बने।

धार्मिक क्षेत्र में दक्षिण भारत का योगदान

भारत में प्रमुख धर्मों के विकास में दक्षिण के महापुरुषों एवं आचार्यों का

प्रमुख योगदान रहा है। इसके साथ कला के विकास मे दक्षिण भारत के कलाकारों ने अभूतपूर्व कार्य किया। प्रारंभ में तमिल भूत-प्रेत, वृक्ष और नाग की पूजा करते थे और पशुबली द्वारा देवताओं को तृप्त करते थे। शनै शनै. उनके विचार परिवर्तित हुए और वे परम शक्तिवान परमेश्वर मे आस्था रखने लगे। उनमें भक्ति-भावना का उदय हुआ। आर्यों की भाति द्रविड भी बहुदेवतावाद में विश्वास करते थे। **तोलकाप्पियम** नाम ग्रथ के अनुसार वे लोग माय्योन, शेयोन, मुरुगन, कोर्रव आदि देवताओ को पूजते थे। दक्षिण-भारत में प्रदेश की दशा, जलवायु एव भौगोलिक परिस्थिति के अनुसार देवताओ की पूजा होती थी। यथा पर्वतीय प्रदेश के देवता शेयोन थे। संस्कृत मे इनको स्कद, कार्तिकेय और सुब्रह्मण्य कहा गया है। मरुदम नदियो की घाटियो के मैदानो के देवता थे। वे मेघो के अधिपति है। नैदिमल या समुद्र तटीय वासी आर्यों के वरुण देवता के समान ही एक देवता की पूजा करते थे और उसे समुद्र का अधिपति मानते थे। शिव द्रविडो के प्रधान देवता है, जिनका प्रतीक लिंग था। शिव पर्वतीय प्रदेश के देवता थे। 'शिव' शब्द तमिल भाषा का है, जो प्रारंभ से आर्य भाषा मे प्रवेश कर चुका था। प्रारभ मे शिव और रुद्र पृथक्-पृथक् देवता थे किंतु आर्य और द्रविड सस्कृतियो के समन्वय से आर्यों के रुद्र और द्रविडो के शिव एक हो गये, यद्यपि शिव कल्याण के और रुद्र मुख्यत सहार के देवता थे। द्रविडो मे शिव को देवताओ मे सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। वे सर्जन, पालन और सहार के देवता थे। दक्षिण में शिव मत से ही पाशुपात, कापालिक और वीरशैव (लिंगायत) सप्रदायो का विकास हुआ। आध्र और कर्नाटक में शैव मत का पर्याप्त प्रचार हुआ। छठी शताब्दी मे शैवमत का विशेष रूप से प्रचार प्रारंभ हुआ, जिसका प्रमुख श्रेय नायनमार नामक शैव संतों को है, जो भक्ति के प्रचार पर बल देते थे। इनके गीतो में भक्ति रस होता था।

दक्षिण भारत में वैष्णव धर्म का प्रचार था। दक्षिण में आर्य ब्राह्मणों के आगमन से वैष्णव धर्म का प्रचार हुआ। ईसा की प्रारभिक शताब्दियो में तमिलनाडु में वैष्णव धर्म का प्रचार था। आगे चलकर वैष्णव आचार्यों ने जैन एव बौद्धधर्म का विरोध कर विष्णु के अवतार राम और कृष्ण की भक्ति का प्रचार एवं प्रसार प्रारभ किया। कालातर मे वैष्णव मत के अनेक सप्रदाय हो गये। ग्यारहवी शताब्दी मे रामानुज ने वेदो और उपनिषदो के वैष्णव मत और अलवारों द्वारा प्रचारित भक्ति मार्ग का समन्वय करके विशिष्टाद्वैतवाद संप्रदाय का प्रतिष्ठान किया। तिरुक्कुरुगै पिरान पिल्लाई और वेदांत दशिक् ने बडकलैसंप्रदाय की स्थापना की। चौदहवी शताब्दी में मनवाल मामुनि ने तेनकलै सप्रदाय को जन्म दिया। आजकल भी वडकलै और तेनकलै मत प्रचलित है, जो भक्ति

और प्रपत्ति (नारायण के प्रति समर्पण) को मोक्ष का साधन मानते हैं ।

दक्षिण भारत में सम्राट चंद्रगुप्त के समय भद्रबाहु नामक जैन मुनि ने वहाँ जैनधर्म का प्रचार एवं प्रसार किया था । दूसरी शताब्दी तक जैनधर्म की जड़ें तमिल मे दृढ हो गयी थी । मदुरा जैनधर्म का एक प्रमुख केंद्र था । पांड्य राजा और मैसूर के गंगवशी राजा जैन धर्मानुगामी थे । चालुक्य राज्य में भी जैनधर्म का प्रचार था । जैन साहित्य के अनेक ग्रंथ कन्नड भाषा में लिखे गये । सुदूर दक्षिण मे काची नामक नगर जैनधर्म का प्रमुख केंद्र था । पल्लव देश के प्रारंभिक राजा भी जैन धर्मानुगामी थे । जैनधर्म के प्रसार के कारण ही दक्षिण भारत में अनेक प्राचीन मंदिर एव मूर्तिया उपलब्ध है । शैव संत नायनमारों और वैष्णव सतों (आल्वारो) के जोरदार प्रचार के कारण जैनधर्म को क्षति पहुँची ।

मौर्य सम्राट् अशोक के समय मे दक्षिण में बौद्धधर्म के प्रचार में काफी प्रगति हुई । उसकी सहिष्णुतापूर्ण धार्मिक नीति के कारण ही बौद्ध धर्म वहां जनप्रिय हो सका था । अशोक ने दक्षिण में अनेक बौद्ध प्रचारक भेजे थे । ईसा की प्रारंभिक शताब्दियो में नागपट्टनम्, टोण्डमडलम और काचीवरम आदि बौद्ध-धर्म के प्रमुख केंद्र थे । चीनी यात्री हुएनसाग ने काचीवरम का भ्रमण किया था और वहा कई बौद्धधर्म की शाखा थी । छठी और सातवी शताब्दी मे नायनमार को अल्वार सतो के शैव और वैष्णव मत के प्रचार से बौद्धधर्म को क्षति पहुंची और वह निशक्त हो गया ।

दक्षिण भारत मे दर्शन-शास्त्र का अभूतपूर्व विकास हुआ । इस क्षेत्र में 8वी शताब्दी के प्रथम चरण में कुमारिल भट्ट नामक प्रख्यात मीमासक का नाम अग्रगण्य है । वे वैदिक कर्मकाड में विश्वास रखते थे और याज्ञिक अनुष्ठान को विमुक्ति का मार्ग मानते थे । उन्होंने श्लोक वार्तिक और तंत्रवार्तिक आदि ग्रथ रच कर वैदिक कर्मकाड का प्रचार किया । नवी शताब्दी मे उत्पन्न दूसरे दर्शन-शास्त्री और अद्वैतवाद के प्रबल समर्थक शंकराचार्य थे, जो जीव और ब्रह्म की पृथक् सत्ता को स्वीकार नही सकते थे । उन्होंने तर्क द्वारा 'अद्वैतवाद' का प्रचार किया और जैन तथा बौद्ध धर्मों का विरोध किया । इसके दार्शनिक सिद्धातो से भक्ति आदोलन के मार्ग में भी बाधा बडी । इन महान् दार्शनिको के बाद दसवी शताब्दी के अंतिम चरण में नाथमुनि नामक दार्शनिक हुए, जिन्होंने वैष्णव सिद्धातों की दार्शनिक व्याख्या की । उनके उत्तराधिकारियों में यमुनाचार्य और रामानुजाचार्य का विशिष्ट स्थान है । रामानुज ने शंकर के अद्वैतवाद के विपरीत 'विशिष्टाद्वैतवाद' का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार जीव और जगत ईश्वर के ही दो रूप है । जीव ईश्वर का एक विशिष्ट रूप है । उनके दार्शनिक सिद्धांत के अनुसार जीव ईश्वर का विशिष्ट रूप होते हुए भी उससे पृथक् सत्ता रखता

है । इसीलिए उन्होंने कहा कि जीव ईश्वर की भक्ति कर सकता है । तेरहवी शताब्दी में मध्वाचार्य ने जीव और ईश्वर में भेद के सिद्धात को प्रतिपादित करके भक्ति-मार्ग की उपादेयता पर बल दिया । इस प्रकार उन्होंने 'द्वैतवाद' के मत का प्रतिपादन किया, जिसके अनुसार जीव और ईश्वर दो पृथक् सत्ताएं है । जीव को मुक्ति के लिए भक्ति का आश्रय लेना आवश्यक है । इसी काल में निंबकाचार्य हुए जिन्होने कृष्ण के रूप मे विष्णु की पूजा पर बल दिया ।

भक्ति आदोलन

याज्ञिक कर्मकाड की जटिलता से जन साधारण ऊब चुका था, इसलिए उन्होंने भक्ति का आश्रय लिया । इस प्रकार उन्होने वैदिक मर्यादा को स्थापित किया और उसमे सुधार किये । **पद्मपुराण** में भक्ति के सबध मे उल्लिखित है कि भक्ति का जन्म द्रविड देश मे हुआ और कर्णाटक मे उसकी वृद्धि हुई, महाराष्ट्र मे उसने स्थिति प्राप्त की और गुजरात मे आकर वह बूढी हो गयी ।' इससे ज्ञात होता है कि मध्य कालीन भक्ति आदोलन दक्षिण भारत मे ही पुष्पित एव पल्लवित हुआ और वही से सपूर्ण देश मे प्रसारित हुआ । भक्ति के सिद्धात का अभिप्राय इष्टदेव के प्रति अटूट एव अगाध भक्ति, श्रद्धा और प्रेम था । भक्ति को ही मोक्ष प्राप्ति का साधन माना गया । विष्णु के दो अवतार राम और कृष्ण के प्रति विशिष्ट श्रद्धा, प्रेम और भक्ति का श्रीगणेश हुआ । बाद मे गोस्वामी सत तुलसीदास ने रामचरितमानस की रचना करके राम के चरित्र को उजागर किया । इसी प्रकार गुजरात में बल्लभाचार्य और बगाल मे चैतन्य ने कृष्ण के चरित्र को उजागर किया । बारहवी शताब्दी से दक्षिण में शैवमत के अतर्गत एक नवीन सप्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ जिसे 'वीरशैव' अथवा 'लिंगायत' कहते है । वीरशैव अथवा लिंगायत के मतावलबी सुधारवादी, बाल-विवाह के विरोधी और विधवा-विवाह के समर्थक थे । कर्णाटक और महाराष्ट्र मे यह सप्रदाय लोकप्रिय था ।

दार्शनिक विचारधाराएँ

दर्शन जगत् मे दक्षिण भारत-वासियों ने असाधारण कार्य किया और अनेक सिद्धातो को जन्म दिया । उदाहरणार्थ शकराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन करके यह सिद्ध किया कि वास्तविक सत्ता केवल ब्रह्म है तथा जीव एवं प्रकृति की कोई स्वतत्र सत्ता नही है । जगत् मिथ्या और ब्रह्म सत्य है, यह मूलमत्र ही मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन है । उन्होने ब्रह्म और जीव में भेद मिटाने पर बल दिया । शंकर के पाडित्य एवं विलक्षण प्रतिभा के कारण भक्ति आदोलन, जैन और बौद्ध सप्रदायो को आघात पहुँचा तथा वैष्णव मत के दार्शनिक पक्ष को बल मिला । आगे चलकर नाथमुनि अथवा रंगनाथाचार्य ने न्याय तत्त्व विषयक अनेक

ग्रंथ लिखकर एक ओर वैष्णव सिद्धांतों की दार्शनिक व्याख्या की और दूसरी ओर अल्वार संतों के गीतों को रागबद्ध कर वैष्णव मंदिरों में गायन की व्यवस्था की। इस प्रकार उन्होंने 'श्री वैष्णव' नामक संप्रदाय का श्रीगणेश किया।

नाथमुनि अथवा रंगनाथाचार्य की शिष्य परंपरा में पुंडरीकाक्ष और राममिश्र नामक आचार्य हुए। इसके बाद नाथमुनि के पौत्र यमुनाचार्य वैष्णव मत के प्रधान आचार्य बने। यमुनाचार्य ने **सिद्धित्रय, आगम-प्रामाण्य और गीतार्थ-संग्रह** लिखकर विशिष्टाद्वैतवाद सिद्धात का प्रवर्तन किया। उन्होंने ज्ञानयोग और कर्मयोग की अपेक्षा भक्तियोग का प्रतिपादन किया। इसके बाद इसी परंपरा में रामानुज ने 'विशिष्टाद्वैतवाद' का प्रतिपादन किया। इस सिद्धात के अनुसार जीव और ब्रह्म से भिन्न ब्रह्म का ही एक विशिष्ट रूप है, जिसे अपने विशिष्ट रूप में ब्रह्म से पृथक् होने के कारण जीवात्मा के लिए भक्ति मार्ग का अनुसरण करने की आवश्यकता नही है। रामानुज ने **वेदांतसार वेदांतसंग्रह** और **वेदांतदीप** आदि ग्रंथ लिखकर उपर्युक्त सिद्धात का प्रतिपादन किया।

दर्शन के क्षेत्र में बारहवी शताब्दी में निंबकाचार्य ने भक्ति मार्ग पर बल दिया और प्रतिपादित किया कि मनुष्य को गोपियो और कृष्ण सरीखा प्रेममय भक्ति करनी चाहिए। उनके अनुसार जीव और जगत ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। अभिन्न इसलिए है कि वे अपनी सत्ता के लिए पूणत ब्रह्म पर निर्भर है। इसी विचारधारा के आधार पर तेरहवी शताब्दी मे मध्वाचार्य ने द्वैतवाद के सिद्धात का प्रवर्तन किया। अर्थात् जीव और जगत को ब्रह्म से पृथक् मानते हुए उन्होंने कहा कि ब्रह्म सृष्टि का निमित कारण है, उपादान कारण नही है।

आठवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध कुमारिल भट्ट ने मीमासा दर्शन द्वारा वैदिक कर्मकाड का समर्थन किया और उसे अधिक विकसित किया तथा तर्क द्वारा बौद्ध दर्शन का खंडन करके मीमासा के सिद्धातों की सत्यता सिद्ध की।

धर्म संघ की स्थापना

जैन और बौद्ध मतों ने धार्मिक सगठन निर्माण के लिए सघ की स्थापना की थी, किंतु वैदिक धर्म में इस प्रकार का कोई सगठन नही था। अत. शंकराचार्य ने सर्वप्रथम हिंदू धर्म में भी संगठन की भावना उत्पन्न करने के लिए प्रयास किया। उन्होंने चार मठ स्थापित किये, यथा उत्तर में बदरीनाथ, पश्चिम मे द्वारिका, पूर्व में जगन्नाथपुरी और दक्षिण में शृंगेरी। ये चारों मठ और संन्यासियों का सगठन हिंदू धर्म के पुनरुद्धार में बडे सहायक सिद्ध हुए। शंकराचार्य की भांति रामानुज और मध्व ने देश के अनेक भागों में अपने-अपने मठों की स्थापना कर धर्म का संगठित रूप से प्रचार किया।

कला के क्षेत्र में योगदान

स्तूप कला

कला के क्षेत्र में दक्षिण भारत की देन अपूर्व है। आध्र राजाओ के काल में अनेक सुदर बौद्ध स्तूपो का निर्माण हुआ। इनमें कृष्णा नदी के मुहाने पर स्थित अमरावती का विशाल स्तूप है। अब इस स्तूप के भग्नावशेष ही है। इसकी वेदिका के कुछ भाग राजकीय सग्रहालय, मद्रास और कुछ भाग ब्रिटिश संग्रहालय लदन में सुरक्षित है। इसका निर्माण-काल ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी माना गया है, किंतु वेदिका शताब्दियो बाद की है। इसकी वेदिका और गुबद चूना पत्थर की है, जिनपर विविध दृश्य उत्कीर्ण है। इस अलकरण मे प्रताको और मूर्तिया का दोनों का समन्वय है। स्तूप की तक्षण कला तात्कालिक जीवन प्रस्तुत करती है तथा तात्कालिक राजप्रासादो, प्राचीर-युक्त नगरो, गृहो और मदिरो की सुदर झाकी प्रस्तुत करती है। अमरावती के अतिरिक्त नागार्जुनीकोड मे अनेक महत्त्व-पूर्ण भग्नावशेष हैं, जिनमे एक स्तूप, एक विहार और एक चैत्यगृह भी है।

दक्षिण भारत के मदिर

अजता की बौद्ध गुहाए चट्टानो को काटकर चैत्य और बिहार के रूप मे निर्मित की गयी है। एलोरा मे ब्राह्मण, बौद्ध और जैनधर्म की गुफाएं है। इन गुहा मदिरो मे कैलाश मदिर सबमे भव्य और विशाल है। यह 190 फुट ऊँचा है। इसके अतिरिक्त पत्थर की शिलाओ को काटकर निर्मित मदिर एलिफेंटा की गुफाओ मे भी देखने को मिलते हैं। यहा के मदिरो मे महेश्वर की त्रिमूर्ति, शिव ताडव और शिव पार्वती-विवाह की मूर्तिया अपनी भव्यता एव कलात्मकता के लिए प्रसिद्ध है।

पल्लव राजाओ ने सुदूर दक्षिण मे अनेक विशाल मंदिर निर्मित कराये थे। महेंद्र वर्मा और नरसिंह वर्मा ने सातवी शताब्दी में काची नगर के निकट महा-बलीपुरम् मे विशाल चट्टानो को काटकर मदिर निर्मित कराये थे। ये शैलोत्कीर्ण मदिर 'रथ' कहलाते है। इस प्रकार के रथ-मदिरो का एक समूह 'सात पगोडा' के नाम से प्रख्यात है। इन सप्त रथो के नाम 'धर्मराज रथ' और 'भीम रथ' आदि है। ये मंदिर शैलोत्कीर्ण तथा एकाश्म है। इनमें विशाल मूर्तिया शैल की ही अग है। गगा को पृथ्वी पर लाने वाले दृश्य 98 फुट लबे और 43 फुट चौडे है।

सातवी शताब्दी मे पल्लव राजाओ द्वारा रचनामूलक मदिरों का निर्माण हुआ। नरसिह वर्मन् द्वितीय ने मामल्लपुरम् मे सुदर मदिर बनवाये और राज-सिंह ने काची में कैलाशनाथ और बैकुठ पेरुमल नामक मदिरों का निर्माण कराया था। ये द्रविड वास्तुकला के प्रारभिक रूप के उत्कृष्ठ नमूने है।

दसवी शताब्दी में चोल राजाओं ने जो मंदिर निर्मित कराये थे और चालुक्यों ने एहोले, पट्टदकल आदि स्थानों पर मंदिर निर्मित करवाये वे द्रविड़ वास्तुकला के उत्कृष्टतम नमूने हैं। इनमें सम्राट राजराज ने तंजौर मे एक शिव मंदिर का निर्माण कराया था, जो वृहदीश्वर के नाम से विख्यात है। इसका शिखर (विमान) 190 फुट ऊँचा और चौदह मंजिला है। सबसे ऊपर एकाश्म प्रस्तर का विशाल गुंबद है। ग्यारहवी शताब्दी में राजेंद्र प्रथम के काल में चोल साम्राज्य अपने उत्कर्ष की पराकाष्ठा पर था। उसने अपनी नवीन राजधानी गंगैकोडचोलपुरम् मे एक विशाल मंदिर का निर्माण कराया था, जिसके भग्नावशेष आज भी विद्यमान हैं। चोल साम्राज्य की पतनोन्मुख स्थिति में भी मंदिरों का निर्माण कार्य होता रहा, जिनमे तजौर जिला के एरावतेश्वर और त्रिभुवनेश्वर नामक मदिर विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। चोल कला की प्रमुख विशेषताएं गोपुरम् है। चोल मदिरो के प्रवेश द्वार पर गोपुरम् बनते थे, जो मंदिर के शिखर की अपेक्षा अधिक ऊचे होते थे। दूसरी प्रमुख विशेषता स्तंभयुक्त मंडप है। उदाहरणार्थ मदुरा के एक मंडप में नक्काशीदार 985 स्तंभ हैं। श्रीरंगम और रामेश्वरम् में भी विशाल मंदिर हैं, जिनमें द्रविड़ वास्तुकला का पूर्ण विकास दृष्टिगत है।

द्वारसमुद्र के होयसल राजाओ ने अनेक मंदिर बनवाये थे जो वर्गाकार न होकर तारक की आकृति के है। इनकी मेधि पाच-छह फुट तक ऊँची है। इसके शिखर पिरामिडनुमा है। किंतु बहुत अधिक ऊचे नही है। होयसल राजाओ का सर्वाधिक प्रसिद्ध मंदिर द्वारसमुद्र में स्थित होयलेश्वर का है। चालुक्य राजाओ ने भी अनेक मंदिरों का निर्माण कराया था। इनकी शैली न तो पूर्णत. 'नागर' है और न 'द्राविड'। इनमें दोनो शैलियों का मिश्रण है जिसे 'बेसर शैली' कहा गया है।

मूर्ति कला

दक्षिण भारत में मूर्तिकला के उत्कृष्ट उदाहरण उपलब्ध हैं। श्रवणबेलगोला (मैसूर) की पहाडी पर गोमत की मूर्ति विशालता एवं कलात्मकता के लिए सुप्रसिद्ध है। यह दसवी शताब्दी के अंतिम चरण मे निर्मित हुई थी। यह मूर्ति 57 फुट ऊंची और 26 फुट चौडी है तथा काली शिला को काट कर निर्मित की गयी है। मूर्ति का अनुपात सही, मुखमुद्रा शात और गांभीर्यपूर्ण तथा आकर्षक है। गंगवशीय एक राजा के चामुण्डराय नामक मत्री ने इस मूर्ति का निर्माण कराया था। श्रवणबेलगोला एक प्रख्यात जैन तीर्थ है। कला की दृष्टि से उत्कृष्ट मूर्तियों में अनेक कांसे की नटराज शिव की मूर्तिया है। ये मूर्तिया तांडव नृत्य करते हुए प्रदर्शित की गयी हैं।

चित्रकला

प्राचीन चित्र के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण दक्षिण भारत में अजंता के गुहा मंदिरों की भित्तियों पर दृष्टिगत होते हैं। इन चित्रो के विषय मे पिछले अध्याय में विस्तार से उल्लेख किया जा चुका है। एलोरा मे भी भित्ति-चित्रो के नमूने उपलब्ध हैं। इसके अतिरिक्त सुदूर दक्षिण मे अनेक मदिरो मे भी भित्ति-चित्र मिलते हैं। पुनर्जागरण के काल मे नदलालवसु और अन्य कई चित्रकारो ने अजता के चित्रो की प्रेरणा से चित्र बनाये।

साहित्यिक देन

हाल कृत **गाथासप्तशती** और गुणाढ्य कृत **बृहत्कथा** सातवाहन कालीन अनुपम कृति हैं। सु दर पाड्य कृत **नितिद्विष्टिका नीति** साहित्य की महत्त्वपूर्ण कृति है। कुमारदास का काव्य **जानकीहरण** बहुत प्रसिद्ध है। भारवि कृत **किरातार्जुनीय** में शिव और अर्जुन की कथा का विवरण है। पल्लव राजा महेंद्रवर्मन को **मत्तविलास प्रहसन** और **भगवदज्जुका** ग्रथो का रचयिता माना जाता है। इन ग्रथो मे कापालिको और बौद्ध भिक्षुओ की हसी उडायी गयी है। **दशकुमार चरितम्** और **काव्यादर्श** का रचयिता दडिन् पल्लव राजाओं का दरबारी था। **काव्यादर्श** आलोचना साहित्य के इतिहास मे एक युगातर उपस्थित करती है। कुलशेखर ने भक्ति ग्रथ **मुकुंदमाला** त्रिविक्रम भट्ट ने नलचपू (दमयती कथा) की रचना की। केरल के एक दूसरे कुलशेखर ने **तपती संवरण** और **सुभद्रा-धनंजय** नामक नाटक लिखे। सोमदेव ने **यशस्तिलक** चपू और **नीति काव्यामृत** तथा उनके दो शिष्य वादिराज ने **यशोधरचरित** नामक ग्रथ लिखे। हलायुध ने **कविरहस्य** की रचना की। गुजरात, (लाटदेश) के सोड्ठल कायस्थ ने **उदयसुंदरीकथा** की रचना की। विल्हण ने **विक्रमांकदेवचरित**, सोमेश्वर तृतीय ने **मानसोल्लास** की रचना की। केरल के सुकुमार ने **कृष्णविलास** नामक ग्रथ की रचना की। कदब ने **पारिजातहरण** नामक काव्यग्रथ की रचना की। दक्षिण भारत मे लिखे गये सभी ग्रथ भारतीय साहित्य की स्थायी निधि हैं।

विदेशो के साथ सबध

प्राचीन काल से भारत का विदेशों के साथ व्यापार सबंध था। व्यापार स्थलमार्ग और जलमार्ग (समुद्र) द्वारा होता था। समुद्रमार्ग द्वारा भारत का विदेशो के साथ जो सबध स्थापित हुआ उसका मुख्य श्रेय दक्षिण भारत को है। तमिल साहित्य के अनेक ग्रथो मे समुद्री यात्रा, जलपोत, नौकाएँ और व्यापार का उल्लेख है। समुद्री व्यापार का यह भी प्रमाण है कि दक्षिण-भारत में अनेक बदरगाह थे। दक्षिण भारत के अनेक स्थानों पर रोमन सिक्कों की प्राप्ति से पता चलता है कि इस क्षेत्र का विदेशों के साथ व्यापारिक संपर्क था।

भारतीय जलपोत समुद्र पार दूरस्थ देशों को जाया करते थे ।

दक्षिण भारतीय नौकाओं और जहाजों द्वारा ब्रह्मा, कबोडिया, हिंदचीन, मलाया, जावा, बोर्नियो, फिलीपाइन और चीन आदि पूर्वी देशों से व्यापार करते थे । दक्षिण-पूर्वी एशिया के कई स्थलों के पुरातात्विक उत्खननों से ऐसी वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, जिससे विदेशी व्यापार प्रमाणित होता है । प्राचीन तमिल ग्रंथों में रेशम के लिए 'चीनम' शब्द उल्लिखित है । इससे स्पष्ट है कि रेशम चीन से आता होगा ।

पश्चिम के देशो यथा सुमेर, फिलिस्तीन, असीरिया, आर्मीनिया, मिस्र, यूनान और रोम से व्यापारिक और राजनीतिक सबध थे । सुमेर की राजधानी उर के ध्वंसावशेषो में कुछ भारतीय वस्तुयें प्राप्त हुई है, जिनमे मलाबार तट पर होने वाली सागौन (टीक) लकडी भी है । इसी प्रकार बेबीलोन को मदुरा से मलमल और चदन की लकडी भेजी जाती थी । दक्षिण-भारत और फिलिस्तीन का व्यापारिक सबध तो अत्यत प्राचीन काल से रहा है । असीरिया के बादशाह शाह मनेसर चतुर्थ (ई० पू० आठवी शताब्दी) को भारतीय हाथी उपहार स्वरूप दिये गये थे । भारत से असीरिया को लोहा, सोना, मोती, रेशम और मलमल आदि निर्यात होता था । पश्चिमी एशियायी देश आर्मीनिया से दक्षिण-भारत के व्यापारिक, धार्मिक और राजनीतिक संबध थे । ईसापूर्व दूसरी शताब्दी में दो भारतीय राजाओ ने आर्मीनिया मे भारतीयो की बस्ती स्थापित की थी । यहाँ दक्षिण भारतीय व्यापारी निवास करते थे और यही उन्होंने मदिरो का निर्माण किया था, जहाँ वे उपासना करते थे । बाद को मदिरो को ईसाइयों ने नष्ट कर दिया । दक्षिण भारत से गरम मसाले, कालीमिर्च और चावल यूनान को निर्यात होते थे । मदुरा के पाड्य राजा ने यूनान नरेश आगस्टस (ई० पू० प्रथम शताब्दी के प्रारंभ में) की राजसभा में राजदूत भेजकर कूटनीतिक संबध स्थापित किये थे । मिस्र का बादशाह दक्षिण-भारत से आबनूस, दालचीनी और मलमल आदि आयात करता था । एक मिस्री अभिलेख से दोनों देशो के सपर्क की पुष्टि होती है । दक्षिण-भारत का रोम साम्राज्य के साथ व्यापार संबंध बहुत बढा । दोनों का आपसी सबध यहाँ तक हो गया कि दक्षिण के महानगरों की मडियों में रोमन सिक्के चलने लगे और वहाँ रोमन बस्तियाँ स्थापित हो गयी । ये दोनों कथन दक्षिण-भारत में गडे हुए रोमन सिक्कों की प्राप्ति से पुष्ट होते हैं । रोम के साथ दक्षिण-भारत का व्यापार सबध लगभग दूसरी शती ई० पू० से प्रारंभ हुआ और प्रथम शताब्दी में सम्राट नीरो के शासन-काल तक निरंतर चलता रहा । नीरो की मृत्यु के बाद व्यापार सबंध शिथिल पड गये किंतु बेजेंटाइन सम्राटों के शासन-काल में वह पुनर्जीवित हो गया । दक्षिण के तमिल राज्य के व्यापारी वाणिज्य

व्यापार के लिए सिंहल द्वीप (लंका) जाते थे और वहाँ बसे भी थे। आज भी लंका में तमिल लोग काफी सख्या में है। विजयबाहु नामक लंका के एक राजा ने एक पांडय राजकन्या से विवाह किया था, जिसमें पांड्य राजा ने दहेज में विजयबाहु को सोना, चाँदी, हाथी, घोड़े आदि दिया था, जिसे जहाजों में लाद-कर लंका ले जाया गया था। तमिल साहित्य से विदित होता है कि दक्षिण भारत के दोनों तटो पर कई बदरगाह थे जिनमे स्वदेशी और विदेशी जहाज आकर ठह-रते थे। इस विदेशी व्यापार से भारतीयों की समृद्धि बढी और वास्तव में गुप्त-काल को स्वर्णयुग बनाने मे इस समृद्धि का ही मुख्य योगदान रहा।

●

परिशिष्ट दो

प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति

सभ्यता, संस्कृति और राष्ट्रीय विकास के लिए शिक्षा अनिवार्य है। भारत से प्राचीन काल से शिक्षा के महत्त्व पर बल दिया गया है। यद्यपि राज्य द्वारा अनिवार्य नि:शुल्क शिक्षा का प्रबंध न था, फिर भी शिक्षा का अत्यधिक प्रसार हुआ।

वैदिक काल में आचार्य के घर ही विद्यालय होते थे। ग्रंथों को कंठस्थ करने की प्रथा थी। प्रवचन और उच्चारण पर विशेष बल दिया जाता था। आर्यों मे उपनयन संस्कार के पश्चात् शिक्षा लगभग अनिवार्य थी। ब्रह्मचर्य प्रणाली प्रचलित थी। उपनयन संस्कार के द्वारा आचार्य ब्रह्मचारी को दीक्षित करता था। सायण की व्याख्या के अनुसार उपनयन के द्वारा ब्रह्मचारी को नया विद्यामय जीवन प्राप्त होता है, जो माता पिता से प्राप्त स्थूल शरीर से भिन्न था। शिष्य इस जीवन में मृगचर्म, मुंज की मेखला और लंबे बाल धारण करता था। वह प्रात और साय अग्निहोम के लिए समिधा एकत्र कर अग्नि की उपासना द्वारा तेजस्वी बनता था। भिक्षार्जन भी उसका कर्तव्य था। इस प्रकार उसका जीवन नियमों से जकडा था। उसके लिए इंद्रियनिग्रह और तप आवश्यक था। ब्रह्मचारी आचार्य को दक्षिणा भी देता था। विद्यार्थी अपना अध्ययन पूर्ण कर लेने के बाद 'स्नातक' कहलाता था। जो जीवन पर्यन्त ब्रह्मचारी रहकर अध्ययनरत रहते थे वे 'नैष्ठिक' कहलाते थे। बौद्धों ने शिक्षा के लिए गुरुकुलों के अतिरिक्त महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों का प्रबंध किया। शिक्षा सशुल्क और नि:शुल्क दोनों प्रकार की दी जाती थी।

शिक्षा के उद्देश्य

डा० अनंत सदाशिव अल्तेकर के अनुसार व्यापक अर्थ में शिक्षा का अभिप्राय आत्म संशोधन एवं आत्म विकास की प्रवृत्ति है और संकुचित अर्थ में शिक्षा का अभिप्राय शिक्षण अवधि में विद्यार्थी का प्रशिक्षण है। शिक्षा का प्रथम उद्देश्य चरित्र-निर्माण था। विदेशी यात्री मेगस्थनीज तथा ह्वेनसांग आदि ने भारतीय चरित्र की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। भारतीय शिक्षा का दूसरा उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास था, जो आश्रमों में रहकर शारीरिक एवं मानसिक विकास करके किया जाता था। बालक में आत्माभिमान एवं आत्मविश्वास

की भावना पर बल दिया जाता था। यही से नियन्त्रण की भावना पर बल पडता था। तीसरा उद्देश्य विद्यार्थी में कर्तव्य एव उत्तरदायित्व की भावना जाग्रत करके नागरिक और सामाजिक अधिकारो एव कर्तव्यो का ज्ञान कराना था। इस प्रकार उसे लोक-कल्याण के लिए नि स्वार्थ त्यागपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए शिक्षा प्रदान की जाती थी। चौथा उद्देश्य साहित्य एवं सस्कृति की अभि-वृद्धि करना था। प्राचीन काल मे मुद्रणालयों के अभाव में प्राय शिक्षा कठाग्र होती थी। सस्कृति के मूल तत्त्वो को स्मरण कर सरक्षित कर भावी पीढियों को प्रदान करना विद्यार्थी का परम कर्तव्य था। जिससे ऋषि ऋण से उऋण हो सके।

शिक्षा के सिद्धात

शिक्षा का प्रथम सिद्धात था ज्ञान मे विशिष्टता प्रतिपादित करना। ज्ञान के संरक्षण का दूसरा उपाय शिक्षा मे विशेषज्ञता लाने का प्रयास करना था, जिससे परंपरा पूर्णता मे बनी रहे। इसके लिए प्रत्येक विद्यार्थी को एक समय एक विषय मे उच्च शिक्षा दी जाती थी। ब्रह्मचर्य का पालन शिक्षा का तीसरा सिद्धात था। यह विचार और क्रिया दोनो से ही पालन करना अपेक्षित था। इसीलिये विद्याध्ययन की अवधि को ब्रह्मचर्याश्रम की सज्ञा प्रदान की गयी है।

प्राचीन काल मे विद्याध्ययन की अवधि की समाप्ति पर विद्यार्थी का अध्ययन समाप्त नही होता था। यजुर्वेद मे कहा गया है कि पढे हुए पाठ को भूलना जघन्य अपराध है। अत समावर्तन समारोह के अवसर पर विद्यार्थी अपने अर्जित ज्ञान को गुरु के समक्ष रखता था। आजन्म अध्ययन करना ब्राह्मण का लक्षण माना गया है।

प्राचीन शिक्षा का आधार सहयोग था। सभी विद्यार्थी एक कुल के रूप में रहते थे। कुल का प्रत्येक विद्यार्थी अपनी नीची कक्षा के विद्यार्थी के लिए एक तरह से गुरु होता था। इसीलिए उस कुल को 'गुरुकुल' की सज्ञा दी गयी है। सेवावृत्ति, स्वावलबन, समानता की भावना, इद्रियनिग्रह एव सादा जीवन और उच्च विचार गुरुकुल जीवन की विशेषताएं थी।

गुरु-शिष्य-सबंध

गुरु-शिष्य का सबध पिता-पुत्र का माना गया है। अध्यापक को माता-पिता के समकक्ष 'अति गुरु' की सज्ञा से विभूषित किया गया है क्योंकि आध्यात्मिक विकास का दायित्व केवल अध्यापक पर ही रहता था। इसीलिए गुरु को 'आध्यामिक पिता' माना गया है। विद्यार्थी अपने गुरु के घर में उसके परिवार के सदस्य के रूप में रहकर विद्याध्ययन करता था। गुरु विद्यार्थी को पुत्रवत् समझकर उसका पालन पोषण कर समुचित शिक्षा देता था। गुरु शिष्य के

अध्ययन के अतिरिक्त खानपान, वस्त्र, चिकित्सा आदि का ध्यान रखता था और शिष्य पुत्र, दास एवं प्रार्थी की भाँति गुरु की सेवा करते थे। राजा, माता-पिता और देवता की भांति गुरु का सम्मान एवं आदर करना शिष्य के लिए अपेक्षित था। गुरु की व्यक्तिगत सेवा करना विद्यार्थी का प्रमुख कर्तव्य था। समावर्तन के बाद भी गुरु और शिष्य के संबंध में घनिष्ठ बने रहते थे। विद्यार्थी की मुक्ति के लिये मार्ग-दर्शन गुरु पर निर्भर रहता था।

शिक्षा के विषय

वैदिक काल में वेद, पुराण, व्याकरण, ज्योतिष, छंद, दर्शन कला आदि का अध्ययन किया जाता था। प्राचीन भारतीय विद्या को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—पराविद्या और अपरा विद्या। परा विद्या में आत्मा एवं परमात्मा का ज्ञान होता था और अन्य लौकिक विद्याओं का ज्ञान अपरा विद्या के अतर्गत आता था। गुरुकुलो में दोनो प्रकार की विद्याओं की शिक्षा सुलभ थी। शिक्षा प्राय वर्ण एवं व्यवसाय के अनुसार दी जाती थी—यथा ब्राह्मणों को धर्म, क्षत्रियों को धनुर्विद्या, युद्ध विद्या, राजनीति, वैश्यों को वाणिज्य एवं कृषि तथा शूद्रों को हस्तकार्यों आदि की शिक्षा दी जाती थी।

जातक साहित्य से ज्ञात होता है कि बौद्ध काल में ब्राह्मण और क्षत्रिय वेदों और अठारह शिल्पो (धनुर्विद्या, शिल्प विद्या, गणित, खेती, जादू, वाणिज्य, पशु-पालन आदि) का अध्ययन करते थे। ज्योतिष, साहित्य, दर्शन, चिकित्सा, धर्म-शास्त्र, पूर्ति, भवन एव पोत विद्या में अध्ययन में पर्याप्त प्रगति हुई थी। लौकिक विषयों का अध्ययन लोकप्रिय हो रहा था। महान् कलाकार अपने पुत्र और कुछ शिष्यो को अपने ही साथ रखकर कला की शिक्षा देते थे। ललित कलाओ की भी शिक्षा दी जाती थी।

शिक्षा का संगठन

प्राचीन काल से ही नियमित, व्यवस्थित एवं क्रमिक शिक्षा संगठन का अभाव था। इसका मुख्य कारण यह था कि शिक्षा राज्य की ओर से न होकर व्यक्ति-गत रूप से दी जाती थी। बौद्ध काल में विश्वविद्यालयों की स्थापना होने पर कुछ राजाओं ने शिक्षा में अपना योगदान दिया। फलस्वरूप शिक्षा का सगठन कुछ व्यवस्थित हुआ। गुरुकुल के स्थान मठ और मंदिर से संलग्न विद्यालयों ने ले लिये थे। कालांतर में विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। इस प्रकार बौद्धों ने शिक्षा में संगठन लाने का प्रयास किया गया।

परिवार शिक्षा की प्रौढ़ एव प्रारंभिक सस्था थी। बाल-शिक्षा का श्रीगणेश परिवार से ही हुआ। अक्षर-ज्ञान, उच्चारण, मंत्रों का स्मरण करना, लिखने का अभ्यास और व्याकरण का ज्ञान परिवार से ही होता था। विभिन्न वैदिक शाखा

के पंडित अपना पृथक्-पृथक् संगठन बनाते थे जो शाखा, चरण, परिषद् आदि नामों से प्रख्यात थे। ये व्यक्तिगत योग्यता के अनुसार शिक्षा देते थे। इनका स्वरूप सदा व्यक्तिगत इकाई का ही होता था। जिनमें अध्यापकों की संख्या अधिक होती थी तो वह स्थान वाराणसी और तक्षशिला की भांति शिक्षा केंद्र के रूप विख्यात हो जाता था। इसके बाद मठों का स्थान शिक्षा संस्था के रूप में आता है। प्रारंभ में केवल बौद्ध धर्मावलबी भिक्षु भिक्षुणी ही इनमें अध्ययन कर सकते थे किंतु बाद में इनके द्वार सभी के लिए खुल गये। बाद मे इन्हे अधिक सगठित किया गया फलतः वे विश्वविद्यालय के रूप में प्रख्यात हुए। मंदिरों का निर्माण मठों के बाद हुआ। मठों के आधार पर मदिरो में वैदिक साहित्य की शिक्षा व्यवस्था की गयी। भारतीय अभिलेखो मे मदिर-विद्यालयो का उल्लेख प्रचुर मात्रा में मिलता है। मदिरो के विद्यालयो की आतरिक व्यवस्था पुरोहित और बाह्य व्यवस्था समिति करती थी। कालातर में इन्ही में से कुछ मठो एव मंदिरों के विद्यालयो, और कुछ जैसे विक्रमशिला, बलभी, नालदा ने तो विश्व-विद्यालयों का रूप धारण कर लिया। इनकी व्यवस्था मठाधीश करता था, जिसकी सहायता के लिए प्रशासकीय एव व्यवस्थापिका समितिया होती थी, जो प्रवेश अध्यापकों आदि के सबंध में ध्यान रखती थी। परीक्षा, पुस्तकालय तथा पुस्तक लेखन का कार्य भी इसके अधीन था। प्रशासकीय समिति, प्रशासन, एव आर्थिक सगठन (भवन, भोजन, वस्त्र, उपचार, निवास स्थान, धर्म प्रसार आदि) के लिये उत्तरदायी थी। विश्वविद्यालयों मे पुस्तकालय, सामूहिक सभा-भवन और कक्षाए आदि होती थी। नालंदा विश्वविद्यालय में एक तिमजिला भव्य पुस्तकालय था, जिसमें असंख्य हस्तलिखित ग्रथ थे।

पाठ्य पद्धति

प्राचीन भारतीय मौखिक पाठ्य पद्धति का उल्लेख करते हुए कौटिल्य ने लिखा है कि शिष्य गुरु की सुश्रूषा करे और गुरुमुख से पाठ श्रवण करे और फिर श्रवण करके उसे ग्रहण कर धारण करे। विषय को कठस्थ करने पर अधिक बल दिया जाता था, क्योंकि अधिकाश वैदिक साहित्य लिपिबद्ध न था। काला-तर मे हस्तलिखित ग्रथों को तैयार किया गया।

विद्यार्थियों पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान दिया जाता था। अध्यापक प्रत्येक विद्यार्थी को पृथक्-पृथक् पाठ पढाता था और पाठ सुनता था। चीनी हुएनसाग ने इस शिक्षा-प्रणाली को श्रेष्ठ बताया है। शिक्षा प्रश्न और वार्तालाप की प्रणाली से भी दी जाती थी। गुरुजन् विद्यार्थियों के साथ वाद-विवाद करके ज्ञानार्जन कराते थे। सार्वजनिक रूप से शास्त्रार्थ भी होते थे। इससे विद्यार्थियों में विचार एवं विश्लेषण की प्रवृत्ति का विकास होता था। फलतः उनमें चिंतन,

मनन की प्रवृत्तिया प्रस्फुटित होती थी और उनको वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि होती थी।

नारी शिक्षा

वैदिक काल में पुरुषों के समान नारियों को भी शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था। भवभूति कृत **उत्तररामचरित** में कन्या गुरुकुल का उल्लेख है। वात्स्यायन के **कामसूत्र** से पता चलता है कि कन्याएं अन्य विषयों के साथ-साथ ललित कलाओं की शिक्षा प्राप्त करती थी। बालिकाओं का विधिवत उपनयन संस्कार होता था। घोषा और लोपामुद्रा वैदिक काल की ऐसी विदुषी थी जिन्होंने ऋचाओं की रचना की थी। परवर्ती काल मे भी नारी शिक्षा का महत्त्व बना रहा, किंतु उन्हे वैदिक साहित्य के अध्ययन से वंचित कर दिया गया था और उनका अध्ययन लौकिक साहित्य तक ही सीमित कर दिया गया था। गुप्त काल तक आते-आते वे उपनयन सस्कार से भी वंचित कर दी गयी थी। शास्त्रीय शिक्षा के अतिरिक्त वे अन्य विद्याओं की शिक्षा भी ग्रहण करती थी। वात्स्यायन ने चौसठ अंग विद्याओ (पहेली, मंत्रपाठ, छंदपूर्ति, शब्द छंद का ज्ञान आदि) को उनके लिए उपयुक्त बताया है। सम्राट परियों और पेशेवर स्त्रियों को नृत्य, संगीत, चित्रकला, गृहसज्जा की शिक्षा उपलब्ध थी। **मालविकाग्निमित्र** में मालविका के गणदास से नृत्य और संगीत सीखने का उल्लेख है। **अमरकोश** में उल्लिखित 'उपाध्याया', 'आचार्या' आदि शब्दों से पता चलता है कि स्त्रियाँ शिक्षिका का भी कार्य करती थी। नारी शिक्षा का लक्ष्य उन्हें उत्तम गृहणी तथा श्रेष्ठ माता बनाना था।

विशिष्ट शिक्षण संस्थाएँ

बौद्धों ने बौद्ध विहारों में सुसगठित शिक्षण संस्थाओं का उत्कर्ष हुआ परिणामत नालंदा और विक्रमशिला सरीखे विश्वविद्यालयो का प्रादुर्भाव हुआ। हिंदू मंदिरो मे भी शिक्षण कार्यों का श्रीगणेश हुआ। कन्नौज, मिथिला, उज्जैनी, तक्षशिला, वाराणसी आदि प्रमुख शिक्षा केंद्र हो गये।

नालंदा

नालंदा पटना से दक्षिण की ओर लगभग पचास मील की दूरी पर स्थित है। यह बौद्धधर्म का केंद्र था। भगवान बुद्ध के प्रमुख शिष्य सारिपुत्र का जन्म यहीं पर हुआ था। 450 ई० में शिक्षा केंद्र के रूप में इसका उदय हुआ था। कुमारगुप्त ने यहाँ एक विहार की स्थापना की थी और दान देकर इस विश्वविद्यालय की नीव डाली थी।

उत्खनन से पता चला है कि नालंदा विश्वविद्यालय का क्षेत्र लगभग एक मील लंबा और आधा मील चौड़ा था। मुख्य विद्यालय से संबद्ध सात विशाल

व्याख्यान मंदिर और अध्यापन के लिए तीन सौ छोटे-छोटे कक्ष थे। इसके चारों ओर एक परिखा थी। विद्यार्थियों के निवास के लिए पृथक कक्ष थे, जहाँ अध्ययन एवं निवास की सुविधाएँ उपलब्ध थी। इस विश्वविद्यालय में लगभग बारह मीटर ऊँचा एक भव्य बौद्ध मंदिर था, जिसमें लगभग चौबीस मीटर ऊँची विशाल बौद्ध प्रतिमा थी। चीनी यात्री हुएनसांग ने उसे देखा था। नालंदा में एक विशाल पुस्तकालय भी था। नालंदा विश्वविद्यालय में लगभग दस हजार विद्यार्थी अध्ययन करते थे और एक हजार अध्यापक अध्यापन करते थे। विदेशों से अनेक विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने के लिए यहाँ आते थे। विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। इत्सिंग के अनुसार विश्वविद्यालय का व्यय उसे दान में प्राप्त दो सौ से अधिक ग्रामों की आय से होता था। इसके अतिरिक्त सम्राट् और संपन्न लोग भी दान देते थे।

विक्रमशिला

भागलपुर (बिहार) से चौबीस मील दूर पथरघाटा स्थान पर पालवंश के राजा धर्मपाल ने आठवीं शताब्दी में विक्रमशिला विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। यहाँ भारतीय और विदेशी विद्यार्थी पढ़ते थे। जिनके भोजन एवं वस्त्रादि की व्यवस्था विश्वविद्यालय की ओर से होती थी। तिब्बत में बौद्ध धर्म एवं संस्कृति के प्रचार का श्रेय यहाँ के भिक्षुओं को ही है। विक्रमशिला के विद्वानों में सर्वाधिक प्रख्यात दीपंकर श्रीज्ञान (11वीं शती) थे।

बारहवीं शताब्दी में तीन हजार भिक्षु यहाँ अध्ययन करते थे। यहाँ व्याकरण, न्याय, तंत्र, धर्म और दर्शन आदि पढ़ाये जाते थे। स्नातकों के समावर्तन के अवसर पर बंगाल के पाल राजा कुलपति की हैसियत से विद्यार्थियों को उपाधियाँ और प्रमाणपत्र वितरित करते थे। तेरहवीं शताब्दी के प्रारंभ में बख्तियार खिलजी ने विश्वविद्यालय को दुर्ग के भ्रम में नष्ट कर डाला था। **तबाकत-ए-नासिरी** में इस विध्वंस का विस्तृत वर्णन है।

तक्षशिला

तक्षशिला रावलपिंडी (अब पाकिस्तान में) से पश्चिम बीस मील की दूरी पर स्थित था। अनुश्रुति है कि राम के अनुज भरत के कनिष्ठ पुत्र तक्ष ने तक्षशिला की नींव डाली थी और इसका प्रथम शासक था। ईसा पूर्व छठी शताब्दी के लगभग से ही यह स्थान शिक्षा का केंद्र हो गया। जातक साहित्य से पता चलता है कि काशी के युवराजों की शिक्षा दीक्षा यहीं हुई थी। कोसल के राजा प्रसेनजित, प्रख्यात राजवैद्य जीवक, पाणिनि और कौटिल्य ने यहीं शिक्षा प्राप्त की थी। भारत के दूरस्थ प्रांतों तथा विदेशों से विद्यार्थी यहाँ शिक्षा ग्रहण करने के लिए आया करते थे।

शिक्षा के इस प्रख्यात केंद्र में एक-एक आचार्य के पास सौ-सौ छात्र तक विद्याध्ययन करते थे। यह उच्च शिक्षा सोलह वर्ष की आयु से ही दी जाती थी जो आठ वर्ष तक चलती थी। निर्धन छात्र दिन में काम करके और भिक्षार्जन करके रात्रि मे पढते थे। गुरु व्यक्तिगत रूप से प्रत्येक विद्यार्थी की ओर ध्यान देता था। यहाँ धार्मिक, साहित्यिक तथा लौकिक शिक्षा का प्रबध था, जिनमें वेद और शिल्प विधाएँ प्रमुख थे। इसके अतिरिक्त शल्य विद्या, चिकित्सा, हस्त-विद्या, धनुर्विद्या और व्याकरण के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाता था। प्रत्येक आचार्य का अपना पाठ्यक्रम निश्चित था। शिक्षा समापन के उपरात छात्र क्रियात्मक अध्ययन तथा पर्यटन करते थे। पाचवी शताब्दी के प्रारभ में में चीनी यात्री फाहियान और सातवी शताब्दी में हुएनसाग यहाँ आये थे। उन्होंने तक्षशिला का वर्णन किया है। सीमात प्रदेश होने के कारण तक्षशिला को अनेक विदेशी आक्रमणो का सामना करना पडा।

काशी

सातवीं शताब्दी ईसा पूर्व से भारतीय धर्म, संस्कृति एव शिक्षा का ख्याति प्राप्त केंद्र था। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में काशी संभवतः विद्या का प्रमुख केंद्र था। भगवान बुद्ध ने अपने धर्म को सर्वप्रथम यही से प्रारभ किया। अशोक के सरक्षण में सारनाथ का बौद्ध विहार शिक्षा का भी प्रसिद्ध केंद्र रहा होगा। चीनी यात्री हुएनसाग के अनुसार काशी मे डेढ हजार भिक्षु शिक्षा ग्रहण करते थे और बौद्ध विहार शिक्षा का प्रख्यात केंद्र था। बारहवी शताब्दी तक बौद्ध विद्या के केंद्र और तीर्थ के रूप में इसकी ख्याति बनी रही। **भविष्य पुराण** मे इसके हिंदू शिक्षा के विख्यात केंद्र होने का विवरण मिलता है। यहाँ पर कोई संगठित शिक्षण संस्था न थी। यहाँ के ब्राह्मण अपनी स्वतंत्र पाठशालाएँ चलाते थे।

वलभी

वलभी काठियावाड में स्थित था। सातवी शताब्दी में यह मैत्रकों की राजधानी था। यह अतर्राष्ट्रीय व्यापार का प्रमुख केंद्र था। व्यापार से अधिक यह विद्या के केंद्र (विश्वविद्यालय) के रूप में प्रसिद्ध था। इत्सिंग के अनुसार वलभी शिक्षा के क्षेत्र में नालंदा विश्वविद्यालय की समता करता था। सातवी शताब्दी में यहाँ 100 विहार थे, जिनमें 6000 भिक्षु अध्ययन करते थे। स्थिरमति और गुणमति यहाँ के प्रसिद्ध विद्वान् थे। यहाँ गगा की घाटी के ब्राह्मणों के पुत्र पढ़ने आते थे। यह धार्मिक उदारता एव बौद्धिक स्वतंत्रता के लिए प्रख्यात था। यहाँ कानून, गणित, अर्थशास्त्र और साहित्य की उच्च शिक्षा दी जाती थी। धनिको और मैत्रक राजाओ ने इसे आर्थिक सहयोग दिया था।

●

परिशिष्ट तीन

सांची के महास्तूप का उद्भव और विकास

स्तूप का उद्गम[1]

जब भगवान् गौतम बुद्ध अपने अंतिम क्षणो मे रोग शैया पर पडे हुए थे, तब उनके पास बैठे रुदन करते हुए भिक्षुगण यह जानना चाहते थे, कि भगवान की मृत्युपरात बौद्ध सघ उनका अंतिम सस्कार किस प्रकार करे ? भगवान बुद्ध ने उत्तर दिया 'आनंद' जैसे राजचक्रवर्ती का होता है । परिणामत दाह-सस्कार के उपरात अस्थियों के ऊपर स्मारक के रूप मे पत्थरो का एक स्तूपाकार ढेर निर्मित किया गया । बौद्ध स्तूप के उद्भव के विषय की यही गाथा है ।

बुद्ध की मृत्यु पर उनकी अस्थियो के प्रश्न को लेकर झगडा हुआ था और उन्हे आठ भागो में विभक्त कर दिया गया। अनुश्रुति है कि अशोक ने उन आठ मूल स्तूपों की अस्थियो को निकालकर उन्हे चौरासी हजार स्तूपों मे सुरक्षित कराया था, जो उसका साम्राज्य मे बिखरे पडे थे । साची के स्तूप का मूल तो अशोक-कालीन है किंतु जिस स्वरूप का आज हम दर्शन करते है वह मुख्यत शु गकाल मे किये गये परिवर्तन और परिवर्द्धन का फल है ।

मौर्यकाल में स्तूप का मूलरूप बहुत ही साधारण था । मूल स्तूप ईंटो द्वारा निर्मित था । इसमें $16 \times 10 \times 3$ इच आकार की ईटों का प्रयोग हुआ है । अड का व्यास सत्तर फुट था और यह 35 फुट ऊँचा था । अड के बीचोबीच में बुद्ध की अस्थियों को रखने के लिए स्थान छोड दिया गया था, जिसमें उन्हे रखा गया था, और जिसके सूचक के रूप में आदरभाव के लिए चोटी पर एक छत्र लगाया गया । अंड के नीचे की ओर परिक्रमा करने के लिए प्रदक्षिणापथ बना हुआ था, जिसके चारों ओर (चार द्वारो के स्थान को छोड कर) काष्ठ की वेदिका लगी हुई थी । यह साची के स्तूप का मौर्यकालीन स्वरूप था ।

ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के मध्य में शासन सूत्र ब्राह्मण धर्मावलंबी शु गों के हाथ में था, किंतु बौद्ध कला के उत्थान में बाधा नही पडी । इस काल में मौर्यकालीन महास्तूप का जीर्णोद्धार हुआ, जिसके संवर्द्ध न में प्रमुख परिवर्तन ये हैं : ईटों के मूल स्तूप पर पत्थर की शिलाओ आवरण (आच्छादन) किया

1. 'थूप' शब्द 'स्तूप' (अंग्रेजी 'टोप') का प्राकृत रूप है । बर्मा (ब्रह्मा) में स्तूप को पगोडा, लंका (सिंहल) में डगोबा और नैपाल में चैत्य कहते हैं ।

गया, दूसरे, दोहरे सोपान मार्ग से युक्त मेधि की योजना की गयी। तीसरे, स्तूप के चारों ओर मूल में तथा पीठ पर दो वेदिकाएं निर्मित हुई थीं। चौथे, वेष्टिनी युक्त सोपान मार्ग बने। पांचवें, पक्के फर्श के दो प्रदक्षिणापथ बने, एक भूमि तल पर और दूसरा मेधि पर, जहा सोपान पर होकर जाया जाता था। छठे, चौपहल मजूषा के आकार की हर्मिका थी। सातवें वैदिका से परिवृत्त छत्रावली निर्मित थी।

इस पुर्ननिर्माण कार्य में बलुए पत्थर का प्रयोग किया जाता गया था। इस प्रकार शु ग काल में स्तूप का आकार 120 फुट व्यास और 54 फुट ऊंचा हो गया। पुर्ननिर्माण के दौरान स्तूप के अड और मेधि पर दो से पांच इंच मोटा प्लास्टर का लेप चढाया गया था। इस लेप के कुछ अंश अब भी अंड पर दिखायी देते है। सभवत प्लास्टर की इस मोटी तह पर इसी मसाले का एक और हल्का स्तर चढाकर जीर्णोद्धार के कार्य को पूर्ण किया गया था।

वेदिका (रेलिंग) लघु स्तंभों और सूचियों से निर्मित है। लघु स्तंभों को समान अतर पर गाडकर और उनके दोनों पार्श्वों में छेद करके उनमें चूलों वाली सूचियो को जोडा गया है। वेदिका (रेलिंग) के दूसरे सिरे पर भारी सिरदल (उष्णीष) रखे गये है। बीच के बाहरी मार्गों और सीढ़ियों की वेष्ठनियों पर एक साबुत और अर्द्ध फुल्ले कोरे गये है और इनके बीच पुष्प तथा पशु अभिप्राय बनाये गये है। इसके विपरीत स्तूप की सबसे नीचे वाली वेदिका तथा ऊपर हर्मिका की वेदिका बिल्कुल सादी है। मूल में जो वेदिका निर्मित है वह तोरण द्वारों के कारण चार भागों में विभक्त है।

पत्थर की वास्तुकला में काष्ठ की वास्तुकला की रूढ़ियों का प्रयोग बताता है कि इस वस्तु के निर्माणकर्ता शिल्पियों ने पत्थर जैसे कठिन द्रव्य में अपना कलाकौशल सफलतापूर्वक प्रदर्शित किया है। वेदिकाओं और फर्शों का निर्माण अनेक बौद्ध धर्मियो के उदार दान और सहयोग का फल है। इन दाताओं के नाम वेदिकाओं और फर्श पर अंकित है। यह सांची के महास्तूप का शुंगकालीन स्वरूप है।

उत्कीर्ण अलंकरणों युक्त चार तोरण द्वारों का निर्माण ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में सातवाहन राजाओं के शासन काल में संपन्न हुआ। इसकी पुष्टि दक्षिणी तोरण द्वार की सबसे ऊपर वाली बडेरी पर उत्कीर्ण लेख से होता है। इस लेख के अनुसार यह तोरण द्वार राजा शातकर्णि के शिल्पियों के अग्रणी आनद की भेंट थी। शातकर्णि सातवाहन वंश के प्रारंभिक राजाओं में से थे। तोरणद्वारों पर उत्कीर्ण अलंकरण अभिप्राय पांच वर्गों में विभक्त किये जा सकते हैं; यथा जातक कथाओं के व्यंजक दृश्य, गौतम बुद्ध की जीवन की घटनाए, बौद्ध धर्म के

उत्तरकालीन इतिहास की घटनाएं, मानुषी बुद्धों के विषय में दृश्य, विविध दृश्य और अलकरण अभिप्राय ।

प्राय पाच शताब्दियों के बाद गुप्त सम्राटो के शासन काल में तोरण द्वारों के सामने स्तूप की दीवारो मे निर्मित स्तभों वाली छतरी के नीचे बुद्ध की आसीन मूर्तियों की स्थापना की गयी । ये बुद्ध मूर्तिया ध्यान मुद्रा मे बैठी हैं । इनके प्रभा मडल सज्जायुक्त है । प्रत्येक बुद्ध मूर्ति के दोनो पार्श्वों में एक-एक परिचारक हैं ।

परिशिष्ट चार

हिंदी भाषा एवं साहित्य का विकास

(वीरगाथा काल से भक्ति काल तक)

सल्तनत काल के पूर्व हिंदी भाषा की उत्पत्ति हो चुकी थी[1] और उसके साहित्य के विकास का श्रीगणेश हो चुका था। तुर्की आक्रमण के समय वीरता-पूर्ण एवं ओजस्वी गाथाओं की रचना हुई, जो प्रबंध काव्य, पृथ्वीराज रासो (चदवरदाई कृत) और वीरता पूर्ण गीतों, वीसलदेवरासो (कवि नरपति नाल्ह कृत) के रूप में उपलब्ध है। इस काल को हिंदी साहित्य के काल में वीरगाथा काल कहा गया है। इस काल के अन्य कवियों भट्ट केदार, मधुकर और जगनिक आदि के नाम महत्त्वपूर्ण हैं।[2] साहित्यिक गतिविधियों का मुख्य केंद्र राजस्थान रहा। प्रारंभिक साहित्य भाट-चारणो के गीतों तथा धर्म से संबंधित है। हिंदी के इस प्रारंभिक स्वरूप को 'डिंगल' एव 'पिंगल' नाम से पुकारते हैं। इस समय जैन साहित्य 'अपभ्रंश' में लिखा गया। इसने भी हिंदी साहित्य के विकास मे योग दिया।[4]

मुहम्मद गोरी की विजय और भारत में तुर्क शासन की स्थापना के बाद अनेक विदेशी भारत मे आकर बस गये और अपने को भारतीय मानने लगे। इनमें अमीर खुसरो का नाम अग्रगण्य है।[5] खुसरो के पिता तुर्क थे और नासिरुद्दीन महमूद के काल में भारत आकर बस गये थे। खुसरो का जन्म पटियाली ग्राम (जिला एटा) में 1253 ई० में हुआ था। खुसरो ने फारसी के अतिरिक्त उर्दू मे भी रचनाए की थी। इन्होने अधिकाशत: खड़ी बोली और ब्रज भाषा का प्रयोग किया है।[6] इनकी कृतियों में पहेलिया, गीत, दोहे, मुकरिया, दो सुखन (एक पद फारसी और दूसरा उर्दू में) विशेष उल्लेखनीय हैं।[7] सूफी संतों

---

1 अधिकाश विद्वानों का मत है कि हिंदी भाषा का आविर्भाव सातवी और दसवी शताब्दी के बीच हुआ।

2. डॉ० रामचंद्र शुक्ल कृत हिंदी साहित्य का इतिहास।

3. वही।

4. हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग : डॉ० नामवरसिंह।

5 खुसरो अपने को हिंदुस्तानी तुर्क तथा हिंदुस्तानी तोता कहा करते थे।

6. रामचंद्र शुक्ल, वही, पृ० 56।

7. खुसरो की पहेलियां :

में भी अपने उपदेशों को जनप्रिय बनाने के लिए हिंदी भाषा के शब्दों का प्रयोग किया है।

भक्ति आंदोलन के संतों एवं समाज सुधारकों ने हिंदू धर्मावलंबियों पर इस्लाम के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के प्रयास मे भक्ति मार्ग का सहारा लिया। हिंदी साहित्य के इतिहास में इस काल (वीर गाथा काल के अंत से 1643 ई० तक) को भक्ति-काल कहा गया। भक्ति आदोलन के संतो ने अपने उपदेशों एव यात्राओं के द्वारा हिंदी का प्रचार एव प्रसार किया। भक्ति आदोलन के सतों ने भक्ति के दो रूपों को ग्रहण िया—निर्गुण और सगुण रूप। निर्गुण भक्ति के सत्तों ने एकेश्वरवाद पर बल देकर ज्ञान अथवा प्रेम का आश्रय लिया। अत' निर्गुण भक्ति की दो शाखाए हुई–ज्ञा ाश्रयी और प्रेमाश्रयी। सगुणोपासक भक्तो ने इष्टदेव की भक्ति पर बल दिया। इसमे कुछ ने राम को और कुछ ने कृष्ण को अपना आराध्य देव माना। अत सगुण शाखा की दो प्रशाखाओ—राम-भक्ति शाखा और कृष्ण भक्ति शाखा का उदय हुआ।

निर्गुण शाखा

ज्ञानाश्रयी धारा

इस शाखा के सतो ने निर्गुणोपासना के साथ-साथ ज्ञान पर बल दिया और कहा कि ज्ञान के द्वारा ही चरम लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। ज्ञानाश्रयी संतों में कबीर, नानक, दादूदयाल, रविदास, मलूकदास आदि है।

कबीर

कबीर के जन्म एवं जाति के विषय मे अनेक मत है। सामान्यत' माना जाता है कि कबीर को नीरू नामक जुलाहे ने पाला था। इनका जन्म जेठी सुदी पूर्णिमा विक्रम सवत् 1455 (1399 ई०) मे हुआ था। बाल्यकाल से ही वे भक्ति में रुचि रखते थे। अतत' रामानद का शिष्यत्व ग्रहण किया।[1] संभवत. उन्होने शेख तकी से भी दीक्षा ली थी।[2] वे अपढ़ थे।[3] फिर भी अत्यत ज्ञानी थे। शिक्षाएं एवं भक्ति दर्शन जनमास के लिए अमूल्य निधि है। उनके भक्ति

एक थाल मोती से भरा, सबके सिर पर औंधा पडा।
चारों ओर थाली फिरे, मोती उससे एक न गिरे॥
खुसरो के दोहे 'उज्जवल बरन, अधीन तन, एक चित्त दो ध्यान।
देखत मे तो साफ है निपट पाप की खान॥'

1 काशी में हम प्रगट भये है रामानद चेताये।

2 मानिकपुर हि कबीर बसेरी। मदहति सुन शेख तकि केरी।

3. मसि कागद छूयो नही कलम गह्यो नहिं हाथ।

दर्शन पर सूफीवाद का प्रभाव था ।[1]

कबीर[2] की रचनाओं में सिद्धांत एवं भाव का प्राधान्य है । उसमें साहित्य-सौंदर्य का उतना प्राधान्य नहीं है, जितना एक महान् संदेश मिलता है । उनकी भाषा सधुक्कड़ी थी । कबीर ने कितनी रचनाएं की, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है क्योंकि वह स्वयं अपनी रचनाओं को लिपिबद्ध न कर सके । उनके लगभग बीस हजार पद उपलब्ध हैं, जो हिंदी साहित्य की अमूल्य निधि हैं । व्यंग्य करने और चुटकी लेने में कबीर का कोई सानी नहीं । हिंदू और मुसलमान दोनों के ही बाह्य आडंबरों पर उन्होंने खूब घात प्रतिघात किये हैं और हिंदू मुस्लिम समन्वय और एकता पर बल दिया ।

नानक

नानक का जन्म 1469 ई०में तालवंडी नामक ग्राम (गुजरांवाला जिला, पंजाब) में हुआ था । उन्होंने बाल्यकाल में अनेक भाषाओं की शिक्षा ग्रहण की थी । वे एकेश्वरवादी थे । उन्होंने जाति-प्रथा, मूर्तिपूजा और बाह्य आडंबरों का खंडन किया और निराकार ईश्वर की भक्ति का प्रचार किया । उनके भजनों में पंजाबी, हिंदी और ब्रज भाषा का प्रयोग है ।[3] गुरु ग्रंथ साहब उनकी महान् कृति है ।

दादूदयाल

इनका जन्म 1544 के अहमदाबाद में हुआ था । इनके भी जन्म के संबंध में अनेक मत हैं । इनको लोदीराम नामक एक गुजराती ब्राह्मण ने पाला था । इन्होंने सतगुरु की महिमा पर विशेष बल दिया है । इनकी भाषा पश्चिमी हिंदी और राजस्थानी का सम्मिश्रण है । इन्होने गुजराती हिंदी और पंजाबी में पद लिखे, जिनमें अरबी और फारसी के शब्दों का प्रयोग किया ।[4] इनके दोहों की बानी में कबीर की साखी का प्रभाव है ।

---

1 'तुर्की धरम बहुत हम खोजा ।'

2. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० 216-17 । तथा देखिये डॉ० ताराचंद कृत इंफ्लुएंस आफ इस्लाम आन इंडियन कल्चर, पृ० 116 ।

3. जो नर दुःख में दुःख नहिं माने । सुख सनेह अरु भय नहिं जाके, कंचन माटी जाने ।।

और

"मृग तृष्णा ज्यों जग रचना, यह देखो हृदे विचार ।
कहु नानक भजु राम नाम नित, जाते होत उधार ।।"

4. "यह मसीत यह देहरा सतगुरु दिया दिखाइ ।
भीतर सेवा बंदगी बाहर काहे जाई ।।"

रविदास

रविदास चर्मकार जाति के थे, जिसे उन्होंने स्वयं स्वीकारा है।[1] ये कबीर के समकालिक थे। ये भी निर्गुणोपासक थे। उन्होंने ऊच-नीच के भेदभाव का विरोध कर समाज में समानता पर बल दिया। इनकी कोई रचना नही मिलती।[2] केवल स्फुट पद मिलते है। इनकी भाषा सरल है। इसीलिए इनके पद गावो में जनप्रिय हो सके।[3]

मलूकदास

इनका जन्म 1574 ई० मे कडा नामक स्थान (इलाहाबाद जिला) मे हुआ था। कहते है कि उनमे चमत्कारी गुण थे और एक बार उन्होंने डूबते हुए सरकारी जहाज को बचा लिया था। इनकी दो रचनाए **रत्नखान** और **ज्ञानबोध** उपलब्ध है। इन्होने सुदर एव सहज भाषा का प्रयोग किया है[4] जिनमे कही-कही अरबी, फारसी शब्दो का प्रयोग हुआ है।

प्रेमाश्रयी शाखा

सूफी सतो ने ईश्वर तक पहुचने के लिए प्रेम का सहारा लिया और प्रिय तथा प्रियतम के रूप मे निर्गुणोपासना की। उनके अनुसार प्रेमी (आशिक) प्रेम के द्वारा ही अपनी प्रेमिका (माशूक) के सन्निकट पहुच कर उसमे विलीन (फना) होकर चरमावस्था (बका) में पहुच सकता है, जहा प्रेमी और प्रेमिका एक हो जाते है। इसे 'अनल हक' (अह ब्रह्मास्मि) कहा गया जो अनत है। इसी सूफीवादी दर्शन पर कुतुबन, मझन, जायसी आदि कवियों ने प्रेम-मय काव्य ग्रंथों की रचना की।

कुतुबन

कुतुबन सूफी सत शेख बुरहान (चिश्तिया शाखा) के शिष्य थे और सुल्तान हुसेन शाह के (जौनपुर) के आश्रित थे। इनका रचित ग्रंथ **मृगावती** हिंदी साहित्य का प्रथम प्रसिद्ध प्रेम काव्य है। इसमें चद्रनगर के राजा गणपति देव के राजकुमार और कचन पुर के राजा रूपमुरारि की पुत्री मृगावती की प्रेम लीलाओं का सुदर वर्णन है। इसमें कवि ने प्रेमी और प्रेमिका के मिलन के मार्ग में त्याग एवं कष्टो का निरूपण कर ईश्वर-प्रेम (इश्क-ए-खुदा) का स्वरूप

---

1 "कह रैदास खलास चमारा।"

2 इन पदो का सग्रह सतबानी सीरीज में उपलब्ध है।

3 कह रैदास मिलै निज दास। जनम-जनम के काटै पास॥"

4 "अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम॥"

प्रस्तुत किया है। यह काव्य ग्रंथ अवधी भाषा में है।[1]

मंझन

मंझन के जीवन के विषय में जानकारी का अभाव है। इनका **मधुमालती** नामक एकमात्र प्रेम काव्य प्राप्त हो सका है, जिसमें कनेसर के राजकुमार मनोहर और महारस की राजकुमारी मधुमालती की प्रेम गाथा है। इसमें जन्म जन्मों से प्रेम की अखंडता दिखाकर कवि ने प्रेमतत्व की व्यापकता और नित्यता प्रदर्शित की है। कवि ने नायक नायिका के प्रेम के द्वारा ईश्वर और साधक के प्रेम के स्वरूप का दिग्दर्शन किया है। इसकी भी भाषा अवधी है।[2]

जायसी

इनका नाम मलिक मोहम्मद था। 'जायस' नामक ग्राम (अवध) में जन्म (1493 ई०) लेने के कारण जायसी कहलाये। इन्होने **पद्मावत**, **अखरावट** और **आखिरी कलाम** नामक काव्य ग्रंथों की रचना की। जायसी ने कल्पना के साथ ऐतिहासिक तथ्यों का समावेश किया है। **पद्मावत** में सूफी दर्शन की झलक है। इनकी भाषा अवधी है। भाषा शैली में स्वाभाविकता है और इसमें[3] कहावतों और मुहावरों का प्रयोग हुआ है।

उसमान

ये सूफी संत (चिश्तिया शाखा) थे और जहांगीर के समकालिक थे। इन्होंने **चित्रावली** नामक प्रेमकाव्य की रचना की जिससे सुजानकुमार और चित्रावली की प्रेम गाथा का वर्णन है। इसकी भी भाषा अवधी है। उक्त कृति में पैगंबर साहब, खलीफाओं बादशाह जहांगीर (जो उस समय राज्य कर रहे थे) और कुछ सूफियों की प्रशंसा की है।

सगुण शाखा

राम भक्ति धारा

स्वामी रामनंद ने सर्वप्रथम रामभक्ति का प्रचार किया, किंतु गोस्वामी

---

1. बाहर वह भीतर वह होई। घर बाहर को रहै न जोई॥
   विधि कर चरित न जानै आनू। जो सिरजा सो जाहि निआनू॥
2. "देखत ही पहिचानेउ तोही। एक रूप जेहि छंदन्यो मोही॥
   एही रूप बुत-बुत अहै छपाना। एही रूप रब सृष्टि समाना॥
   एही रूप सकती और सीऊ। एही रूप त्रिभुवन का जीऊ॥
   एही रूप प्रगटे बहु भेसा। एही रूप जग रंक नरेसा॥
3. "तरिवर झरहि, झरहि बन ढाखा।
   भई ओनंत फूलि फरि साखा॥
   बौरे आम करै अब लागे।
   अबहूं आव घर कंत सभागे॥"

तुलसीदास ने उसका सर्वाधिक प्रचार किया। आचार्य केशवदास ने रामचंद्रिका लिख कर राम भक्ति पर बल दिया किंतु वे भक्त न थे, जब कि तुलसीदास भक्त, उपासक और राम भक्ति के प्रसारक थे।

गोस्वामी तुलसीदास

तुलसीदास राम साहित्य के सम्राट् हैं। उन्होंने राम के चरित्र का आधार लेकर मानव जीवन को व्यापक और सपूर्ण समीक्षा की है। इसी के साथ उन्होंने लोक शिक्षा को ध्यान में रखकर मानव जीवन की विश्वजनीन आदर्शों की स्थापना की है।

तुलसीदास ने बारह ग्रंथों की रचना की है।[1] जिनमें रामचरित मानस सर्वाधिक लोकप्रिय है। 'मानस' मे उनका जीवन दर्शन विस्तृत व्यापक और परिमार्जित है। 'मानस' को भाषा, भाव, भक्ति, धर्म और समाज आदि सभी दृष्टि से एक श्रेष्ठ कृति माना गया है। मानस की रचना करके तुलसीदास ने अवधी को सुसस्कृत और मधुर बना दिया है। उन्होंने ब्रजभाषा, भोजपुरी, अरबी, फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया है। सरलता, स्वाभाविकता उनकी शैली की विशेषता है। जनसाधारण के लिए वह बोधगम्य है। चिरंतन सत्यो, शाश्वत समस्याओ का ऐसा उद्घाटन और समाधान भारतीय सस्कृति के ज्वाजल्यमान प्रसगो का सन्निधान एक साथ हिंदी भाषा के दूसरे ग्रंथ मे अप्राप्त है।

केशवदास

केशवदास का जन्म 1515 ई० में सनाढ्य ब्राह्मण कुल मे हुआ था। ओरछा नरेश महाराजा राम सिंह के अनुज इंद्रजीत सिंह केशव के आश्रयदाता थे। वे तुलसीदास के समकालिक थे। अनुश्रुति है कि तुलसी से रुष्ट होकर ही उन्होंने रामचंद्रिका नामक प्रसिद्ध ग्रथ की रचना एक ही रात में कर डाली थी। किंतु यह बात सत्य से दूर है क्योंकि इतनी बडी और पाडित्यपूर्ण रचना की प्रतिलिपि भी एक रात में नहीं की जा सकती। रामचंद्रिका राम भक्ति का एक अनूठा काव्य ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त अन्य ग्रंथ भी लिखे।[2] केशव ने सस्कृत काव्य शैली का अनुसरण करके आलकारिक शैली का प्रयोग किया। केशव ने ब्रज भाषा का प्रयोग किया है किंतु कहीं-कहीं बुन्देलखंडी के शब्द भी

---

1 राम चरित मानस, विनयपत्रिका, गीतावली, दोहावली, कवितावली, रामललानहछू, जानकीमंगल, रामाज्ञाप्रश्न, वैराग्यसंदीपिनी, पार्वतीमंगल, कृष्ण-गीतावली, बरवै रामायण।

2 कविप्रिया, रसिकप्रिया, वीरसिंहदेव चरित विज्ञानगीत, रतनबावनी, जहांगीर जसचंद्रिका आदि।

आ गये हैं। उनकी भाषा क्लिष्ट है इसीलिए उनको 'कठिन काव्य का प्रेत' कहा गया है।"

कृष्ण भक्ति धारा

वल्लभाचार्य कृष्ण भक्ति धारा के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनकी शिष्य परंपरा में महाकवि सूरदास का नाम अग्रगण्य है। सूर के अतिरिक्त इस धारा के कवियों में नंददास, कृष्णदास, कुंभनदास, परमानंददास और चतुर्भुजदास आदि कवियों के अतिरिक्त, मीराबाई और रसखान आदि कवि परिगणित होते हैं।

सूरदास

सूरदास के जन्म के संबंध में अनेक प्रवाद हैं। इनका जन्म 1483 ई० में हुआ था। इनके जन्मांध होने के विषय मे भी मतभेद है। वल्लभाचार्य की प्रेरणा के फलस्वरूप इन्होने श्रीमद्भागवत के आधार पर कृष्ण चरित् को अपनी कृतियों का आधार बनाया। सूरदास हिंदी साहित्य के महाकवि हैं। उन्होंने भाव और भाषा के दृष्टिकोण से साहित्य को सुसज्जित किया, साथ ही धर्म के क्षेत्र में व्रजभाषा के सहारे कृष्ण काव्य की एक विशिष्ट परंपरा को जन्म दिया।

सूरदास ने शृंगार रस के वियोग-पक्ष पर बल दिया और उसी भावोन्माद में गोपियों का विरह वर्णन साहित्य में उत्कृष्टता को पहुँचा दिया। संयोग शृंगार में भी उन्होंने हृदय के भावो को मादकता से भर दिया। कृष्ण और राधा का सहारा लेकर उन्होंने शृंगार रस पर अपनी लेखनी उठायी। सूर ने माधुर्य भाव से प्रेरित होकर कृष्ण के साथ राधा को भी सम्मिलित कर कृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया है।[1]

सूर की काव्य भाषा व्रज है। उन्होंने सस्कृत मिश्रित साहित्यिक व्रजभाषा का प्रयोग किया है। सूर की शब्द योजना ने व्रज को अधिक मधुर और परिष्कृत बना दिया है। बाल मनोविज्ञान के पंडित सूरदास ने वात्सल्य और विप्रलंभ शृंगार पर अपना एकाधिकार दिखाया।

मीराबाई

मीराबाई का जन्म 1499 ई० में हुआ था। मीरा का विवाह उदयपुर के राणासांगा के ज्येष्ठपुत्र युवराज भोजराज से हुआ था। किंतु विवाह के कुछ वर्ष बाद ही वह विधवा हो गयीं। वे कृष्ण-भक्त में आनंदित और विभोर होकर

---

1. खेलत हरि निकसे व्रज खोरी।
   कटि कछनी पीतांबर बांधे, हाथ लिए भौंरा, चक डोरी॥
   औचक ही देखी तहं राधा, नैन बिसाल भाल दिये रोरी॥
   सूर स्याम देखत ही रीझे, नैन-नैन मिलि परी ठगोरी॥

भक्तों के बीच नृत्य और गान किया करती थी अपने इष्टदेव कृष्ण को अपना प्रियतम मान कर उनकी भक्ति में लीन रहा करती थी।[1]

मीरा की भाषा राजस्थानी हिंदी है जो पश्चिमी हिंदी का एक रूप है। कुछ पद उन्होंने ब्रज भाषा में भी लिखे है। मीरा के चार ग्रंथ उपलब्ध है।[2]

रसखान

रसखान का जन्म दिल्ली में एक पठान राजवंश मे हुआ था। अनुश्रुति है कि कृष्ण का चित्र देखकर ही रसखान कृष्ण की ओर आकृष्ट हुए थे उन्होंने कृष्ण को अपना इष्ट माना। रसखान ने **प्रेमवाटिका सुजान रसखान** नामक काव्य ग्रंथ लिखे। इन्होने अपनी कृतियो में शुद्ध ब्रज भाषा का प्रयोग किया है। इसीलिए उनकी रचनाओ में सरलता मधुरता एव सुबोधता है। कही-कही फारसी के शब्दो का प्रयोग किया है रसखान ने कवित्त सवैया और दोहा का प्रयोग अपनी रचनाओ में किया है।

●

---

1 तुमरे कारण सब सुख छाड्या अब मोहि क्यों तरसावौ हो।
बिरह व्यथा लागी उर अंतर सो तुम आय बुझावौ हो॥

2 नरसी जी का मायरा गीत गोविंद टीका राग गोविंद, राग सोरठ के पद।